अंक 3

ISSN 0975-5217
वर्ष 2011

भैरवी

संगीत शोध पत्रिका

मिथिलांचल संगीत परिषद्
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय
कामेश्वरनगर, दरभंगा
(बिहार)

Scanned with OKEN Scanner

भैरवी

(संगीत शोध-पत्रिका)

(वर्ष 2011 अंक 3)

मिथिलांचल संगीत परिषद्

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वर नगर, दरभंगा 846 004

Scanned with OKEN Scanner

भैरवी (संगीत शोध-पत्रिका)

वर्ष-2011, अंक : 3

प्रधान सम्पादक

डॉ. पुष्पम नारायण

प्रकाशक : मिथिलांचल संगीत परिषद्

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वर नगर, दरभंगा 846 004
दूरभाष - 06272 248340
मो0 - 09430063265
ईमेल - npushpamji@gmail.com

मुख्य वितरक
शिवालीक प्रकाशन
27/16, शक्तिनगर, दिल्ली-110007
ईमेल - shivalikparakashan@yahoo.com

मूल्य :

इस अंक का मूल्य : 350/- रुपये

व्यक्तियों के लिए :

वार्षिक : 700/- रुपये / त्रैवार्षिक 2000/- रुपये

पंचवार्षिक 3200/- रुपये / आजीवन : 10000/- रुपये

संस्थाओं के लिए :

वार्षिक : 750/- रुपये / त्रैवार्षिक 2200/- रुपये

पंचवार्षिक 3700/- रुपये / आजीवन : 12000/- रुपये

(केवल मीनआर्डर / चेक / बैंक ड्राफ्ट से)

(दरभंगा से बाहर के चेक में 35 रुपये अधिक जोड़ें)

© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशित सामग्री के उपयोग हेतु लेखक, प्रकाशक की अनुमति आवश्यक है।
प्रकाशित रचनाओं के विचार से सम्पादक व प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं।
समस्त विवाद दरभंगा न्यायलाय के अन्तर्गत विचारणीय।

मुद्रक
विकास कंप्यूटर एंड प्रिंटर्स
1/10753, गली नं. 3 सुभाष पार्क,
नवीन शाहदरा, दिल्ली - 110032

Scanned with OKEN Scanner

प्रधान सम्पादक

डॉ. पुष्पम नारायण

विभागाध्यक्ष, स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल0ना0मि0 विश्वविद्यालय, दरभंगा

सम्पादक मंडल

प्रो. चमनलाल वर्मा

अवकाश प्राप्त विभागाध्यक्ष, संगीत विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला

प्रो. साहित्य कुमार नाहर

पूर्व विभागाध्यक्ष, संगीत एवं मंचकला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

डॉ. रवि कुमार पंडोले

प्रवक्ता, संगीत विभाग, राजकीय एम.एल.बी.जी. पी.जी. कॉलेज, भोपाल

डॉ. रामशंकर

प्रवक्ता, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

संतोष दत्तात्रेय राव परचूरे

एस.पी.एच. महिला कॉलेज, मालेगांव कैम्प, महाराष्ट्र

डॉ. अश्विनी कुमार सिंह

प्रवक्ता, संगीत एवं मंचकला विभाग, एम.एस. विश्वविद्यालय, बड़ौदा, गुजरात

डॉ. लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या'

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, दरभंगा

डॉ. वेद प्रकाश

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, दरभंगा

शिवनारायण महतो

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, दरभंगा

Scanned with OKEN Scanner

Scanned with OKEN Scanner

ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय

कामेश्वरनगर, दरभंगा-846 008 (बिहार)

डॉ. समरेन्द्र प्रताप सिंह
कुलपति

दूरभाष सं. : 06272-222463 (Off.)
222598 (Res.)
मो. : 9431219347
ई-मेल : velnmu@gmail.com

पत्रांक VCO/151/10 दिनांक 27.10.10

सेवा में

डॉ. पुष्पम नारायण
विभागाध्यक्ष,
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग,
ल.ना.मि. विश्वविद्यालय, दरभंगा।

महोदया,

शुभकामना संदेश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग द्वारा भैरवी नामक संगीत-शोध-पत्रिका के प्रकाशन की कड़ी में पत्रिका का तीसरा अंक प्रकाशित होने जा रहा है। मेरे लिए यह अत्यंत आह्लादक विषय होगा कि विभाग द्वारा पत्रिका-प्रकाशन के इस क्रम को स्थायी रूप से कायम रखा जाए। मुझे पूर्ण विश्वास है कि संगीत एवं नाट्यशास्त्र के छात्रों के लिए प्रकाशित अंक अधिक उपादेय सिद्ध होगा। मैं शोध-पत्रिका के सफल प्रकाशन की कामना करता हूं तथा संपादक मंडल के सभी सदस्यों को धन्यवाद देता हूं।

पत्रिका के दीर्घायु होने हेतु अशेष शुभकामना के साथ।

भवदीय

(समरेन्द्र प्रताप सिंह)
कुलपति

Scanned with OKEN Scanner

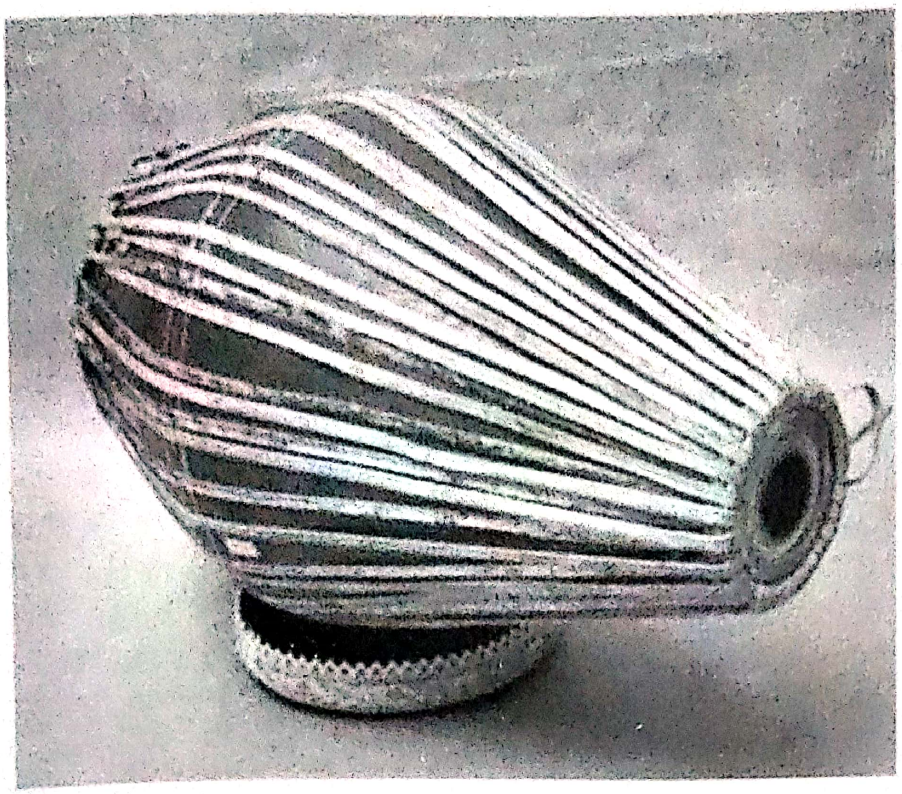

खोल

मोहन वीणा

Scanned with OKEN Scanner

राग पंचम - ध्यान चित्र

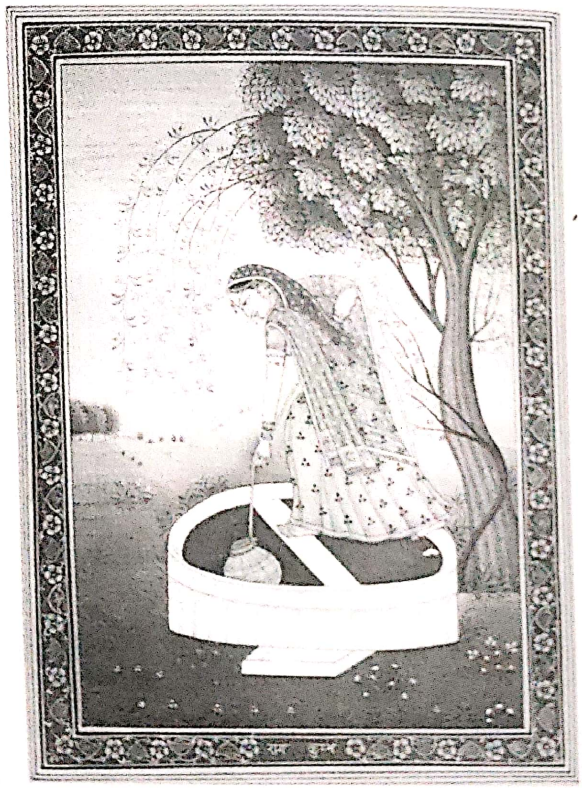

राग कुंभ - ध्यान चित्र

Scanned with OKEN Scanner

संपादक की कलम से ...

ललित कलाएं मानव के साथ जुड़ी हैं। मानव की कलात्मक अभिव्यक्ति हैं ये कलाएं। मानव ने अपने सुख-दुख, आह्लाद-प्रसन्नता, विपन्नता-सम्पन्नता, दैन्य और वह स व कुछ जो उसके दैनन्दिन जीवन में चलता है, उस सबके अभिलेख सुरक्षित रखने, एक निरंतर संवाद बनाये रखने, पीढ़ी दर पीढ़ी अपने अनुभवों को पहुंचाने के लिए ही कलाएं सृजित की है। संगीत कला का मानव जीवन में गहरा संबंध है। शिशु की वाणी में शब्द से पहले स्वर का आविर्भाव होता है। मां की लोरी उसे एक ओर स्वर-सौन्दर्य के प्रति भावुक बना देती है तो दूसरी ओर थपकी से उसे लय-सौंदर्य का परिचय भी दे देती है।

कला की रचना ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा के आधार पर होती है। ईश्वर की महती सर्जना शक्ति मनुष्य में परिमित है, किंतु है अवश्य। इसी को 'नवनवोन्मेषशालिनी' प्रतिभा कहा गया है। संगीत कला में कलाकार की प्रतिभा के साथ-साथ गायक को मधुर कंठ भी ईश्वरीय देन ही होता है। कलाओं की साधना का प्रमुख लक्ष्य आनंद की प्राप्ति करना ही है। आनंद का माध्यम जितना सूक्ष्म होगा, आनंद का स्तर उतना ही उंचा होगा। ललित कलाओं के अंतर्गत मुख्यतः वास्तु-कला, मूर्तिकला, चित्र-कला, काव्य-कला और संगीत-कलाएं आती है। ललित-कलाएं मनुष्य के सौन्दर्य बोध की विकसित अवस्थाओं की परिचायक है। भावना की अभिव्यक्ति के सूक्ष्म तत्वों से युक्त होने के कारण ही इन्हें ललित कलाओं की श्रेणी में रखा गया है और ये अन्य कलाओं की अपेक्षा उत्कृष्ट समझी जाती है। इन कलाओं में भी जिस कला के उपादान सर्वाधिक सूक्ष्म होंगे, उसे हम सर्वोत्कृष्ट मान सकते हैं। इस दृष्टिकोण से वास्तु-कला सबसे निम्न स्तर की ठहरती है क्योंकि उसके उपकरण ईंट, रोड़ी, चूना आदि सर्वाधिक स्थूल और मूर्त है, अतः कलाकार की कल्पना की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं कर पाती। वास्तु-कला के बाद मूर्ति व चित्र-कला आती है। उनके उपकरण पत्थर, छेनी, हथौड़ा और रंग-कूंची आदि अपेक्षाकृत कम मूर्त हैं। फिर भी अधिक सूक्ष्म नहीं है। काव्य के उपकरण 'शब्द' हैं, जिनके माध्यम से कवि अपनी भावाभिव्यक्ति करता है। परंतु संगीत-कला में श्ब्दों का सहारा भी छोड़ दिया जाता है। वहां केवल ध्वनि-संयोजन के आधार पर रचना की जाती है। अतः संगीत-कला का उपकरण 'नाद' सर्वाधिक सूक्ष्म है। इसीलिए संगीत से प्राप्त आनंद उच्चस्तरीय आनंद होता है।

काव्य और संगीत श्रव्य कलाएं हैं। काव्य में शब्दों को समझने के लिए मस्तिष्क भी सक्रिय रहता है, लेकिन विशुद्ध संगीत में मधुर स्वर-सन्निवेश कर्णेंद्रिय के माध्यम से हृदय को आनंदित करते हैं। इसीलिए संगीत-कला का प्रभाव वनस्पति और मानवेत्तर प्राणियों पर भी होता है, जबकि अन्य कलाओं का प्रभाव मनुष्य मात्र तक ही सीमित है। अतः सौन्दर्यानुभूति की दृष्टि से संगीत-कला से प्राप्त आनंद उच्चश्रेणीय और व्यापकक्षेत्रीय है।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से देखें, तो भी संगीत-कला अन्य ललित कलाओं से आगे है। आध्यात्मिकता का मूल एकाग्रता में है, चिंतन, मनन व ध्यान में है। तन्मय होने की स्थिति में प्रायः नेत्र बंद कर लिए जाते हैं, अतः दृश्य कलाओं का उल्लेख हम यहां नहीं कर रहे हैं। 'एकाग्रता' का एक अन्य पक्ष है : मानसिक निष्क्रियता। काव्य-कला में शब्दार्थ समझने के लिए लगातार मस्तिष्क सक्रिय रहता है।

Scanned with OKEN Scanner

संगीत-कला में मानसिक सक्रियता आवश्यक नहीं है यानी संगीत की व्याकरण को समझना आवश्यक नहीं है इसीलिए एक नवजात शिशु भी संगीत से आनंदित हो जाता है और मानवेतर प्राणी भी।

एकाग्रता और गहन अवधान ही आध्यात्मिक उत्थान के मार्ग समझे जाते है, तभी तो हमारे ऋषि-मुनियों ने 'ध्यान' का मार्ग अपनाया। भगवान बुद्ध ने भी 'ध्यान' के द्वारा 'ज्ञान' प्राप्त किया। इस ध्यानावस्था तक पहुंचने में समय लगता है, निरंतर अभ्यास की आवश्यकता होती है। सगुण ब्रह्म के उपासक ईश्वर की रूपाकार में अपना ध्यान केन्द्रित करने का अभ्यास करते हैं और निराकार ब्रह्म के उपासक उसके गुणों में। फिर धीरे-धीरे महाशून्य (चरम बिंदू परम-ज्योति) की ओर बढ़ते हैं, जहां प्रकाश है, विशुद्ध आनंद है, ज्ञान और प्रेम है।

संगीत कला का प्रारंभ ही एकाग्रता से होता है। स्वरित का उच्चारण और उस पर ठहराव ही आध्यात्मिक साधना का मार्ग प्रशस्त कर देता है। स्वर लगाव में एकाग्रता स्वतः ही निहित है। इसके अतिरिक्त सूक्ष्म-सन्निवेशों के श्रवण के लिए सब ओर से ध्यान हटाकर उन्हीं में केंद्रित करने की अपेक्षा होती है, तभी उनकी रंजकता की प्रतीति होती है। इस प्रकार संगीत-कला में गायक को एकाग्रचित होना आवश्यक है। संगीत-श्रवण के साथ-साथ श्रोता का भी ध्यान और एकाग्रता का अभ्यास होता जाता है। अतः आध्यात्मिक उत्थान के लिए संगीत एक सशक्त माध्यम है।

जिस प्रकार ईश्वर के ध्यान में मग्न होने के साथ आनंद की अनुभूति घनी होती जाती है, उसी प्रकार संगीत-श्रवण में भी ध्यानमग्न होने के साथ-साथ आनंद की अनुभूति घनी होती जाती है। यह देखा गया है कि आध्यात्मिक क्षेत्र के साधक विरले ही होते हैं। संगीत(गायन) में निःशब्द संगीत के उपासक भी कम ही होते हैं। अतः व्यापक जन-समुदाय को आकर्षित व आनंदित करने के लिए संगीत-गायन में काव्य का समावेश कर लिया जाता है। अभिप्राय यह है कि विशुद्ध संगीत सूक्ष्मता को कुछ स्थूलता प्रदान की जाती है, जिससे वह सबके लिए सहज रूप में ग्राह्य बन सके।

अंत में कहना चाहूंगी कि 'भैरवी' संगीत शोध पत्रिका का तृतीय अंक आप विद्वानों को सौंपते हुए हर्ष भी हो रहा है और भय भी लग रहा है। हर्ष इस बात का है कि देश के जाने-माने संगीतज्ञ, संगीत शास्त्री एवं उत्कृष्ट शोध छात्रों के शोध परक आलेख हम आपको दे पा रहे है, खुशी इस बात की है कि सभी संवेदनशील रचनाकारों का अपूर्व सहयोग हमें मिल रहा है। और भय? भय तो मानवीय कमजोरी है, कई-कई बार अपनी साधना से झंकृत कर देनेवाले फनकार भी यह दावा नहीं कर सकते कि वे हमेशा निश्चित होकर मंच पर प्रस्तुत होते हैं। एक तनाव, एक अनाम भय हर प्रस्तुति के पूर्व होना, संवेदनशीलता का या यूं कहें कि शायद दायित्व बोध का परिचायक है। इसे यूं भी कह सकते हैं कि यह तनाव, यह भय ही प्रस्तुति को और अधिक सुन्दर और सफल बनाने में मददगार होता है। इसे ऊर्जा प्रदान करने के लिए आपकी प्रतिक्रिया की आवश्यकता है।

! नूतन वर्ष अभिनन्दन!

पुष्पम नारायण

—डॉ. पुष्पम नारायण
विभागाध्यक्ष, स्नातकोत्तर संगीत
एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वर नगर, दरभंगा 846 004
दूरभाष - 06272 248340
मो0 - 09430063265
ईमेल - npushpamji@gmail.com

Scanned with OKEN Scanner

अनुक्रम

	संपादक की कलम से ...		9
1.	भारतीय संगीत में स्वर,राग,रचना (बंदिश) एवं रस	*डॉ॰ रामशंकर*	13
2.	संगीत में 'काकु' का स्थान व उपयोगिता	*कु. रुचि मिश्रा*	21
3.	संगीत शास्त्र और प्रयोगपक्ष का अन्तःसम्बन्ध	*शालिनी सक्सेना*	24
4.	संगीत में बंदिश का महत्व	*डॉ॰ निशा झा*	26
5.	संगीत जगत में जाति राग का स्थान	*मधुलिका कुमारी*	28
6.	मनुष्यों में स्वरोत्पत्ति के कारक	*जया शाही*	30
7.	"सामगान के सन्दर्भ में - ऋतु एवं समय-सिद्धान्त की अवधारणा"	*ऋचा शर्मा*	33
8.	"स्वरलिपि पद्धतियों के संदर्भ में वाग्गेयकार पं॰विष्णुदिगम्बर पलुस्कर एवं विष्णुनारायण भातखण्डे का संगीत जगत को योगदान"	*नीरज कुमार मिश्र*	35
9.	उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत में प्रयुक्त तालिपि पद्धतियां : एक समीक्षात्मक अध्ययन	*विवेक कुमार जैन*	39
10.	वैदिक कालीन स्वरलिपि पद्धति	*डॉ॰ शोभित कुमार नाहर*	43
11.	परंपरा, प्रतिभा एवं नवीन सृष्टि- एक सांगीतिक समीक्षा	*कु॰ पूनम श्रीनाथन*	45
12.	जैन संस्कृति : सांगीतिक अवदान	*विशाल जैन*	47
13.	"मानसिक तनाव निवारण हेतु संगीत एवम् अन्य ललित कलायें"	*डॉ॰ ब्रजरानी शर्मा*	51
14.	"सामगान के सन्दर्भ में - ऋतु एवं समय-सिद्धान्त की अवधारणा"	*ऋचा शर्मा*	54
15.	जीवन और संगीत	*डॉ. माधुरी सिंह*	56
16.	प्राचीन मानव एवं संगीत का प्रादुर्भाव	*डॉ. सरोज द्विवेदी*	58
17.	भारतीय संगीत संस्कृति एवं दर्शन का सौन्दर्यशास्त्रीय विवेचन	*डॉ॰ अश्विनी कुमार सिंह*	60
18.	संगीत - एक आवश्यकता	*सरस्वती कुमारी*	67
19.	मोक्षदाता है : भारतीय संगीत	*राकेश रंजन*	69
20.	नृत्यकला का मूर्तिकला, चित्रकला, एवं मन्दिरों से सहसम्बन्ध नृत्य अंग भंगिमाओं के परिप्रेक्ष्य में	*संतोष कुमार*	74
21.	बैदिक युगीन भारतीय संगीत वाद्यों का विवेचनात्मक अध्ययन	*डॉ॰ रेनू वर्मा*	78
22.	तबला वाद्य के इतिहास में एक नया अध्याय	*डॉ. गौरांग भावसार*	84
23.	मृदंग, पखावज और मृदंगम् के उत्पत्ति एवम् विकास पर एक ऐतिहासिक दृष्टि	*अशोक कुमार*	88
24.	उप-शास्त्रीय संगीत का लोकप्रिय प्रकार- ठुमरी	*प्रो॰ शारदा वेलेकर*	90
25.	भारतीय चलचित्र में पार्श्व संगीत (एक अवलोकन)	*डॉ॰ शिल्पी नाहर*	92
26.	संगीत में सारंगी वाद्य की उपयोगिता	*निहारिका*	95
17.	बीसवीं शताब्दी में संगीत में आये परिवर्तन एवं उसके सुदूरगामी प्रभाव "सांगीतिक पत्रिकाएं एवं स्मारिकाएं -मध्यप्रदेश के संदर्भ में"	*डॉ॰ रवि कुमार पंडोले*	97

Scanned with OKEN Scanner

18.	गुरू शिष्य परम्परा एवं वर्तमान संगीत शिक्षण	डॉ. रोजी श्रीवास्तव	102
19.	संगीत शिक्षा द्वारा मूल्य शिक्षा	रजनीश विश्वकर्मा	105
20.	संगीत में गुरूशिष्य परम्परा	डॉ. रवि पंडोले, डॉ. बाबूलाल सिंह	107
21.	संस्थागत संगीत शिक्षा की सार्थकता : एक आलोचनात्मक अध्ययन	रंजना गिरि	110
22.	समायोजन एवं संगीत : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन	दीनानाथ मिश्र	114
23.	काशी की नाट्य परंपरा	महेन्द्र मिश्र	116
24.	पं. सीताराम हरि दाण्डेकरः व्यक्तित्व एवं कृतित्व	डॉ. डोली	119
25.	मैथिली लोकनाट्य 'नाच' का उद्भव : एक अवलोकन	चन्द्रशेखर प्रसाद	122
26.	संगीत और चित्र का अद्भुत सम्मिश्रण - कोहबर चित्र	डॉ. रानी कुमारी	127
27.	तमसो माँ ज्योर्तिगमय	भूपेन्द्र कुमार	130
28.	लोकगीतों में संस्कार गीतों की महत्ता	आरती मिश्रा	131
29.	लोक संस्कृति, लोक संगीत व बंगला लोक संगीत भावाई	प्रो. लिपिका दास गुप्ता	134
30.	मधुबनी संगीत घराना	डॉ. शिव नारायण मिश्र	138
31.	मिर्जापुर की अविच्छिन्न लोकगीत धारा : कजली	डॉ. ज्ञानेश चन्द्र पाण्डेय	140
32.	व्यवसाय गीतों के संरक्षण एवं संवर्द्धन के उपाय	लीली कुमारी	145
33.	मिथिला में संगीत की परंपरा	सेवा सिन्हा	148
34.	लय और भाव के आपसी सम्बन्ध	कुमारी वीभा	151
35.	Dialogue of Word & SWAR	*Pd. Ishwar Chandra*	153
36.	Performing Arts as Medium to bring Environmental Awareness	*Ms. Ami Upadhyay*	156
37.	Nayak Baiju; Animortal Singer of Dhrupad Gayaki	*Bilambita Banisudha*	164
38.	Role of Manager in Music Organization	*Dr. Kailash Kumar Choudhary*	165
39.	Violin in our Country (Basically Indian Vitat Vadhya)	*Dr. Rakesh J. Mahisuri*	169
40.	Cultivating Creativity	*Kashyap Parikh*	171
41.	The Importance of Music as a Theraphy for the Present Life Style of Man Kind	*Dr.K.Sashikumar*	174
42.	Devadasi in Bharatanatyam	*Dr. Ami Pandya*	177
43.	Impact of Globalization on Indian Notation System	*Ms.Shraddha Gupta*	180
44.	Music in Each Atom	*Ami Modi*	183
45.	Thai Lamnam singing	*Miss.Naphatsanan Junnaket*	186

Scanned with OKEN Scanner

भारतीय संगीत में स्वर, राग, रचना (बंदिश) एवं रस

डॉ. रामशंकर

संगीत जगत में गायन,वादन तथा नृत्य की जितनी भी शैलियां है सभी में बंदिश रचना एक प्रमुख तत्व है। वाद्यों एवं नृत्य के आधार भूत गतों एवं बोलों में निरर्थक शब्दों का ही प्रयोग होता है। इस हेतु तन्त्र वाद्य की बंदिशों में स्वर,लय,ताल और अवनद्य वाद्य तथा नृत्य के बोलों में लय ताल की प्रमुख भूमिका होती है।

इसके विपरीत गायन संगीत की विभिन्न शैलियों में तथा ध्रुवपद, ख्याल, ठुमरी, दादरा, टप्पा, लोक गीत, सुगम संगीत इत्यादि इन सभी विधाओं में स्वर , लय , ताल के अतिरिक्त सार्थक काव्य का प्रयोग बहुत ही महत्वपूर्ण है।

ऐसे तो संगीत की मूल भाषा स्वर ही है। स्वर के स्थूल एवं सूक्ष्म स्वरूप को समझने वाला कलाकार भिन्न-भिन्न रागों के अन्तर्निहित रसों को अपने सुमधुर कण्ठ एवं तन्त्र वाद्य के मधुर आलापों के द्वारा रागानुकूल रस सृजन करने में पूर्ण सक्षम होते है।यथा- राग मेघ के स्वर स्वरूप के लगाव एवं उच्चारण भेद को पूर्ण रूप से समझने वाला गायक अथवा वादक केवल अपने व्यवस्थित आलापों के माध्यम से ही राग मेघ में निहित वीर रस का सृजन कर देगा इसी भांति राग जोगिया के स्वरूप में बिना शब्द व काव्य युक्त रचना प्रयोग के ही मार्मिक श्रोता को करूण रस का भान व दर्शन होने लगेगा। इसी प्रकार यदि गायक काकु भेद व स्वर को फैलाने तथा समेटने के साथ जवड़े (गमक)के स्वर उच्चारण की क्रिया को जानता है अर्थात कंठ संस्कार का ज्ञान है तो राग मारवा ऐसे रागों से रौद्र एवं भयानक रस भी उत्पन्न कर देगा। केवल श्रृंगार रस जिसे विद्वान जन ''रसराज'' की उपाधि दिए हुए है जो सत्य से परे नही है बिना श्रृंगार, बिना श्रृंगार युक्त कविता की रचना के प्रयोग एवं तद्नुरूप कहने के बिना श्रृंगार रस का दर्शन स्पष्ट नही हो पाता अर्थात यहाँ रचना (बंदिश) की आवश्यकता का भान होने लगता है।

यद्यपि संगीत मार्तण्ड पं. ओमकार नाथ ठाकुर जी का मानना था कि ''मेरी अपनी अनुभूति से मैं जानता हूँ कि प्रत्येक स्वर अपने संयोग विधान उच्चार व सप्तक तथा गमक-भेद के कारण ऐसे-ऐसे रुप धारण करता है कि मानो हम स्वप्न सृष्टि में विचरण कर रहे हों रस सृष्टि में किल्लोल कर रहे हों, जिन-जिन भावों को जिस दृष्टि से देखेंगे-सुनेंगे-परखेंगे वैसे-वैसे नित नूतन दर्शन होते ही रहते है।''

उपरोक्त कथन की व्याख्या **गुरुवर पं. रामाश्रय झा ''रामरंग'' जी के अनुसार**-*आदरणीय पं.ओमकार नाथ ठाकुर जी की स्वर के सम्बन्ध में सत्यता को वही जान सकता है जिसने नाद ब्रह्म की उपासना अर्थात स्वर साधना की है। पण्डित जी ने जो प्रत्येक स्वर से रस सृजन की जो रहस्य युक्त बात कही है यह सहज में साधारण रूप से समझ में नही आती क्योंकि केवल स्वर से रस या सृष्टि संभव नही है। पं.जी के उपरोक्त कथन में प्रथम व द्वितीय पंक्ति में कुछ शब्द अत्यन्त मार्मिक है जिसे रेखांकित किया गया है अर्थात-संयोग-विधान-उच्चारण सप्तक गमक भेद। इस संबध में मेरा व्यक्तिगत अनुभव है कि कोई भी स्वर अकेले पूर्ण स्वरूप में प्रतिष्ठित नही होता है न किसी प्रकार हो ही सकता है स्वर*

सहायक आचार्य, संगीत एवं मंच कला संकाय, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस

Scanned with OKEN Scanner

साधन की क्रिया को समझकर जिस साधक ने स्वर साधना की है उसे स्वर का आंतरिक दर्शन होने लगता है किसी रस के सृजन में भावना प्रधान है अर्थात् जिस भाव को लेकर स्वर का उच्चारण किया जायेगा उसी भावानुकूल श्रुतियां सहायक हो जायेंगी इस कारण ही पं. जी ने एक स्वर से रस उत्पन्न करने के संबध में "संयोग" व "विधान" शब्द का प्रयोग किया है स्पष्ट है कि स्वर का संयोग तो श्रुतियों से होता है उदाहरण के लिए कोमल गांधार को स्वाभाविक कण्ठ से सहज रूप से कहने पर शांत रस तथा आवाज को थोडा समेट कर कहने से करूण रस तथा आवाज को फैलाकर कहने से रौद्र रस एवं आन्दोलित कर्कष आवाज कहने पर वीभत्स रस इत्यादि का दर्शन होगा परन्तु इन प्रत्येक रसोत्पत्ति का कारण तो मुख्य स्वर के आगे-पीछे का स्वर उच्चारण एवं विभिन्न श्रुतियां ही अकेले नही हैं इस कारण पं. जी ने एक स्वर से रस उत्पन्न करने के संबध में सांगीतिक भाषा-उच्चारण, सप्तक, गमक, भेद इन रहस्यमय तथ्यों का प्रयोग नाद ब्रह्म की अपनी श्रेष्ट साधना से प्राप्त अपने अद्वितीय ज्ञान का परिचय दिया है जो कि चिन्तन मनन करने योग्य है।"

बंदिश

राग रूप इस अमूल्य सम्पत्ति को स्थायीत्व एवं संजोकर रखने के लिए बंदिश (रचना) ही एक ऐसा साधन है जिसके सहारे राग स्वरूप दीर्घजीवी होता है। यदि राग स्वरूप बनाने के बाद राग रचनाकार रागानुकूल एक बंदिश की रचना नही कर देता। तो कुछ दिन के उपरान्त ही वह राग स्वरूप विस्मृत होने लगेगा इस कारण यह परम्परा है कि राग रचना करने के उपरान्त कलाकार उस राग की बंदिश अवश्य बनाता है हां बंदिश बनाते समय इतना ध्यान अवश्य रखा जाता है कि राग का सम्पूर्ण स्वरूप अर्थात वादी, संवादी, न्यास, पूर्वांग, उत्तरांग, वर्जित स्वर इत्यादि सभी नियमों का बंदिश में समावेश हो जाय। एक बार बंदिश गाने से ही राग स्वरूप निखर कर प्रत्यक्ष हो जाय। इस तरह की बंदिश लक्षणगीत, चौताल, धमार, ख्याल, इन सभी गायन शैली की हो सकती है। उदाहरण के लिए गूर्जरी तोड़ी में एक लक्षण गीत देखिए की बंदिश रूप धागे में राग लक्षण रूपी माला के मोती को किस तरह पिरोया गया है।

राग-गूर्जरीतोड़ी लक्षणगीत-झपताल

स्थाई- पंचम वरज किए तोड़ी में जबहि,
उपजै राग गूर्जरी,पाडव बनाइए।
अंतरा- रे, ग, ध कोमल करत,
तीवर म, नि, ध, ग प्रमुख,"रामरंग"
रे बहुत्व गुनिजन विचारिये।

सर्वप्रथम तो बंदिश की रचना इस प्रकार की गई है कि केवल कविता पढ़ने मात्र से ही सम्पूर्ण राग लक्षण स्पष्ट हो जाता है, उपरोक्त कविता को ध्यान से देखने पर केवल एक लक्षण का अर्थात राग किस समय गाया जाए इसका स्पष्ट उल्लेख नही है इसका कारण यह है कि पहली पक्ति में जो यह कहा गया है कि "पंचम वरज किये तोड़ी में जबही उपजे राग गूर्जरी"जब तोड़ी में केवल पंचम वर्जित करने मात्र से ही गूर्जरी तोड़ी के मूल स्वरूप का आवाहन हो जाता है अन्य सभी लक्षण तोड़ी के है तो स्पष्ट है कि जो गायन समय तोड़ी का होगा वही गूर्जरी तोड़ी का भी होगा इस लिए गायन समय का उल्लेख नही किया गया।

अब इसी बंदिश की स्वरलिपि को देखिए कि बंदिश में राग स्वरूप किस तरह संजोया गया है-

राग-गूर्जरीतोड़ी झपताल

स्थाई- पंचम वरज किये तोड़ी में जबहिं,
उपजे राग गुजरि षाडव बनाइये।

अंतरा- रे ग ध कोमल करत,
तीवर म नि ध ग प्रमुख 'रामरंग'
रे बहुत्व गुनिजन बिचारिये।

स्थाई

ध	मं	निध	सां	सां	सां	सां	(सा)	ध	-
पं	ऽ	च	म	ब	र	ज	कि	ये	ऽ
मं	निध	नि	ध	मं	रे	ग	रे	सा	सा
तो	ऽ	ऽ	री	ऽ	में	ऽ	ज	ब	हिं

सा ⁻ध सा - सा रे ग रे सा सा
उ प जे ऽ रा ऽ ग गु ज रि

सा रे ग म ध धनि सांनि धंम गरे सा-
श्रा ऽ ड व ब नाऽ ऽऽ इऽ येऽ ऽऽ
× 2
0 3

अंतरा

रे ग ध ध - मं मं नि ध ध
रे ग ध को ऽ म ल क र त
× 2 0 3

सां नि ध मं नि ध ग मं ध ध
ती व र म नि ध ग प्र मु ख
× 2 0 3

रे ग रे सा सा रे ग म ध ध
रा ऽ म रं ग रे ऽ ब हु त्व
× 2 0 3

ग मं ध नि सा धनि सांनि धंम गरे सा-
गु नि ज न वि चाऽ ऽऽ रिऽ येऽ ऽऽ
× 2
0 3

लक्षणगीत के माध्यम से राग रूप एवं राग लक्षण दर्शाने का एक उदाहरण और प्रस्तुत है।

राग-षट् लक्षणगीत-झपताल

स्थाई- एहो गुनि नमन करुं जिन रचे राग ऐसे अटपट बिकट लगे खट राग हूँ जुड़े।

अंतरा-(1) कान्ह, सारंग, सोहे, भैरव आसावरी मोहे, भैरवी खमाज कोउ कहत और हूँ अड़े।

(2) धनि, ग, रे युग, थाट नट भैरवी बने "रामरंग" नृप गाइये दिन चढ़े।।

उपरोक्त खट् राग के इस लक्षण गीत की बंदिश को यदि ध्यान से देखेंगे तो खट् राग के क्लिष्ट स्वरूप एवं सभी नियमों का दर्शन होगा जो बंदिश के माध्यम से बड़ी सावधानी से उल्लखित किया गया है।

अब बंदिश के क्रियात्मक स्वरूप की स्वरलिपि देखिए जिसमें खट् राग स्वरूप एवं नियमों को बंदिश के नियमानुसार बंदिश में पिरोया गया है जिसमें राग रूप का प्रत्यक्ष दर्शन होने लगता है।

स्थाई

र नि सा ⁿग ⁿग म प ⁿम प प
ए ऽ हो गु नि न म न क रूँ

⁻ध ⁻ध ⁻ध ⁻ध सां सां ⁻ध ⁻ध प प
जि न र चे ऽ रा ऽ ग ऐ से
नि नि

ⁿरे म प नि प ⁻ध ⁻ध प म ग
अ ट प ट वि क ट ल ग ऽ
ग म ⁻ध - प म ग (म) रे सा
ख ट रा ऽ ग हूँ ऽ जु ड़े ऽ
× 2 0 3

अंतरा (1)

ग म रे सा रे ⁿम प ⁿसांनि ⁿसांनि प
का ऽ न्ह र सा र ग सो ऽ हे

म प ध नि सा रे नि ⁿसांनि ध प
भै ऽ र व अ स व री मो हे

ग म ध प ⁿसांनि ⁿसांनि ⁿसांनि ध म प
भै ऽ र वी ख मा ऽ ज को ऽ

ध नि सां ⁿनि प ग म (म) रे सा
क ह त औ ऽ र हूँ अ ड़े ऽ
× 2 0 3

अंतरा (2)

⁻ध ⁿसांनि गं रें - सां सां ⁿसांनि ⁿसांनि ⁿसांनि
ध नी ग रे ऽ यु ग था ऽ ट

म प ध़ - ध़ ध़ सां सां ध़ प
न ट भै ऽ र वी ऽ ब ने ऽ

नि नि नि नि प ध़ नि नि सां सां
रा म रं ऽ ग धै व त नश प

ग़ म ध़ प - ग म (म) रे सा
गा ऽ इ ये ऽ दि न च ढ़े ऽ
× 2 0 3

अब भूपाली राग की एक छोटी सी पुरानी बंदिश देखिए की इस छाटी सी बंदिश में ही राग रूप को किस युक्ति के साथ समेट कर राग भूपाली मुख्यांग को प्रारंभ में ही मुखरित कर दिया है।

राग भूपाली-त्रिताल (मध्य लय)

स्थाई- इतनो जोबन पर मान न करिये, डरिये राम सन आली।

अन्तरा- जो कोई आवे अपने ढ़िगवा वासों गरब न कीजिये, 'सदारंग' यह रीत माने।

स्थाई

सां सां ध प ग रे सा रे सा ध सा रे ग रे ग-
इ त नो जो ब न प र मा न ऽ न क रि ये ऽ

ग ग ग रे ग प ध प पध सांसां धप पध सांसां धप गरे सा
ड रि ये रा ऽ म स न आऽ ऽश ऽश ऽश ऽश ऽश ऽश ली
0 3 × 2

अन्तरा

प - ग ग प - ध - सां सां सां - सां रें सां -
जो ऽ को इ आ ऽ वे ऽ अ प ने ऽ ढि ग वा ऽ

ध - ध - सां सां रें रें सां रें गं रें सां - ध प
वा ऽ सो ऽ ग र ब न की ऽ ऽ जि ये ऽ ऽ ऽ

ग ग ग रे ग प ध प पध सांसां धप गरे सा
स दा ऽ रं ऽ ग य ह रि ऽऽ ऽऽ तऽ माऽ ऽऽ ऽऽ नी
0 3 ×

2

अब भूपाली के सबसे निकट का राग देशकार की एक चौताल की बंदिश को देखिए कि कितनी आसानी से बंदिश के माध्यम से राग भिन्नता को दर्शाया गया है।

देशकार चौताल

स्थाई- जागिये गोपाल लाल

अब राग भूपाली एवं देशकार इन रागों के समान ही स्वर लगाने वाले राग जैत कल्याण की बंदिश को देखिए कि इस मिश्र व वक्र राग के स्वरूप को किस प्रकार बंदिश में मिश्रित किए गए राग के स्वरों को दर्शाते हुए राग रूप को बंदिश में समेट कर संजोया गया है।

राग- जैत कल्याण-झपताल

स्थाई- पीत पीताम्बर, कटि सोहे सुन्दर, कुण्डल कान सिरमुकुट मनोहर।

अंतरा- मुरली अधर धरे, लीन्हे सखा संग, 'रामरंग निरखि, ब्रज जन मन हर।।

स्थायी

प ग प ध प रे - सा रे सा
पी ऽ त ऽ पि ता ऽ म्ब ऽ र

सा रे सा ध प सा - रे - सा
क टि सो ऽ हे सु ऽ न्द ऽ र

प ग प ध ग प - ध प प
कु ऽ न्ड ऽ ल का ऽ न सि र

रें सां प ध प ग प रे - सा
मु कु ट ऽ म नो ऽ ह ऽ र
× 2 0 3

अंतरा

प प सां - सां सां सां सां रें सां
मु र ली ऽ अ ध र ध ऽ रे

सां ध सां - रें सां - प ध प
ली ऽ न्हे ऽ स खा ऽसं ऽ ग

प ग प रे सा प प ध ग प
रा ऽ म रं ग छ वि नि र खि

रें सां प ध प ग प रे - सा
ब्र ज ज ऽ न म न ह ऽ र
× 2 0 3

अब राग श्री की बंदिश को देखिए इस बंदिश में अक्षर एवं स्वर में दोनों ही वर्ण स्थान-स्थान पर एक साथ प्रयोग किये गए है अर्थात बंदिश में जो काव्य के अक्षर है वही स्वर एवं जो स्वर है वही अक्षर दृष्टिगोचर होंगे।

राग- श्री त्रिताल

स्थाई- मनवा मेरे प्रभु ध्यान धर रे, सुधारे पूरे मन काम।

अंतरा- नाम लेत अनगिन तरे हरी चरण में सिर धरे पूरे "रामरंग"तेरो मन काम।।

स्थाई

म
म
ग रे - सा रे - प प प म ध ध म ग रे म
न वा ऽ मो रे ऽ प्र भु ध्या ऽ न ध र नी ऽ सु

ग रे - ग रे - म प सारें सांनि धप मध पम
ग रे सा
ध रे ऽ पु रे - म न काऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ
ऽ ऽ म
3 × 2 0

अन्तरा

म
ना
प नि सां - सां - सां रें रें रें रें गं रें - सा रें
ऽ म ऽ ऽ ले ऽ त अ न गि न त रे ऽ ऽ ह

नि ध प - म - - म प ध रे - - ग रे सा
रि च र न में ऽ ऽ सि र ध रे ऽ ऽ पु रे रा

- सा प - म प नि सां सारें सांनि धप मध पम
गरे सा
ऽ म रं ग ते रो म न काऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ
ऽऽ म
3 × 2 0

स्वर एवं अक्षर का प्रयोग केवल बंदिश के माध्यम से ही हो सकता है, कहा गया है- राग रचना (बंदिश) भवन गुनिजन बनायो ऐसे, जामे स्वर शिला लय को धरा ह। बुद्धि विवेक औजार, गुनिजन सृजनहार, 'रामरंग' कहन-गमक गारा सों संवारा है।

राग के सम्पूर्ण स्वरूप को निखारने एवं विस्तारित करने में बंदिश का जो रहस्यमय योगदान है उस महत्व को केवल प्रदर्शन के द्वारा ही एक सीमा तक प्रस्तुत किया जा सकता है। "एक राग अनेक बंदिश" अर्थात एक ही राग में "चारपट"गायन शैली (ध्रुवपद-धमार, ख्याल, ठुमरी, दादरा, एवं टप्पा) के भिन्न-भिन्न आकृति (गढ़न) की रचना एवं शुद्ध, छायालग, मिश्र तथा संकीर्ण रागों की आकृति के अनुसार जो पुरानी और नई विभिन्न तालों में निबद्ध आकर्षक तथा हृदयास्पर्शी रचना अब भी उपलब्ध है उन बंदिशों को रचने एवं राग की प्रस्तुति में उनका क्या महत्व है इसके लेखन के द्वारा अथवा केवल भाषण के द्वारा नही समझाया सकता यह तो प्रयोगात्मक विषय है, राग हो या राग की बंदिश पहले गायन के द्वारा इनकी प्रस्तुति फिर उसमें निहित संगीत के व्याकरण को बोलकर समझाना यही सांगीतिक विवेक है। विद्वानों का कथन है कि-

तब गुनि मानू जब गुन की बात गुणियन बिच गाय के सुनाइए तब मुनि मानू।

Scanned with OKEN Scanner

गुरूवर पं.रामाश्रय झा "रामरंग" के अनुसार "शिष्यपरम्परानुसार शास्त्रीय संगीत की शिक्षा की यह पुरानी परम्परा है कि गुरूजन पहले किसी राग की बंदिश सिखाते उसके उपरान्त केवल राग का नाम बताते। राग का शास्त्र अर्थात वादी, संवादी, न्यास, उपन्यास, सन्यास, विन्यास, पूर्व उत्तर राग इत्यादि नियम का बताना तो दूर रहा राग का आरोह अवरोह क्या है एवं राग में कौन राग वर्जित है एवं शुद्ध कोमल स्वर का ऐसा प्रयोग है यह भी नही बताया जाता था। और इस प्रकार की संगीत शिक्षा भुक्त भोगी स्वयं मैं हूँ। परन्तु गुरू एवं गुरू की उस शिक्षा की ऐसी विलक्षण महिमा थी कि उन बंदिशों को मंत्र की भाँति जप अर्थात् अभ्यास व चिन्तन मनन करने से संगीत का व्याकरण शनैः-शनैः स्वतः आने लगता है इस भाँति के जप (अभ्यास) और उससे मिलने वाले ज्ञान व उत्तम फल की जो प्राप्ति होती थी यह अनुभव इस समय प्रचार में कम लोगों को है अब तो संगीत शिक्षा देने का सारा नियम ही उल्टा हो गया है। लोग पहले राग का शास्त्र लिखते है फिर क्रियात्मक की शिक्षा देते है।

इस संबध में श्रद्धेय पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर जी की शिक्षा पद्धति का उदाहरण अत्यन्त उपयोगी तथा शिक्षाप्रद है, वह इस प्रकार है–

पंण्डित पलुस्कर जी के वरिष्ठ शिष्य पं. बी. ए. कशालकर जी जो इलाहाबाद में रहते थे उन्होनें पं. रामरंग जी से एक प्रसंगवश बोले झा जी एक दिन हमने गुरू जी से कहा कि गुरू जी हमें काफी राग में आलाप-तान करने नही आता कि मैंने तुम्हें ....यह सुनकर उन्होने कहा लगभग पाँच, छः सिखाई और हमें और हमें याद भी है। गुरूवर (पं.पलुस्कर जी) ने थाड़े गम्भीर स्वर में कहा कि आश्चर्य है तब भी तुम्हे काफी राग का आलाप-तान नही करने आता लो देखो हम बंदिश के आधार पर तान-आलाप किस प्रकार करते है। तब उन्होने प्रत्येक बंदिश को गाकर उन बंदिशों में प्रयुक्त म प ग रे रे म प ध म प ग रे, म प ध नि सां, म प नि सां, सां नि ध प प म प, नि प ग रे, इत्यादि स्वर समूह को समझाया और उसी के आधार पर आलाप-तान करके दिखा दिया फिर हमें 20 मिनट में ही आलाप-तान करने की विधि मालूम हो गई।"

ये है एक महान गुरू की संगीत शिक्षा देने एवं उत्तम तथा प्रबुद्ध शिष्य की शिक्षा लेने की गाथा जिसे संगीत में बंदिश का क्या महत्व है तथा संगीत शिक्षा के लिए इसका अभ्यास व चिन्तन मनन की भी कितनी आवश्यकता है। इसी कारण गुरू मुख से सीखे हुए बंदिश की इस विधा को गुणिजन नायकी कहते है। इसी नायकी के आधार पर राग की गायकी का गायन एवं सृजन करने की संगीत जगत् में पुरानी परम्परा है तथा इसी को नायकी-गायकी कहते है इसी लिए कहा गया है कि राग रूपी रत्न को सुरक्षित रखने के लिए राग की बंदिश एक ठोस मंजूषा (बाक्स) के सदृश्य है

बंदिश की रचना

बंदिश बनाने की परम्परा पुरानी है। वर्तमान समय पूर्व प्रत्येक समय में विद्वान संगीतकारों ने बंदिश की रचना की है। ऐसा नही है कि ध्रुवपद अंग की रचना करने का अधिकार केवल स्वामी हरिदास, तानसेन एवं बैजूबावरा इत्यादि गुणियों को ही था। इसी भांति ख्याल, ठुमरी, दादरा एवं टप्पा इत्यादि गायन शैलियों की बंदिश की रचना करने का अधिकार केवल इन शैलियों के अविष्कर्ता गुणियों को ही था। प्रत्येक समय में ऐसे-ऐसे संगीत विद्वान होते आये है जिन्होंने अपने गायन-शैली के अनुरूप बंदिशे बनाई है तभी तो संगीत जगत में प्रत्येक गायन शैली के अन्तर्गत एक से एक बंदिशों का अपार संग्रह था। हां वर्तमान समय में उन पुरानी बंदिशों का संग्रह एवं उनके अनुरूप प्रस्तुति करने वाले संगीत विद्वानों की संख्या बहुत कम अवश्य है। ऐसा भी नही है कि पुरानी प्रत्येक बंदिशें उच्च कोटि की ही थी और नई रचना सभी निम्नकोटि की है। पुरानी बंदिशों में भी निम्नकोटि और नई बंदिशों में भी उच्चकोटि की रचना मौजूद है। कुछ लोगों का कहना है कि जब पुरानी बंदिशे इतने अधिक संख्या में मौजूद है तो अब नई बंदिशे बनाने की क्या आवश्यकता है। ऐसे महानुभाव को यह सोचना चाहिए की गायन की जो प्रत्येक शैली में अब भी पुरानी रचनायें अनगिनत है क्या केवल एक विद्वान की बनाई है? यह तो परम् सत्य है कि चाहे जितने बड़े घराने के जितने बड़े संगीतज्ञ हों

Scanned with OKEN Scanner

संगीत किसी एक घराने या खानदान अथवा घर की निजी सम्पत्ति तथा जागीर नही है जो "अहं ब्रह्मास्ति"की तरह जो वो कहे या करे वही उपयुक्त अथवा सही है और अन्य संगीत विद्वान अपनी क्षमता संगीत एवं बंदिश के व्याकरण के अनुसार योगदान करे वह गलत व अनुपयुक्त है। प्रत्येक विद्या के लिए यह कहा गया है कि-

जिन खोया तिन पाइयां, गहरे पानी पैठ।

फिर किसी भी विद्या के लिए विद्वानों का यह भी कथन है कि-

"विद्या, वनिता, वनलता, दूर कहूँ नहि जाहि।
जाकह देखहि पास में, वाहि सो लपटाहि।।

अर्थात विद्या की साधना जो करता है विद्या उसकी है। यदि विद्या किसी वंशगत या व्यक्तिगत प्रतिभा के सीमा के बन्धन में बधी होती तो तानसेन का सुपुत्र विलास खाँ तानसेन नही हो जाता ? बड़े गुलाम अली खाँ, विलायत खाँ, पं. रविशंकर अपने पुत्र या अन्य किसी शिष्य को अपने से अच्छा नही तो कम से कम अपने जैसा न बना लेते ? यहाँ तो यही कहावत सत्य है कि **"कर्ता गुरू न कर्ता चेला"** कभी-कभी तो ऐसा भी देखा गया है कि गुरू से शिष्य अधिक विद्वान, प्रतिभावान एवं प्रतिष्ठावान हो जाता है इसके अनेक उदाहरण हैं। इन सब बातों पर विचार करने के उपरान्त निष्कर्ष यह है कि शिक्षा एवं गुरू में श्रद्धावन्त होकर सभी को अपनी क्षमता के अनुसार साधना, अध्ययन एवं अपने विषय में यथा विवेक यथाशक्ति योगदान करने का अधिकार है योग्य गुरु कभी ये नही कहते कि जो हमने ज्ञान दिया वही विद्या की सीमा है। गुरू शिक्षा लेने का तो प्रतिफल यही है कि शिष्य के निजी ज्ञान का विकास हो और अपने निजी ज्ञान के बल पर ही कुछ ऐसी संरचना करे या कहे ताकि यह लगे कि इस व्यक्ति के शिक्षा की नींव गहरी एवं सुदृढ़ है।

उपरोक्त कथन का अभिप्राय यह है कि संगीत जगत के जो लोग यह कहते है कि पुरानी ही बंदिश गाना चाहिए और नई बंदिश बनाने की आवश्यकता नही है। **गुरुवर पं.रामाश्रय जी के अनुसार** "नई बंदिश रचना बनाने का अधिकार उसी संगीत साधक को है जिसने सौ-दो सौ पुरानी परम्परागत उत्तम बंदिशों को गुरूमुख से सीखकर अभ्यास के द्वारा उन बंदिशों के अंग-प्रत्यंग अर्थात बंदिशों में निहित लय, स्वर एवं राग को आत्मसात कर लिया हो। इस गुरूमुख शिक्षा के अभाव में चाहे किसी संगीत साधक को लय, स्वर, राग एवं साहित्य का अच्छा ज्ञान भले हो परन्तु वह बंदिश रचना के मर्म को नही समझ सकता अर्थात उत्तम रचना करने की कोटि में उसकी गणना कदापि नही हो सकती"। क्योंकि विद्वानों का कथन है कि -

"महाजनोयेन गताः सपन्था"

एवं

मुनिन प्रथम हरी किरति गाई।
तेहिमग चलत सुगम मोहि भाई।।

अर्थात गुरुमुख की सुदृढ़ शिक्षारूपी धरातल तथा आड़ अवश्य होनी चाहिए ताकि उस धरातल पर गुरु के बताए मार्ग का अनुसरण करते हुए अथवा गुरु शिक्षा की आड़ लेकर गुरुकृपा से अपने निजी ज्ञान के आधार पर अपनी साधना के विषय में कुछ योगदान कर सके।

बंदिश रचना के लय-स्वर, राग के ज्ञान के साथ भाषा एवं छन्द का साधारण ज्ञान भी परम् आवश्यक है। शास्त्रीय एवं अशास्त्रीय संगीत की बंदिशों में खड़ी हिन्दी का प्रयोग "खीर में पड़ी कंकण"की भाँति ही दिखता है। इस हेतु ध्रुपद, ख्याल, ठुमरी, एवं दादरा इन गायन शैलियों की बंदिश रचना के पुरानी परम्परा यह है कि केवल ब्रज एवं अवधी का मिश्रित स्वरुप ही बंदिश में प्रयोग होता है। क्योंकि अन्य कोई भी भाषा इन गायन शैलियों के लिए उपयुक्त नही होती है। तभी तो उत्तर भारतीय जितने भी प्रदेश है जैसे- मराठी, बंगाली, पंजाबी, एवं मैथिली इत्यादि इन प्रदेशों के संगीतकार भी अपनी टूटी-फूटी ब्रज व अवधि भाषा के आधार पर ही बंदिश रचते है। तथा इस भाषा के आधार पर बनी पुरानी रचना को गाते है। बंदिश रचना में ब्रज और अवधी भाषा के ज्ञान के लिए महात्मा तुलसीदास कृत रामायण का पठन-पाठन अत्यन्त लाभप्रद है। बंदिश रचना के लिए उपरोक्त नियमों के अतिरिक्त कुछ विशेष तथ्यों को भी

Scanned with OKEN Scanner

ध्यान में रखना आवश्यक है। जैसे- रागों के गायन समय एवं प्रकृति के अनुसार बंदिशों में काव्य का प्रयोग अर्थात मेघ एवं मल्हार रागों में वर्षाऋतु का वर्णन बसन्त एवं बहार आदि रागों में बसन्तऋतु के अनुकूल साहित्य का प्रयोग। इसके अतिरिक्त राग की बंदिश की रचना का प्रमुख नियम यह भी है कि सर्वप्रथम किसी बंदिश के आकार एवं स्वरुप की स्वर रचना प्रथम करके उसके अनुरुप सार्थक काव्य की योजना बनानी चाहिए। बंदिश रचना का यह सबसे उत्तम नियम है। यदि वाक्य की रचना पहले की गई है और स्वर रचना बाद में तो बंदिश रचना के मर्मज्ञ विद्वानों को ऐसा लगता है कि स्वर में काव्य को जबरन बिठाया गया है। खास करके ध्रुपद, ख्याल, ठुमरी, दादरा एवं टप्पा अंग की बंदिशों में काव्य संबधी उपरोक्त नियम ही विद्वानों द्वारा मान्य है। परन्तु ठुमरी अंग में बंदिश की ठुमरी अर्थात ''बन्धी ठुमरी'' काव्य प्रधान अवश्य होती है जो उस शैली के अनुसार उपयुक्त लगती है।

अन्त में यही निवेदन है कि बंदिश रचना के संबन्ध में बंदिश के कुछ तथ्यों को जो हमने पाठकों एवं विद्वानो के सम्मुख प्रस्तुत किया है आशा है वे हमारे इन विचारों से सहमत होंगे।

Scanned with OKEN Scanner

संगीत में 'काकु' का स्थान व उपयोगिता

कु. रूचि मिश्रा

काकु शब्द की व्युत्पत्ति ''लौल्य'' यानी चंचलता अर्थ वाली 'कक' धातु से हुई है। 'लौल्य' का अर्थ है स्वर-वैचिज्य और 'कक' का अर्थ है जिह्वा अतः जिह्वा के प्रभाव से सम्पन्न होने के कारण यह काकु कहलाती है।

भिन्नकंठध्वनिधीरैः काकुरित्यभिर्धीयते।

अर्थात्- कंठ की भिन्नता से ध्वनि में जो भेद उत्पन्न होता है उसे 'काकु' कहते हैं।

आर्चाय मम्मट ने भी काकु का लक्षण 'ध्वनेर्विकारः कह कर व्यक्त किया है।' ध्वनि में मनोभावों को व्यक्त करने की अद्भुत शक्ति होती है। ध्वनि की भिन्नता एवं विभिन्न अर्थ का बोध कराने में जो शक्ति कार्यरत होती है उसी को 'काकु' कहा जाता है।

उदाहरण- एक व्यक्ति ने पूछा ''नहीं है?'' दूसरे ने कहा- नहीं, है प्रश्नकर्ता के नहीं है के अंत में स्वर ऊँचा हुआ इसलिए यह निश्चित हुआ कि यह प्रश्न ही है। उत्तरदाता ने नहीं और है के बीच में कुछ विराम रख दिया तो यह ज्ञात हुआ कि वांछित वस्तु उसके पास है, अतः स्वर के साथ विराम की शक्ति भी महत्वपूर्ण है।

अभिनवगुप्त ने कहा है–'प्राणा रसभावाधाः तदौचित्येन छेदः' अर्थात् रसभाव नाट्य प्रयोग के प्राणरूप है व रसभाव के औचित्य के अनुसार होने वाले छेद या विराम को 'प्राणवश' कहा गया है।

शोक, भय, प्रसन्नता, प्रेम आदि भावों को व्यक्त करने के लिए जब ध्वनि में भिन्नता आती है तो उसे 'काकु' कहते हैं।

मानव अपने दैनिक जीवन में काकु का प्रयोग विशेष रूप से करता है जैसे- 'जाओ' इस शब्द को काकु के विभिन्न प्रयोगों से आदेश, क्रोध, तिरस्कार आदि भावों के अन्तर्गत प्रकट किया जा सकता है।

नाट्यशास्त्र के सत्रहवें अध्याय में 'काकु' की विस्तृत व्याख्या की गई है। भरत ने स्वर स्थान, वर्ण काकु, अलंकार और अंग ये 6 अलंकार कहे हैं और ये भी कहा है कि इनसे भूषित काव्य 'पाठ्य' कहलाता है। अलंकार का अर्थ परिपूर्णता लाने वाले तत्व से है। काकु इनमें सबसे प्रमुख है और अन्य पाँचों इसी का पोषण करते हैं।

इसलिए आचार्य भरत ने अनेक स्थानों पर अन्य अलंकारों के लिए 'काकु' शब्द प्रयोग किया है और अध्याय के अन्त में 'काकु-विधान' कह कर उसकी उपयोगिता सिद्ध की है।

काकु-स्वर-रस का परस्पर सम्बन्ध–काकु की उत्पत्ति स्वरों के संयोग से ही होती है। इस कारण काकु प्रयोग में स्वरों का मुख्य स्थान है एवं स्वरों से रसों की सृष्टि होती है,

अतः किस रस में किस स्वर का किस प्रकार से प्रयोग किया जाना चाहिए उसे आचार्य भरत ने सूत्रबद्ध कर निम्न प्रकार से परिभाषित किया है।

''हास्यश्रृंगारयोः कायौ स्वरौ मध्यमपंचमो।
षड्जर्षभौ तथा चैव वीर रौद्राद्भुतेषु च।।
गान्धारङ्गा निषादङ्गा कर्तव्यौ करूणे रसे।
धैवतश्चैव कर्तव्यो वीभत्से स भयानके।''

अर्थात-हास्य एवं श्रृंगार रस में मध्यम व पंचम स्वर, वीर और रौद्र रस में षड्ज और ऋषभ्, करूण

शोध छात्रा, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

Scanned with OKEN Scanner

रस में गान्धार और निषाद स्वरों का, एवं वीभत्स रस में धैवत स्वर का प्रयोग करना चाहिए।

भरत ने काकु उत्पत्ति के तीन स्थान उर, शिर और कण्ठ "शारीरी वीणा" अर्थात् मनुष्य के शरीर में कहें है' जहाँ से 'काकु' की उत्पत्ति होती है।

इन तीन स्थानों के प्रयोग के लिए भरत ने यह कहा है कि दूर स्थित व्यक्ति से कुछ कहने के लिए शिर अर्थात् ऊँची ध्वनि, बहुत दूर न हो तो कण्ठ से अर्थात् मध्यम ध्वनि का और 'पाश्वर्तः' यानी बिल्कुल पास हो तो उस से अर्थात् नीची ध्वनि का प्रयोग करना चाहिए भरत ने काकु के दो प्रकार कहे हैं।

(1) साकांक्ष काकु (2) निराकांक्ष काकु

साकांक्ष काकु वह है जहाँ आकांक्षा बनी रहे या बात अधूरी रह जाए वह साकांक्ष वाक्य होता है, एवं जहाँ बात पूरी हो जाए और निश्चित अर्थ का बोध हो जाए वहाँ निरकांक्ष काकु होगा।

इस प्रकार भरत मुनि ने नाट्य के अन्तर्गत 'पाठ्य' के सन्दर्भ में काकु का प्रयोग बताया है।

परन्तु शारंगदेव ने अपने ग्रंथ 'संगीतरत्नाकर' में काकु को छाया का पर्याय कहा है। पार्श्वदेव ने छाया के पर्याय काकु, भावना और भाषा कहे हैं व छाया को रक्ति कहा इन्होंनें इसके 6 प्रकार माने हैं। शारंगदेव ने भी काकु के 6 प्रकार कहे हैं जो निम्नलिखित हैं।

1. स्वर काकु- किसी राग के प्रमुख स्वर का उच्चार करना जिससे राग रूप प्रकट होने से सहायत मिले। जैसे- भैरव के तथा जोगी के कोमल ऋषभ का उच्चारण।

2. राग काकु- किसी राग की अपनी विशेषता राग काकु है। कोई एक विशेष स्वरावलि जिससे राग-रूप स्पष्ट एवं स्थिर होता हो जैसे- रे सा ध् नि प (दरबारी)

3. अन्य राग काकु- जब किसी राग की छाया अन्य राग में दिखे तो वहाँ अन्य राग काकु होगा। जैसे- मिश्रित राग भैरव बहार, बसन्त बहार।

4. देश काकु- इसे देश या प्रदेश विशेष की परंपराओं से समझ सकते हैं। जैसे- ग्वालियर, आगरा, जयपुर, आदि के गायक एक ही राग को अलग अलग शैलियों में प्रस्तुत करेंगे।

5. क्षेत्र काकु- यहां क्षेत्र का अर्थ शरीर से लिया गया है, अतः अलग अलग शरीर में अलग-अलग काकु धारण करना ही क्षेत्र काकु है। भिन्न-भिन्न कंठों से निकली ध्वनि अर्थात् स्वरों के प्रभाव में भिन्नता अवश्य रहती है।

6. यंत्र काकु- अलग अलग वाद्य यंत्रों से उत्पन्न ध्वनि का जो अपना काकु होता है उसे यंत्र काकु कहते हैं। इसी से दो वाद्यों के बीच का अंतर स्पष्ट होता है। उदाहरण- एक व्यक्ति ने दूसरे से पूछा काम हो गया? दूसरे ने उत्तर दिया- काम हो गया। कोई भी समझ सकता है कि प्रश्नकर्ता कौन है और उत्तरदाता कौन है। इस प्रकार दैनिक जीवन में प्रतिदिन हम अपने भावों को शब्दों की सहायता से व्यक्त करते हैं, परन्तु काकु की सहायता से हम उनके बीच का अंतर स्पष्ट पाते हैं।

जहाँ करूणा, शोक, व्याधि में आवाज नीची रहती है, वही हर्ष या प्रसन्नता के वेग में स्वाभाविक रूप से आवाज ऊँची हो जाती है डाँटने फटकारने या लड़ाई झगड़े में आवाज में तेजी के साथ तीखापन और घृणा का सम्मिश्रण हो जाता है।

स्वर भेद से हाँ का नहीं और नहीं का हाँ होना प्रकट होता है। मनुष्य तो मनुष्य पशु में भी काकु प्रयोग भली-भाँती पाया जाता है।

उदाहराण- एक कुत्ता जब किसी चोर पर भौंकता है तो उसके भौंकने की ध्वनि में एक प्रकार की भयंकरता या कठोरता होती है, और वही कुत्ता जब अपने मालिक के साथ जाने के लिए जंजीर से मुक्त होने के लिए अपनी व्यग्रता प्रकट करता है तो उस ध्वनि में एक विवशता प्रकट करता है तो उस ध्वनि में एक विवशता व विनम्रता का भाव होता है।

अतः काकु का अर्थ "प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से एक ही स्वर का भिन्न-भिन्न प्रकार से लगाव है।" संगीत में विभिन्न प्रकार के काकु प्रयोगों से राग के प्रदर्शन में कलाकार अपने विभिन्न प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति करता है।

प्रसिद्ध वाग्गेयकार पं0 ओंकारनाथ ठाकुर जी जब सूरदास का लोकप्रिय पद "मैया मोरी मैं नहिं माखन खायो" गाते थे तो वे विभिन्न काकुओं का प्रयोग इस खूबी से करते थे कि श्रोतागण कभी

Scanned with OKEN Scanner

हंसते तो कभी आनंदाश्रु बहाने लगते, उनके द्वारा गाए हुए "मैया", शब्द में कहीं शेष व झुंझलाहट का भाव होता तो कहीं माता के प्रति विनम्रता कभी करूणा होती तो कहीं वेदना, ये 'काकु' का ही चमत्कार था। वास्तव में 'काकु' के अन्दर एक विचित्र शक्ति है। जिसके द्वारा भावों के प्रदर्शन में स्निग्धता, माधुर्य और रस की सृष्टि होती है।

सन्दर्भ सूची

1. नाट्यशास्त्र
2. संगीतरत्नाकर
3. संगीत समय-सार
4. निबंध संगीत
5. संगीत विशारद
6. संगीत संचयन

Scanned with OKEN Scanner

संगीत शास्त्र और प्रयोगपक्ष का अन्तः सम्बन्ध

शालिनी सक्सेना

19वीं सदी से पहले संगीत शास्त्र विषय के रूप में नहीं था। 'म्यूजिकोलॉजी' शब्द हमारे यहाँ पश्चिम से आया है। इस शब्द का प्रयोग जर्मन में सबसे पहले हुआ। 'म्यूजिकोलॉजी' शब्द जर्मन भाषा 'म्यूजिकविसेनशैफ्ट' (musicwissenchaft) से बना है। अंग्रेजी शब्द 'म्यूजिकोलॉजी' का मूल अर्थ है—Music अर्थात संगीत स्वहल अर्थात् उसका वैज्ञानिक एवं सैद्धान्तिक अध्ययन। 'संगीत का विद्धतापूर्ण अध्ययन' म्यूजिकोलॉजी शब्द की अत्यन्त संक्षिप्त एवं भ्रम रहित व्याख्या है। भारतीय शास्त्रीय संगीत के दो पक्ष माने जाते हैं और दोनों ही संगीत में बहुत महत्त्वपूर्ण है। पहला प्रायोगिक पक्ष जिसे संगीत अर्थात् डनेपब कहते हैं और दूसरा शास्त्र जिसे संगीत शास्त्र कहते हैं। हमारे संगीत में दोनों ही पक्षों के अध्ययन की एक सुदृढ़ परम्परा रही है।

संगीत (Music) एवं संगीतशास्त्र (musicology) का स्वरूप प्रायः सभी स्थानों में विवाद का विषय रहा है और आज भी है। संगीत का प्रयोक्ता वर्ग विशेष रूप से इससे दूर ही भागता है। म्यूजिकोलॉजी का अध्ययन प्रत्येक कलाकार की प्रतिभा को नए आयाम देता है, वह उसका शत्रु नहीं बल्कि सुहृदय है।

Music means knowledge of music

Musicology means knowledge about music

अर्थात् संगीत का ज्ञान और संगीत के बारे में ज्ञान के बीच जो विशिष्ट भिन्नता है, वही सम्बन्ध एवं भिन्नता म्यूजिक एवं म्यूजिकोलॉजी के बीच में है। अर्थात् म्यूजिक का क्षेत्र, संगीतकार, संगीतज्ञ का है और दूसरा क्षेत्र संगीत शास्त्रज्ञ का है। अक्सर संगीत के बारे में ज्ञान के लिए म्यूजिकोलॉजी का जब परिचय दिया जाता है तो पश्चिम में भी एक मजाक पूर्ण कहावत कही जाती है—

Music deals with all aspects of music except music

'म्यूजिकोलॉजी स्वयं संगीत को छोड़कर संगीत के सभी क्षेत्रों के साथ व्यवहार करती है।' वास्तव में संगीतशास्त्री (musicologist) और संगीतज्ञ (musician) दोनों को ही एक ऐसे ज्ञान के बड़े क्षेत्र से दो चार होना पड़ता है, जो कि सदा संगीत का और संगीत के बारे में ही होता है। कभी-कभी तो संगीतज्ञ स्वयं नहीं जानते हैं कि 'वे क्या गा अथवा बजा रहे हैं'। उनकी प्रतिभा एवं कल्पना शक्ति तथा गुरू प्रदत्त शिक्षा एवं अनुशासन उन्हें कलाकार बना देता है और वे प्रशंसनीय एवं विश्वसनीय प्रदर्शन दे देते हैं। उसके स्वरों से निकली आनन्द की धारा श्रोता को आनन्दित तो कर जाती है पर कभी-कभी वे बिना स्वरों के मध्यवर्ती सम्बन्धों को सोचे समझे, अलग-अलग तारताओं के बीच सौन्दर्य बोध को बिना जाने ही प्रस्तुत कर देते हैं। यदि उन्हें उन स्वरों के आपसी सम्बन्धों का अध्ययन, एवं सौन्दर्य बोध का भी संस्कार हो, तो वे उसकी व्याख्या भी कर सकेंगे और वह सब म्यूजिकोलॉजी के अन्तर्गत आता है। यदि कोई किसी संगीतज्ञ के संगीत को ठीक से सुनना या समझना चाहता है तो उसे सिर्फ उसे ही नहीं बल्कि उसके गुरू, उसके घराने की विशेषताओं को, प्रस्तुतीकरण का विश्लेषण करने की प्रक्रिया एवं संगीत में प्रस्तुत सामग्री के

शोध छात्रा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

Scanned with OKEN Scanner

बारे में सब कुछ जानने की उत्सुकता होनी चाहिए। इसे पश्चिम की भाषा में यदि कहें तो यदि बिथोविन (Beathovin) का संगीत एवं उनके योगदान के बारे में जानना है तो सम्पूर्ण ज्ञान के लिए हेडेन (Haydn) एवं मोजार्ट (Mozart) के संगीत को भी समझना होगा। तभी उनके बजाने के तकनीक का विकास और तुलनात्मक विवेचना के साथ उनका स्थान समझ में आएगा। यह सब म्यूजिकोलॉजी का शोध क्षेत्र है।

यदि किसी को कोई कलाकार का संगीत किसी अन्य विशेष संगीतज्ञ या घराने से प्रभावित लगता है अथवा किसी का प्रदर्शन किसी अन्य के प्रदर्शन की विशेषताओं को याद दिलाता है तो सबसे पहले तो जिस संगीतज्ञ, अथवा घराना अथवा प्रदर्शन से कलाकार प्रभावित है उसे अवश्य जानना होगा। उसको गुरू परम्परा, सामाजिक परिवेश, परिस्थितियों आदि के साथ-साथ उसकी व्यक्तिगत विशेषताओं को भी जानना होगा और फिर उसके बाद कलाकार स्वयं अपनी मौलिक अभिव्यक्ति प्रदान कर रहा है यह विश्लेषण करने की क्षमता भी होगी तभी कोई समीक्षक वैसा कह पायेगा। यहाँ वह प्रदर्शित संगीत के बारे में बात कर रहा है न कि स्वयं संगीत की। यहाँ इस प्रकार का विश्लेषण या अध्ययन म्यूजिकोलॉजी का विषय बन जाता है।

संगीत के बारे में विद्वतापूर्ण समझ ही म्यूजिकोलॉजी है। इस समझ के आ जाने से संगीत के प्रति और अधिक सौन्दर्य बोध आ जाता है जिससे संगीत के प्रति सम्वेदनशीलता का दायरा और अधिक बढ़ जाता है। संगीत के आध्यात्मिक प्रभाव को और अधिक गहराई के साथ प्रदर्शित एवं ग्रहण किया जा सकता है। म्यूजिकोलॉजिस्ट वो सभी प्रकार के संगीत सम्बन्धी ज्ञान को इकट्ठा करता है जो कि संगीत विधा के क्षेत्र का विस्तार करते हैं और जिनसे संगीत के प्रयोग पक्ष के अध्ययन में सुविधा ही मिलती है।

इस प्रकार यह कहना यहाँ गलत नहीं होगा कि संगीत और संगीतशास्त्र एक दूसरे से सम्बन्धित है इन दोनों के बीच का भेद संगीत साधना का बाधक नहीं बल्कि साधक ही है। यह एक दूसरे के पूरक हैं। यदि ये कहा जाए कि ये दोनों विशुद्ध रूप से एक दूसरे से अलग हैं यह पूर्णतः गलत होगा।

Scanned with OKEN Scanner

संगीत में बंदिश का महत्व

डॉ0 निशा झा

प्राचीन काल में स्वर, पद तथा ताल से संयुक्त रचना गांधर्व कही गई तथा बंदिश के बीज रूप में इसे स्वीकार किया जाता है। भरत के "नाट्यशास्त्र" में गांधर्व शब्द को इस प्रकार बताया गया है-

"गांधर्वमिति तद्ज्ञेयं स्वर ताल पदात्मकम्"

इसका अर्थ है कि गांधर्व उसे कहते है जिसमें स्वर-ताल-पद का संग्रह हो।

भरत काल में "ध्रुवागीत" प्रचलित थे। यह गीत स्वर, लय, पद और ताल का पूर्ण समन्वय था। ध्रुवागीत ही आगे चलकर प्रबन्ध गीत के नाम से प्रचलित हुआ एवं प्रबंध से ही आज की गायन-शैलियाँ विकसित हुई हैं।

वैदिक काल में प्रचलित ऋक-पाणिका, गाथा, भरतकालीन ध्रुवा और सप्तगीत, रत्नाकर काल के प्रबन्ध वस्तु, रुपक और आधुनिक संगीत के ध्रुपद, धमार, कीर्तनम्, ख्याल, टप्पा, ठुमरी, गजल, भजन और फिल्मगीत ये सभी बंदिशों की श्रेणी में आते हैं, सभी बंदिशों में पद एवं शब्द-समूह आवश्यक तत्व हैं।

भारतीय संगीत में दो प्रकार के गान प्रचलित हैं।

1. निबद्ध गान
2. अनिबद्ध गान

निबद्ध गान के अंतर्गत प्रबन्ध गायन होता था। विद्वानों ने प्रबन्ध की निम्नलिखित परिभाषा दी है-

"प्रकृष्ट रूपेण बन्धः इति प्रबंधः"

अर्थात स्वर-ताल-पद और छंदों से युक्त नियोजित गेय रचना प्रबन्ध कहलाती है।

सर्वप्रथम 7वीं शती के मतंग मुनि ने प्रबन्धों का उल्लेख किया है। उन्होंने अपने ग्रंथ 'वृहद्देशी' में 49 देशी प्रबन्धों का विवरण दिया है, जिनके नाम इस प्रकार थे-

कनद, आर्या, गाथा, द्विपदी, त्रिपदी, चतुरंग, वस्तु, हंसपद, गजलीला आदि।

इसी प्रकार मध्यकाल में पंडित शारंगदेव ने अपने ग्रंथ "संगीत-रत्नाकर" में 75 प्रबंन्धों का उल्लेख किया। इससे यह प्रमाणित होता है कि 8वीं शती से 13वीं शती तक संगीत में शास्त्रीय शैली "प्रबन्ध-गान" का बहुत अधिक प्रचलन रहा होगा। प्रबंध गायन भी निबद्ध गान के अंतर्गत गायी जाने वाली तत्कालीन शास्त्रीय-गायन शैली थी।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति में सर्वप्रथम कंठ संगीत का आविर्भाव हुआ होगा। सांगीतिक विस्तार का कारण कंठ संगीत है।

किसी भी राग की प्रस्तुतिकरण में बंदिश एक दर्पण की भूमिका निभाता है। गायन या वादन दोनों ही प्रकार के संगीत में बंदिश का महत्व होता है। वादन में बंदिश को गत कहते है। गत में स्वर एवं लय होता है, सार्थक शब्द रचना नहीं होते। बंदिश स्वर ताल पदात्मक होती है। प्राचीन वैदिक काल से बंदिशों या सांगीतिक रचनाओं का सिलसिला चला आ रहा है।

गीत के संबंध में कहा गया है कि "रंजक-स्वर-संदर्भो गीतमित्यभि-धीयते"

* वरीय व्याख्याता, संगीत विभाग, तिलकामांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

Scanned with OKEN Scanner

तात्पर्य है कि रंजक स्वरों का समूह गीत कहलाता है। बंदिशों के निर्माण में निम्नांकित तत्वों का होना आवश्यक है- बंदिशों में स्वर रचना मधुर एवं स्वर सन्निवेशों का सामंजस्य होना चाहिए।

बंदिश में राग का स्वरुप पूरी तरह से मुखरित हो सके। बंदिश में राग का विशिष्ट चलन, उसके प्रधान स्वर (वादी-संवादी), रागवाची स्वर संगतियाँ स्पष्ट होती रहें।

बंदिशों में शब्दों का उच्चारण स्वरों के साथ बिल्कुल स्पष्ट होना चाहिए।

बंदिशों में पद का चयन समयानुकूल होना चाहिए।

बंदिशों का निर्माण ऐसा होना चाहिए कि उससे राग-रस की अभिव्यक्ति हो। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि बंदिशों में राग को रसात्मक बनाने की क्षमता होनी चाहिए।

बंदिश में राग के स्वर एवं शब्दों का ताल के साथ सामंजस्य होना चाहिए। बंदिश में भाव के अनुसार ताल का चयन होना चाहिए। दरबारी कान्हड़ा, तोड़ी और मियाँ-मल्हार आदि रागों की बंदिश गंभीर तालों में होनी चाहिए। चंचल प्रकृति के रागों में रसमयता बनाए रखने के लिए उपयुक्त ताल का चयन होना चाहिए।

इसलिए ध्रुपद गायन शैली में चार ताल, तीव्रा, सूलताल आदि प्रयुक्त होते हैं एवं ख्याल शैली के लिए तीनताल, एकताल, रुपकताल प्रयुक्त होते हैं। ठुमरी गायन शैली में जतताल, अद्धा, दीपचंदी आदि तालों का चयन किया जाता है।

बंदिश की रचना बहुत महत्वपूर्ण होती है। बंदिश राग को आकृति प्रदान करता है, इसलिए बंदिश को राग का सकारात्मक स्वरुप माना गया है।

जिस प्रकार मूर्ति, भगवद् चित्र आदि को हम ईश्वर का साकार रुप मानते है। ठीक उसी प्रकार स्वर, लय, ताल और पद से युक्त बंदिशों को हम राग का साकार रुप मानते हैं।

बंदिश की रचना करने वालों को ग्रंथों में वाग्गेयकार कहते हैं। यानी जो पद्य और स्वर रचना करें, उसे वाग्गेयकार कहते हैं।

इस संबंध में 'मानकौतूहल'' ग्रंथ में कहा गया है-

''श्रेष्ठ गायक तथा रचयिता को व्याकरण पिंगल, अलंकार, रस, भाव, देशाचार, लोकाचार का अच्छा ज्ञान होना चाहिए।''

पिछली शताब्दियों में बड़े-बड़े विद्वान बंदिशकार हुए हैं जिनकी बंदिशें आज भी बड़े चाव से गायी और सुनी जाती हैं। सदारंग, अदारग, मनरंग, तो प्रसिद्ध हैं ही, साथ ही प्रेमपिया, सबरंग, सुजान, विनायकराव पटवर्धन, पं0 शंकरराव, व्यास, पं0 कुमार गंधर्व इत्यादि प्रसिद्ध हैं।

शास्त्रीय संगीत में ही नहीं बल्कि लोक-संगीत में भी परंपरागत बंदिशों का अत्यधिक महत्व है। ये हमारे लिए धरोहर हैं। परंपरागत बंदिशें रागों के सांगीतिक गुणों का निर्वाह कर रहे हैं एवं परंपरा से चली आ रही बंदिशें ही नयी बंदिशों के निर्माण में सहायक हैं।

Scanned with OKEN Scanner

संगीत जगत में जाति राग का स्थान

मधुलिका कुमारी

संगीत में भी जाति का महत्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन काल में राग का वर्गीकरण किया गया तो जाति राग वर्गीकरण सबसे पहले स्थान पर आया। उसके बाद ग्राम राग वर्गीकरण, रत्नाकर के दस विधि राग वर्गीकरण, शुद्ध छायालग और संकीर्ण राग वर्गीकरण आदि आए।

ग्रह, अंश, न्यास, अपन्यास, अल्पत्व, बहुत्व, संपूर्णत्व, षाड़वत्व, औड़वत्व, मंद्र और तार दस लक्षण से युक्त विशिष्ट रचना जाति राग कही जाती है।

भरत के संगीत सिद्धांत पुस्तक में जाति की परिभाषा दी गयी है जिसमें कहा है कि रंजन और अदृश्य अभ्युदय का जन्म देते हुए विशिष्ट स्वर ही विशेष प्रकार के सन्निवेश से युक्त होने पर जाति कहे जाते हैं।

श्रुति ग्रहस्वरादिस मूहाज्जावन्त इति जातयः - भरत

अर्थात श्रुति, ग्रह, स्वर आदि के समूह से जाति की रचना होती है। यह जाति गायन महर्षि भरत के समय प्रचलित था। इस जाति राग से ही ग्राम राग और फिर अन्य रागों का उदभव हुआ। जातियां 18 मानी गयी हैं। इनमें 7 जातियां सात स्वरों के नाम पर है। ये सात हैं षाडजी, आर्षभी, गांधारी, मध्यमा, पंचमी, धैवती और नैषादी/अन्य नाम हैं–

षाडजी चैवार्षभी चैव धैवती सनिषादिनी।
षडजोदीच्यवती चैव तथा वैषडजकैशिकी।।
षडजमध्यमा तथा चैव षडजग्राम समाश्रय।
गांधारी मध्यम चैव गांधारीदीच्यवा तथा।।
पंचमी रक्तागांधारी तथा गांधार पंचमी।
मध्यमोदी च्यवा चैव नन्दयन्ती तथैव च।।
कर्मारवी च विज्ञेया तथांध्री कैशिकी तथा।

- नाट्य शास्त्र

ये 18 जातियां वर्णित हैं। ये 18 जातियां अपने विकृत रूप में मौजूद हैं। जिन्हें दो वर्गो में विभाजित किया गया है। शुद्ध और विकृत।

शुद्ध जातियां उन्हें कहा गया है जिनमें सात स्वर का प्रयोग होता है। नाम स्वर ही उनमें ग्रह, अंश और न्यास होते हैं। आर्षभी, गांधरी, मध्यमा, पंचमी, धैवती और नैषादी ये स्वर नाम की शुद्ध जातियां हैं।

विकृत जातियां तब उत्पन्न होती हैं जब शुद्ध जातियों के लक्षणों में परिवर्तन किया जाए अथवा दो या दो से अधिक जातियों में मिला दिया जाए। अभी तक 11 जातियां विकृत रूप से मिलती हैं।

इन ग्यारह में शामिल हैं

1. षडजकैशिकी - षाडजी + गांधरी
2. षडजमध्यमा - षाडजी + मध्यमा
3. आंध्री - गांधरी + आर्षभी
4. गांधर पंचमी - गांधरी + पंचमी
5. षडजोदी च्यवती - षाडजी + गांधरी + धैवती
6. कार्मारवी - आर्षभी + पंचमी + नैषादी
7. नंदयंती - आर्षभी + गांधारी + पंचमी
8. गांधरोदीच्यवा-गांधारी+धैवती+ षाड़जी+मध्यमा
9. मध्य मोदीच्यवा-मध्यमा+पंचमी+गांधारी+धैवती
10. रक्तगांधरी-गांधारी+मध्यमा+पंचमी+नैषादी
11. कैशिकी-षाडजी+गांधारी+मध्यमा+पंचमी+ धैवती+नैषादी

* शोध छात्रा, स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

Scanned with OKEN Scanner

जाति के लक्षणों में चार प्रकार का अंतर किया जा सकता है। ये निम्नलिखित है-

1. न्यास के स्वर और अंश स्वर परिवर्तित करने से। 2. अपन्यास स्वर अलग करने से। 3. ग्रह स्वर बदलने से, 4. एक या दो स्वर के वर्ज्यकर जाति को षाडव या औडव रूप प्रदान करने से होता है। इन परिवर्तनों से प्रत्येक जाति के 23 प्रकार बन सकते है। इनमें 4 लक्षणों में से प्रत्येक को बारी-बारी से मिलाने पर चार विकृत जातियां, दो-दो लक्षणों को एक साथ करने पर 6 जातियां और 3-3 लक्षणों को एक साथ करने पर 4 जातियां बनती है। भरत ने जाति के 10 लक्षण को माना है ये निम्नलिखित है-

ग्रह—जिस स्वर से जाति गायन का प्रारंभ किया जाता था. उसे ग्रह स्वर कहते थे। अंश स्वर ही ग्रह स्वर होता था। कुल 63 अंश स्वर माने गये हैं इसलिए इतने ही ग्रह स्वर हुए।

अंश—जाति के प्रमुख स्वर अंश स्वर कहलाते थे। किसी राग के प्रमुख स्वर को वादी कहते हैं। प्रत्येक राग में एक वादी होता है। गांधार, गांधारपंचमी और मध्य मोदी च्यवा में केवल एक अंश स्वर माना जाता था और वह था पंचम।

न्यास—जिस स्वर पर कोई गीत या वाद्य रचना समाप्त होती थी उसे न्यास स्वर कहा जाता था। एक जाति में अनेक स्वर हो सकते थे और एक स्वर में अनेक जातियां समाहित हो सकती थी। 21 न्यास स्वर थे।

अपन्यास—जिस स्वर पर गीत या वाद्य रचना का मध्य भाग समाप्त होता था उसे अपन्यास स्वर कहते थे। एक स्वर कई जातियों में अपन्यास का स्थान ले सकता था। उदाहरण स्वरूप निषाद स्वर आठ जातियों में और अन्य स्वर ग्यारह जातियों में अपन्यास माना जाता था।

अल्पत्व एंव बहुत्व—जिन स्वरों का प्रयोग किसी जाति में कम होता था उन्हें अल्पत्व माना जाता था। इसके दो प्रकार थे- लंघन ओर अनाभ्यास। बहुत्व भी दो प्रकार का माना जाता था - अलंघन और अभ्यास।

षाडवत्व और औडवत्व—किसी जाति में 6 स्वर प्रयोग किये जाने पर षाडवत्व और 5 स्वर प्रयोग किये जाने पर उसका स्वरूप औडवत्व का होता था। 4 जातियां हमेशा संपूर्ण होती थीं और शेष 14 जातिया के 47 षाडव प्रकार संभव थे। 10 जातियों का औडवीकरण संभव था। 30 औडव प्रकार संभव था।

मंद्र और तार—प्रत्येक जाति की एक निश्चित सीमा होती थी। जिसके अंदर गायक या वादक को रहना पड़ता था। मंद्र स्थान में अंश, न्यास या अपन्यास तक जा सकते थे। तार स्थान में अंश स्वर से चौथे, पांचवे या सांतवे स्वर तक जा सकते थे। भरत ने अति तार स्थान का प्रयोग नहीं किया है।

वर्तमान समय में संगीत की विधाओं का विकास हुआ तो धीरे-धीरे जातियां विलुप्त होती गयी। श्रोताओं की मांग और वाद्य यंत्रों की बढ़ती जटिलता ने भी इन्हें समाप्त होने में मदद किया।

Scanned with OKEN Scanner

मनुष्यों में स्वरोत्पत्ति के कारक

जया शाही

विभिन्न जीव-जन्तुओं में अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति हेतु विशिष्ट तरीके विकसित हैं। ये पशु-पक्षी विभिन्न शारीरिक क्रियाओं द्वारा तथा मुख से भिन्न-भिन्न आवाज़ें निकालकर अपने हृदयगत् उद्गारों को दर्शाते हैं। इसी क्रम में मनुष्य भी विविध आंगिक, वाचिक चेष्टाओं द्वारा स्वयं को अभिव्यक्त करते हैं। शारीरिक विकास के साथ बौद्धिक विकास हमें अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ सिद्ध करता है जिसके फलस्वरूप विभिन्न कलाओं का उद्भव हुआ है। मानवीय भावनाओं की सुन्दरतम् अभिव्यक्ति का साकार रूप ही कला है तथा संगीत को सभी ललित कलाओं ।1। में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। प्रमुखतः हम बोलकर अपनी बात दूसरों के सम्मुख रखते हैं परन्तु भाषा के शब्दों की परिधि से भी ऊपर उठकर मानवीय हृदय में स्थित सूक्ष्मतम् भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति हेतु संगीत की स्वरलहरियों को सबसे प्रबल साधन माना गया है। संगीत को गायन, वादन तथा नृत्य की त्रिवेणी ।2। मानने की अवधारणा अत्यन्त ही प्राचीन रही है जिसमें गायन को सर्वोत्तम कहा गया है।।3। गायन हेतु स्वरोत्पत्ति या आवाज़ के निर्माण का मूल स्थान मानव-कंठ है जिसे स्वर-यंत्र भी कहते हैं। आवाज निर्मिति भी अन्य शारीरिक क्रियाओं की भांति ही संचालित होती है अतः सहज स्वरोत्पत्ति के लिए स्वर-यंत्र के साथ जुड़े अन्य अंगों-प्रत्यंगों की सुचारू कार्य प्रणाली अति आवश्यक है। ।4।

मनुष्य की आवाज़ को दोषमुक्त, मधुर व गायनोपयोगी बनाने के उद्देश्य से कंठ में वांछनीय परिवर्तनों पर बल देते हुए विभिन्न अभ्यास विधियों द्वारा कंठ को सवंर्धित करने की प्रक्रिया कंठ-साधना या कंठ स्वर संस्कार कही गयी है जिसे पाश्चात्य विद्वानों ने "वॉयस कल्चर" के नाम से शास्त्र रूप में वर्णित एवं विकसित किया है। ।5। भारतीय संगीत की प्राचीनता का संबंध सामवेद से जोड़ा जाता है। हमारी परंपरानुसार वैदिक काल में छोटे बच्चों को वेद पाठ की शिक्षा दी जाती थी और बाल्यकाल से ही उनके कंठ को उचित रीति से संस्कारित किया जाता था। स्त्रियों का कंठ तो स्वभावतः ही मधुर होता है। बाद में जब पुरूषों द्वारा गायन का प्रचार हुआ तो षड़ज साधना पर बल दिया जाने लगा। भारतीय शास्त्रकारों में यथा भरतमुनि, मतंग, नारद, शारंगदेव, नान्यदेव, हरिपालदेव आदि ने कंठ के गुण-दोष, कंठ के भेद, कंठ के तत्व, ध्वनि उत्पत्ति के कारक इत्यादि विषयों पर अपने मत दिए हैं।।6। परन्तु वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपना कर तथा चिकित्सा विज्ञान की मदद ले कर कंठ को सुमधुर बनाने की प्रक्रिया बहुत बाद में विकसित हुई। ।7। भारतीय शास्त्रीय संगीत के कई गायक-कलाकार अभी भी दोषयुक्त कंठ के शिकार हैं तथा कंठ-संस्कार की विधियों से अंजान भी। संगीत गुरूमुखी विद्या है, गायन में कई बार अंधानुकरण से सीखने के कारण गुरू के गले के दोष भी जाने-अनजाने शिष्य में आ ही जाते हैं। कंठ के स्वभाविक गुण-धर्म को विकसित करना व दोषों का निवारण करना ही कंठ-साधना का उद्देश्य है।

सहज व सुमधुर स्वरोत्पत्ति को समझने हेतु मानव कंठ की बनावट व ध्वनि उत्पत्ति को प्रभावित

* शोध छात्रा, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्व विद्यालय, वाराणसी

Scanned with OKEN Scanner

करने वाले कारकों को समझना परम आवश्यक है। आवाज़ के निर्माण में तीन प्रकार के अवयव सहयोग प्रदान करते हैं - गति देने वाला, आंदोलन उत्पन्न करने वाला, गूँज पैदा करने वाला। ।8। मानव शरीर में ध्वनि उत्पत्ति हेतु गति देने वाले अवयवों में श्वसन क्रिया के सभी अंग आते हैं। फेफड़ों के साथ ही अनेक मांसपेशियाँ, डायफ्राम इत्यादि उच्छवास व निःश्वास के समय हवा के आवागमन को संतुलित करती हैं। गायन हेतु साँस पर अधिकार होना परम आवश्यक माना जाता है तथा भारतीय संगीत में नाभिगत श्वास को बहुत महत्व दिया गया है। ।9। आंदोलन पैदा करने वाले अवयवों में स्वर-यंत्र या लैरिंक्स का स्थान है जो हमारी श्वास नली के ठीक ऊपर स्थित कार्टिलेज व मांसपेशियों से बना अंग है। ।10। प्रत्येक मांसपेशी अपनी विरोधी मांसपंशी की मदद से कार्य करती है। स्वर-यंत्र के अन्दर स्वर तंतु या वोकल कॉर्ड ।11। होते हैं जो कि हवा के आवागमन से कंपित होते हैं जिससे कि इनके बीच का भाग "ग्लोटिस" बंद होता है जिसके फलस्वरूप स्वर नियन्त्रण स्वतः ही हो जाता है। सही आवाज़ निर्मिती के लिए गूँज सबसे महत्वपूर्ण तत्व है। मुख, नासा विवर, खोपड़ी में स्थित खोखले भाग, फेरिंक्स इत्यादि गुँजन कक्ष हमारे शरीर में पाए जाते हैं तथा इनसे गुज़र कर मूल ध्वनि अनेक प्रतिध्वनियों से मिलकर अंततः हमारे मुख से निकलती है।।12। मनुष्यों में स्वरोत्पत्ति हेतु इन तीन अवयवों में सामंजस्य का होना अत्यन्त आवश्यक है। मानव शरीर में कंठ के माध्यम से हवा के आवागमन द्वारा ध्वनि उत्पत्ति होती है, इस ध्वनि के कंपनों में नियमितता आने से वह मृदुल होकर कानों को प्रिय लगती है। यही ध्वनि जब झंकारयुक्त एवं रंजक होती है तो इसे ही सांगीतिक ध्वनि की संज्ञा दी जाती है। स्वर-तंतु की लंबाई आवाज़ के पिच को निर्धारित करती है, लंबाई ज्यादा होने से आवाज़ भारी या नीचे पिच की निकलेगी। यही कारण है कि बच्चों की आवाज़ पतली या ऊँचे पिच की होती है लेकिन बड़े होने पर अन्य अंगों के विकास के साथ ही स्वर-तंतु भी लंबे होते हैं। स्त्रियों की अपेक्षा पुरूषों में यह अन्तर अधिक स्पष्ट पता चलता है। जिसे हम कंठ फूटना कहते हैं असल में वह यही बदलाव होता है तथा यह एक अनिवार्य प्राकृतिक क्रिया है। ।13।

स्वरोत्पत्ति पर इन आन्तरिक कारकों के साथ ही अनेक बाह्य कारकों का भी प्रभाव पाया गया है जिनमें मौसम का प्रभाव, विभिन्न खाद्य पदार्थों का असर, रोग द्वारा ध्वनि उत्पत्ति में बाध्यता इत्यादि अनेक कारण माने जाते हैं। स्वर पर स्वभाव का भी बहुत प्रभाव पड़ता है, क्रोधी व चिड़चिड़े व्यक्ति का स्वर प्रायः कर्कश व अप्रिय तथा सहृदय व्यक्ति का स्वर मधुर पाया जाता है। हमारी आवाज़ हमारे मन का दर्पण होती है। हमारी भावनाओं की अभिव्यक्ति के साथ-साथ वह हमारी शारीरिक एवं मानसिक अवस्थाओं को भी दर्शाती है। परिस्थितिवश आवाज़ में बदलाव आ जाना, खुशी में चहकना या दुःख में गला भर आना यही सूचित करता है। गायन में तनावरहित, दोषमुक्त व सहज स्वरोत्पत्ति के लिए तन-मन दोनों का स्वस्थ होना बहुत आवश्यक है। अन्त में यही कहना चाहूँगी कि अंधानुकरण से यथा संभव बचते हुए एवं अपनी आवाज़ की विशिष्टताओं को उभारने का यत्न करते हुए व साथ ही गायकों के गुण-अवगुण को ध्यान में रखते हुए उचित रीति से साधना द्वारा जब आवाज़ संस्कारयुक्त हो जाए तो भविष्य में संयम द्वारा उस स्वर संपदा को सुरक्षित रखना चाहिए।

सन्दर्भ सूची

1 भारतीय परंपरा में मुख्य रूप से चौसठ कलाएँ मानी गई हैं जिसके दो भेद हैं- उपयोगी कला व ललितकला।

2. शारंगदेवकृत संगीतरत्नाकर के स्वरगताध्याय में वर्णित-
गीतं वाद्यं तथा न त्तं त्रयं संगीत मुच्यते ।। 21 ।।
न त्तं वाद्यानुगं प्रोक्तं वाद्यं गीतानुवर्ति च ।। 24 ।।

4 Speech and Hearing Science: Anatomy & Physiology Willard R. Zemlin

5 पाश्चात्य विद्वान डा0 डी स्टेनले एवं अन्य द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त

6 शारंगदेवकृत संगीतरत्नाकर के प्रकीर्णकाध्याय में वर्णित-
चतुर्भेदो भवेच्छब्दः खाहुलो नारटाभिधः।

Scanned with OKEN Scanner

बोम्बको मिश्रकश्चेति तल्लक्षणमथोच्यते ।। 36 ।।

भरत ने 6 कंठ गुणों का, शारंगदेव ने 15 कंठ के तत्वों का विश्लेषण किया है, इसी क्रम में परवर्ती शास्त्रकारों नारद, नान्यदेव, पार्श्वदेव, सोमेश्वर आदि ने अपने-अपने मत दिए हैं।

7 भारतीय विद्वानों में डा. बी. आर. देवधर जी का बड़ा योगदान है।

8 Laryngeal Biomechanics
B. Raymond Fink & Robert J. Demarest

9 पाश्चात्य विद्वानों ने गाते समय साँस लेने की अलग-अलग विधियाँ बतायी हैं- अपर चैस्ट, मिडिल चैस्ट व डॉयाफ्रामिक ब्रीदिंग

10,11,12 arytenoids, cricoid, thyroid cartilage etc.
The Larynx: A Multidisciplinary Approach Marvin P. Fried

13 आवाज़ साधना शास्त्र, डा. बी. आर. देवधर

Scanned with OKEN Scanner

''सामगान के सन्दर्भ में - ऋतु एवं समय-सिद्धान्त की अवधारणा''

ऋचा शर्मा

भारतीय विचारधारा के अनुसार सभी कलाएँ आध्यात्म की ओर उन्मुख हैं तथा कलाओं का अन्तिम उद्देश्य आध्यात्म तत्व की प्राप्ति तथा आत्म तत्व में लीन होना है । हजरत इनायत खाँ सूफी फर्माते हैं - 'विशेष घड़ी अथवा दैनिक चक्र के समय किसी विशेष राग का गाना शुद्ध रूप से आध्यात्मिक धारणा पर आधारित है' ।

ऐतिहासिक दृष्टि से वैदिक तथा प्राग्वैदिक काल से, भारतीय संगीत का मुख्य ध्येय ईश्वरोपासना रहा है । यह तथ्य वेदों विशेषकर सामवेद, वेदों से सम्बन्धित ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक ग्रन्थ, सूत्रों, संहिताओं और उपनिषदों विशिष्ट रूप से छान्दोग्य उपनिषद से सिद्ध होता है।

सामगान में 'ऊँकार' की महिमा को सर्वश्रेष्ठ मानकर उसे ही ब्रह्म माना जाता है।

जैमिनि सूत्र के अनुसार गीति का ही अपर नाम 'साम' है - 'गीतिषु सामाख्या'।[1] अर्थात् जो मन्त्र गाये जाते हैं वह 'साम' कहलाते हैं। साम का वास्तविक स्वरूप 'स्वर' में निहित है। वैदिक काल से शास्त्रीय संगीत को साम के रूप में जाना जाता है। 'गान' साम के स्वरमय रूप हैं। यज्ञ के लिए सामगान अपेक्षित था । साम के विभिन्न खण्डों का गायन सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक, वर्षा के आरम्भ से लेकर वृष्टि शान्ति तक तथा दिन के भिन्न-भिन्न प्रहरों की अर्चना-वन्दना के लिए भी किया जाता था।

यजुर्वेद में निम्नलिखित साम-विशेषों का उल्लेख प्राप्त होता है-यथा- 'रथन्तर, वैराज, वैखानस, वामदेव्य, शाक्वर, रैवत तथा अभीवर्तसाम । इन सामों के विशिष्ट गान-समय तथा स्तोम संख्या का विवरण भी प्राप्त होता है जो महत्वपूर्ण हैं । उदाहरणस्वरूप-

"रथन्तरं साम त्रिवृत्स्तोमो - वसन्तऋतुः ।
वृहत्साम पंचदशस्तोमो - ग्रीष्मऋतुः ।
वैरूपं साम सप्तदशस्तोमो - वर्षाऋतुः ।
शाक्वररैवते सामनी - हेमन्त ऋतुः ।"[2]

तात्पर्य यह है कि रथन्तर साम का गान वसन्त ऋतु में विहित है, वृहत्साम का ग्रीष्म ऋतु में, वैरूप का वर्षाकाल में तथा शाक्वर ओर रैवत का हेमन्त ऋतु में ।

इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद में भी ऋतुओं से सम्बन्धित पाँच प्रकार की साम-उपासना बताई गई है - जैसे -

"ऋतुषु पंचविधं सामोपासीत वसन्तौ हिंकारोग्रीष्मः ।
प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तोनिधनम्॥
(छान्दो0उप0 तश्तीय खण्ड, पृ0 16)

अर्थात पाँच प्रकार के सामों की विशेष ऋतुओं में उपासना करनी चाहिए । वसन्त ऋतु में हिंकार, ग्रीष्म ऋतु में प्रस्ताव, वर्षा ऋतु में उद्गीथ, शरद् ऋतु में प्रतिहार तथा हेमन्त ऋतु में निधन इस प्रकार इनकी उपासना करनी चाहिए ।

सोमयाग की मुख्य 7 संस्थायें हैं यथा - 'अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थय, षोडशी, अतिरात्र, आप्तोयार्म तथा वाजपेय' । अग्निष्टोम में सोम सवन का प्रमुख स्थान है । सोम को पत्थर से कूटकर उससे रस निकालने की विधि को 'सवन'

* अ.प्रो. (सितार) महिला महाविद्यालय, बी.एच.यू., वाराणसी

की संज्ञा दी गयी है । सोम का सवन, हवन तथा पान यही क्रम सोमयागों में प्रयुक्त होता है । सोम को पत्थरों से कूट कर उसका रस निकाला जाता है तथा दूध में मिलाकर उससे प्रातः, मध्यान्ह तथा सायंकाल अग्नि में हवन किया जाता है । विशिष्ट हवनकाल के अनुसार यह अनुष्ठान प्रातः सवन, मध्यान्ह सवन एवं सायं सवन इन तीन नामों से अभिहित होते हैं । विभिन्न देवताओं को सोमरस का अवदान अर्पित करते समय होता के द्वारा शास्त्र पठन तथा उद्गाता के द्वारा स्तोत्र गायन यह क्रम प्रचलित होता है । सोमयाग की प्रत्येक क्रिया एवं प्रक्रिया संगीत से समन्वित हुआ करती थी । सामों का गान कामनाओं की पूर्ति करने हेतु भी किया जाता था ।

छान्दोग्य के अनुसार निम्न सामों का गान विशिष्ट कामना की पूर्ति करने वाला है -

'गायत्र, रथन्तर, वामदेव्य, वृहत्, वैरूप, वैराज, शक्वरी, रेवती, यज्ञायज्ञीय और राजन ।' विशिष्ट प्रकार के सामों को विशिष्ट अवसरों पर ही गाया जाना तत्कालीन सामगान के शास्त्रीय स्वरूप का ही संकेत कराता है । गाथा गान सुनाने हेतु भी समय के बंधन के प्रमाण उपलब्ध हैं ।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि प्राचीन काल से ही सामगान ऋतु एवं समय-सिद्धान्त से प्रभावित रहा है तथा साम के विभिन्न खण्डों का गायन सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक वर्षा के आरम्भ से वृष्टि शान्ति तक तथा दिन के भिन्न-भिन्न प्रहरों की अर्चना-वन्दना के लिए होता रहा है । इससे साम के प्राचीन शास्त्रीय स्वरूप का तो पता चलता ही है साथ ही शास्त्रीय रागों के सन्दर्भ में शास्त्र वर्णित राग समय सिद्धान्त तथा ऋतु सिद्धान्त की सर्वव्यापकता तथा सार्वभौमिक सत्ता की बात भी पुष्ट हो जाती है जिससे शास्त्रीय गायन तथा सामगान की पारस्परिक निकटता को बल मिलता है ।

सन्दर्भ सूची

1. संगीत मासिक पत्रिका, वैदिक संगीत अंक-जनवरी 2007
2. भारतीय संगीत का इतिहास (वैदिक काल से गुप्त काल तक)

Scanned with OKEN Scanner

''स्वरलिपि पद्धतियों के संदर्भ में वाग्गेयकार पं० विष्णुदिगम्बर पलुस्कर एवं विष्णुनारायण भातखण्डे का संगीत जगत को योगदान''

नीरज कुमार मिश्र

पदार्थ के अभाव में पदार्थ की चर्चा करने हेतु पद की आवश्यकता होती है जिससे भाषा बनती है जिस देश काल में लोगों ने अपने विचारों को प्रकट करने के लिए जिन जिन ध्वनि संकेतों का प्रयोग किया उन उन ध्वनि संकेतों के नियमों से अनेक भाषाएँ बनती है। ये भाषा मूल रूप से ध्वनि पर आश्रित है। ध्वनि के मोटे तौर पर दो भाग है- व्यक्त वाणी और अव्यक्त वाणी। व्यक्त वाणी वर्णो व अक्षरों पर आधारित है। विशेष आकृति युक्त अक्षरों को ध्वनि कहते है। जिन ध्वनियों की कोई विशेष आकृति नही होती उन्हे नाद या अव्यक्त वाणी कहते है। व्यक्त वाणी से भाषा का निर्माण होता है। इसे शब्दों से प्रकट करते है जो नाशवान है। शब्दों के अभाव में उन शब्दों के संकेत हेतु लिपि का प्रयोग किया जाता है। प्रत्येक वर्ण के एक निश्चित संकेत हर देश काल में भिन्न प्रकार से प्रयुक्त होते है जैसे- क, त, या, प के लिए अलग अलग देशों में भिन्न भिन्न संकेत पाएँ जाते है। ध्वनि के साथ अर्थ जुड़ा होता है दूसरा उस ध्वनि को प्रकट करने के लिए दृश्य संकेत प्रकट किया जाता है। पदार्थ के अभाव में पदार्थ की चर्चा करने हेतु पद की आवश्यकता होती है। एक एक वर्ण के लिए एक एक आकृति और उन आकृतियों के समूह से एक पद पूरा बनता है फिर पदों के समुच्य से वाक्य और वाक्य से अर्थ का संप्रेषण होता है। विचारों के आदान प्रदान हेतु भाषा आवश्यक है लिपि नही। लेकिन भाषा की अभिव्यक्ति ध्वनि पर आश्रित है और ध्वनि नाशवान है। और उस ध्वनि को सुरक्षित रखने के लिए लिपि की आवश्यकता पड़ी।

संगीत के क्रियात्मक पक्ष को लिपिबद्ध करना स्वरलिपि पद्धति कहलाती है। स्वरलिपि का उद्देश्य है संगीत की सांस्कृतिक परंपरा के अनन्त वैभव को सामान्य जन के समक्ष उपस्थित करना एवं प्राचीन धूमिल होती हुई सांगीतिक रचनाओं एवं परम्पराओं का संरक्षण करना। अगर स्थूल रूप से देखा जाए तो यह परम्परा 19वीं शताब्दी के अन्तिम 50 वर्षो से 20वीं शताब्दी के प्रथम 50 वर्षो तक के काल में प्रचलित हुई, परंतु अगर सूक्ष्म रूप से विचार अथवा अध्ययन किया जाए तो इसके बीज हमें वैदिक काल में ही अंकुरित होते हुए दिखाई देते हैं। भारतीय संगीत में इसका प्रचार प्रसार 19वीं और 20वीं शताब्दी में देखा जाता है, किन्तु पाश्चात्य देशों में इसका प्रचार काफी पहले हो चुका था। भारतीय संगीत में इसको प्रचार में लाने का श्रेय पं0 विष्णुनारायण भातखण्डे एवं विष्णु दिगम्बर पलुस्कर को ही मुख्य रूप से दिया जाता है।

इनके अतिरिक्त अन्य भी कुछ विद्वानों ने इस दिशा में प्रयास किए है। इन दोनो के काल को ही भारत में पुनर्जागरण का काल कहा जाता है। जिस

शोध छात्र, संगीत शास्त्र विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विवविद्यालय, वाराणसी

Scanned with OKEN Scanner

काल में इन्होंने जन्म लिया, उस समय न तो संगीत का कोई विवरण प्राप्त था और न ही कोई व्यवस्थित स्वरलिपि ही थी। ऐसी स्थिति में पं0 भातखण्डे ने प्राचीन संगीत ग्रन्थों का अध्ययन किया और सम्पूर्ण भारत का भ्रमण करके संगीतज्ञों से भेंट की। इसके पश्चात् इन्होंने एक सबल स्वरलिपि पद्धति का आविष्कार किया और **श्रीमल्लक्ष्यसंगीतम्** तथा **क्रमिक पुस्तक मालिका** आदि कई पुस्तकों की रचना इसी आधार पर की। "भातखण्डे जी क्लिष्ट स्वरलिपि पद्धति के घोर विपक्षी थे उनके मतानुसार किसी भी पद्धति में ज्यादा से ज्यादा चिह्नो का प्रयोग उपयोगी नही होता है। उन्होने अपनी स्वरलिपि पद्धति में सरल और कम से कम चिह्नो का प्रयोग किया है।"[1]

"हिन्दी शब्दों का अर्थ कतिपय गायक गण प्रान्तीय भाषा- भाषी होने के कारण बिना समझे गलत उच्चारित करते थे जिसे भातखण्डे जी ने कई बार संशोधित करने का भी कार्य किया। इसी दिशा में पं0 विष्णु दिगम्बर पलुस्कर भी दिशा निर्देशक का कार्य करते प्रतीत होते है।[2]"

भारतीय संगीत में स्वरलिपि पद्धति का उद्भव एवं विकास

वैदिक काल से ही स्वरों को दर्शाने के लिए कई प्रकार के चिह्नों का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। स्वरों के लगाव का महत्व इतना अधिक था कि स्वरों का उच्चारण इन चिह्नों के आधार पर ही किया जाता था। स्वरों के उच्चारण अथवा गायन के साथ ही इनके साथ हस्तचालन की प्रक्रिया के द्वारा लय को भी दर्शाया जाता था। वैदिक मन्त्रो में शुद्धता बनाए रखने के लिए इस विधि का पालन वेद पाठ में अनिवार्य रूप से किया जाता था। वेदों का स्वरांकन संसार का सबसे प्राचीन स्वरांकन है। वेदों के स्वरांकन के कई प्रकार थे। चारों वेदों के स्वरांकन में भी भेद मिलता हैं। साथ ही एक ही वेद की विभिन्न शाखाओं में चिह्नों में भी भिन्नता पाई जाती है। वेदों के पश्चात् के प्रमाणिक ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में तालादि के कुछ चिह्नों का संकेत मिलता है। मतंग कृत वृहद्देशी में भी इसके किंचित मात्र ही संकेत मिलतें है। प्राचीन काल के अंतिम वर्षों में भी यह हमें अपनें आरंभिक स्थान पर ही खड़े प्रतीत होती है।

मध्य एवं आधुनिक काल में स्वरलिपि का स्वरूप

शारंगदेव के संगीतरत्नाकर में यह परंपरा कुछ विकसित दिखाई पड़ती है। इस ग्रन्थ में ताल को अंकन लघु, गुरू और प्लुत के आधार पर किया गया है। स्वर के स्थान को निर्धारित करनें के भी इस ग्रन्थ में संकेत मिलते है। वेदों से लेकर आधुनिक काल तक इस दिशा में किसी स्वतंत्र कार्य की कोई आवश्यकता न होने के कारण इस ओर विद्वानों का ध्यान नही गया। इस दिशा में प्रथम स्वतंत्र कार्य सन् 1886 ई0 में के मौला बख्श शिस्से खाँ द्वारा हुआ दिखाई देता है। इन्होंने वड़ौदा में एक संगीत के विद्यालय की स्थापना की थी। संगीत के शिक्षण के लिए इन्होंने स्वरलिपि पद्धति का निर्माण किया। यह भारतीय तथा पाश्चात्य स्वरलिपि के आधार पर निर्मित की गयी थी। यह स्वरलिपि पद्धति बहुत अधिक प्रचलित नही हुई। "न्यूमस पद्धति के अन्तर्गत 16 वीं शताब्दी में ही ब्रीड एटीन नामक संगीतज्ञ ने संगीत स्वरलिपि के चिह्न में थोडा परिवर्तन किया। इस प्रकार परिवर्तन का सिद्धान्त भारतीय स्वरलिपि पद्धति में भी अपनाया गया।[3]"

विष्णुदिगम्बर पलुस्कर स्वरलिपि पद्धति

विष्णुदिगम्बर पलुस्कर उच्चकोटि के संगीतज्ञ थे। संगीत में वैज्ञानिक पाठ्यक्रम की आवश्यकताओं को उन्होंने समझा और इसी दिशा में राग प्रवेश नामक पुस्तको का प्रकाशन करवाया जिसमें विभिन्न रागों के गीतों को स्वरलिपि बद्ध कर संकलित किया गया है। पं0 पलुस्कर ने पाश्चात्य स्वरलिपि पद्धति और भारतीय संगीत के प्राचीन ग्रन्थों में किंन्चित व्यवहृत चिह्नों को लेकर एक सुव्यवस्थित एवं विशिष्ट स्वरलिपि का निर्माण किया। इस पद्धति को समझाने एवं प्रचलित करने के लिए उन्होंने भारतीय संगीत लेखन पद्धति के नाम से पुस्तक की रचना की। डॉ0 सुभद्रा चौधरी के अनुसार - "संगीतलिपि में उन्होने काफी प्रेरणा स्टाफ नोटेशॅन से ली। इस कारण वह कुछ कठिन तो जरूर हुई

Scanned with OKEN Scanner

किन्तु भारतीय संगीत की सूक्ष्मताओं का काफी हद तक अंकन इसमें हो सका।"4 वर्तमान काल में दक्षिण भारतीय संगीत की यह सर्वप्रमुख स्वरलिपि पद्धति है।

स्वरलिपि का सैद्धान्तिक वर्णन

तीनों सप्तकों के लिए पं0 विष्णुदिगम्बर पलुस्कर ने तीन प्रकोष्टको का प्रयोग किया है। नीचे से क्रमशः मंद्र, मध्य और तार को इनमें रखा हैं। उन्होंने स्वरों के छः रूप माने हैं तथा स्वरों को प्रदर्शित करने के लिए छः प्रकार के चिह्नों का प्रयोग किया हैं। स्वरलिपि लिखते हुए साधारणतः कोई चिह्न नही लगाया जाता। अगर किसी राग में केवल विकृत स्वरों का प्रयोग किया जाता है तो स्वरलिपि लिखने से पूर्व ही उनकी अवस्था का बोध करा दिया जाता हैं। परंतु कोमल शुद्ध और तीव्र स्वरों का एक साथ व्यवहार होने पर भी सभी छः चिह्नों का प्रयोग किया जाता हैं।

लय और ताल को प्रदर्शित करने वाले चिह्न

लय को मुख रूप से सात प्रकार से प्रदर्शित किया जाता है। विश्रांन्ति को बिन्दु के द्वारा दर्शाया जाता है। बिन्दु लगा देने से लयकारी डेढ़ गुनी कर दी जाती है। उच्चारण में भी विश्रांन्ति के लिए बिन्दु का ही प्रयोग किया जाता है। ताल का सम, खाली और ताली के लिए 1,2,3 अंको का प्रयोग किया जाता है। सम के लिए 1, ताली के लिए 2 और खाली के लिए 3 अंक का प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त ताल को दर्शाने के लिए अन्य कई प्रकार के चिह्नों का प्रयोग भी होता है। आर्वतन, स्थायी और अन्तरा आदि को पुनः दोहराने के चिह्न भी दिए गए है। इन्होंने पन्द्रह प्रकार के गमको के लिए भी चिह्नो का निर्धारण किया है।

स्वरलिपि का विकसित एवं व्यवहृत रूप

विष्णु दिगम्बर पलुस्कर के बाद इनके शिष्यों ने इस स्वरलिपि पद्धति को ही मूल आधार बना कर इसको परिवर्तित एवं संवर्धित करके आधुनिक एवं सरल व्यवहृत रूप प्रदान किया। इस दिशा में सर्व प्रथम कार्य पं0 विनायकराव पटवर्धन ने किया। पं0 विनायकराव पटवर्धन ने इसी स्वरलिपि पद्धति का प्रयोग अपनी पुस्तक **राग विज्ञान** के सातो भाग में किया है। इस दिशा में अन्य कार्य करने वाले पं0 ओमकारनाथ ठाकुर हैं। इन्होंने इस स्वरलिपि के आधार पर ही **संगीतांजली** नामक पुस्तक छः भाग में लिखी है।

विष्णुनारायण भातखण्डे स्वरलिपि पद्धति

स्वनिर्मित स्वरलिपि के आधार पर ही विष्णुनारायण भातखण्डे ने विभिन्न विद्वानों की रचनाओं, बन्दिशों अथवा चीजों को अपने प्रमुख ग्रन्थ क्रमिक पुस्तक मालिका के 6 भागों में लिपि बद्ध कर के संकलित अथवा सुरक्षित किया है। जिन वस्तुओं को योग्य एवं निपुण उस्ताद किसी को नही सिखाते थे, उनका संग्रह करके अत्यंन्त सरल स्वरलिपि में लिख कर छः भागों में पं0 भातखण्डे संगीत जगत के लिए छोड गए। परंम्परागत रागदारी गीत, ध्रुपद, धमार, ख्याल, तराने, ठुमरियां तथा टप्पे इत्यादि को सीख कर उन्होंने स्वरलिपि बद्ध किया। पं0 भातखण्डे ने सैकड़ो हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति की बन्दिशों को क्रमिक पुस्तक मालिका के रूप में प्रकाशित करवाया है। भारतीय संगीत में यह एक क्रान्तिकारी एवं महत्व पूर्ण कार्य था। भातखण्डे की स्वरांकन पद्धति को उत्तर भारतीय संगीत में व्यवहार में लाया जाता है, दक्षिण भारत में इसका प्रचार नही है।

स्वरलिपि पद्धति का सैद्धान्तिक विवेचन

इस पद्धति में शुद्ध स्वर के लिए कोई चिह्न नही होता। कोमल स्वरों के लिए एक "-" लेटी रेखा का प्रयोग किया जाता है, तीव्र स्वर के लिए खड़ी रेखा "।" का प्रयोग किया जाता है, तार सप्तक के लिए स्वर के ऊपर बिन्दु का प्रयोग किया जाता है, और मन्द्र सप्तक को दर्शाने के लिए स्वरों के नीचे बिन्दु का प्रयोग किया जाता है। इस पद्धति में मध्य सप्तक के लिए कोई चिह्न नही होता।

दोनों पद्धतियों का अन्तर्सम्बन्ध

सभी विद्वानों का मत है कि भातखण्डे पद्धति सरल और सुबोध है। इस दिशा में भारत सरकार ने

Scanned with OKEN Scanner

कुछ दिनों पूर्व यह प्रयत्न किया कि दोनों पद्धतियों के मध्य एक ऐसा सर्वमान्य रूप मान्य हो जाए, जिससे सम्पूर्ण देश का शिक्षण साहित्य एक रूप में ढल सके। "भातखण्डे के शब्दों में यदि देश की दोनों पद्धतियों का मिश्रण कर दिया जाए तो अधिक उत्तम रहेगा, इससे हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति का वर्णन करना और भी रोचक बन जाएगा। हमारे कलाकारों द्वारा सैकड़ो नवीन रागों का प्रचलन हो सकता है। अब वह समय आ गया है, जब देश की इन दोनों महान संगीत पद्धतियों में आवश्यक तथ्यों का आदान प्रदान हो।5" अतः वर्तमान समय में इन दोनों पद्धतियों के समन्वय से एक सरल और सैद्धान्तिक स्वरलिपि पद्धति का निर्माण किया जाना भविष्य में संगीत एवं संगीत साहित्य के लिए हितकर सिद्ध होगा।

सन्दर्भ सूची

1. संगीत शास्त्रचिंतन, प्रो0 लिपिका दासगुप्ता, वसु, पृ0 सं0 246।
2. संगीत शास्त्रचिंतन, प्रो0 लिपिका दासगुप्ता, वसु, पृ0 सं0 242।
3. पाश्चात्य स्वरलिपि पद्धति एवं भारतीय संगीत, डा0 स्वतंत्र शर्मा, पृ0 4-5, तृतीय संस्करण।
4. आधुनिक युग में भारतीय संगीत के पुनरूद्धार के प्रयत्न, डा0 सुभद्रा चौधरी, संगीत, जून 1970 पृ0 3।
5. क्रमिक पुस्तक मालिका, पं0 विष्णुनारायण भातखण्डे, संगीत कार्यालय हाथरस।

Scanned with OKEN Scanner

उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत में प्रयुक्त ताललिपि पद्धतियां : एक समीक्षात्मक अध्ययन

विवेक कुमार जैन

भारतीय शास्त्रीय संगीत आज दो रूपों में हमारे सामने है। पहला हिन्दुस्तानी तथा दूसरा कर्नाटकी। इन दोनों शैलियों का विकास एक दूसरे से पृथक तथा स्वतंत्र रूप से हुआ है। जहां तक ताल की बात है तो संगीत के संदर्भ में ताल शायद राग से भी अधिक मूलभूत तत्व है और इसी कारण प्राचीन संगीताचार्यों ने ताल को संगीत के प्राण रूप में परिभाषित किया है।

यद्यपि उत्तर तथा दक्षिण भारतीय दोनों ही पद्धतियों में ताल का समानान्तर रूप से विकास हुआ है परन्तु गहराई से देखने पर इनमें उतना ही अन्तर दिखाई देता है जितना एक वृक्ष की दो शाखाओं में होता है। कर्नाटक ताल पद्धति जहां अधिक वैज्ञानिक तथा गणित पर आधारित है वहीं उत्तर भारतीय ताल पद्धति अधिक भावपूर्ण और व्यवहारिक है।

जहां तक ताल लिपि के विकास का प्रश्न है तो नाट्यशास्त्र में प्राप्त अवनद्ध वाद्यों के पाटाक्षर संकेतों को हम तालिपि के आधार रूप में समझ सकते हैं। कालान्तर में तालों के विकास के साथ ही उनके बदलते स्वरूप को संरक्षित और संग्रहित करने के लिए तालिपि की आवश्यकता हुई होगी, फलस्वरूप तालिपि का जन्म हुआ। तालों के स्वरूप विकास के कारण संगीत में उनका महत्व बढ़ता गया और महत्व बढ़ने के कारण भविष्य हेतु उनको बचाये रखने की आवश्यकता ने तालिपि के विकास को बल दिया। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में तालिपि एक ऐसा उपकरण है जो हमें तालों के ऐतिहासिक अध्ययन, शैक्षणिक अध्ययन के साथ ही तालों के ढांचागत स्वरूप तथा उनके क्रमिक विकास की प्रामाणिक जानकारी प्रदान करता है। आज उत्तर तथा दक्षिण भारतीय पद्धतियों में तालांकन की अलग-अलग प्रणाली प्रचार में है। जिनके माध्यम से उत्तर तथा दक्षिण में तालों के स्वरूप तथा उनकी वादन सामग्री का तालांकन किया जाता है। प्रपत्र विस्तार की सीमा का ध्यान रखते हुए यहां केवल उत्तर भारतीय संगीत में प्रचलित प्रमुख ताल लिपि पद्धतियों की ही चर्चा करना उचित होगा। भैरवी के आगामी अंक में दक्षिण भारतीय ताल लिपियों पर विस्तृत चर्चा का यथासामर्थ्य प्रयास किया जायेगा।

तालिपि के विकास के क्रम में अनेक विद्वानों ने अपनी-अपनी तालिपियां बनायी जिसमें भृगुनाथ वर्मा, पं0 ओंकार नाथ ठाकुर तथा राजा नवाब अली की तालिपियां अधिक प्रचार में रहीं। वर्तमान में पं0 विष्णु दिगम्बर पलुस्कर द्वारा प्रवर्तित पलुस्कर ताल पद्धति तथा पं0 विष्णु नारायण भातखण्डे कृत भातखण्डे तालिपि पद्धति ही प्रमुख रूप से प्रचार में है।

विष्णु दिगम्बर तालिपि पद्धति :-

इस पद्धति में लगभग सभी मात्राओं के चिह्न हैं इसलिए यह पद्धति अन्य पद्धतियों की तुलना में अधिक वैज्ञानिक है। इसके प्रमुख चिह्न इस प्रकार हैं।

* शोधार्थी, बी.एच.यू., वाराणसी

Scanned with OKEN Scanner

सम - 1
खाली - +
विभाग के लिए मात्रा संख्या जैसे 5, 13
चार मात्रा के लिए - X
दो मात्रा के लिए - ›
एक मात्रा के लिए - ----
आधी मात्रा के लिए - व
चौथाई मात्रा 1/4 के लिए - ल
1/8 मात्रा के लिए - ∪
1/16 मात्रा के लिए - ∪̲

इस पद्धति में जिस वर्ण के आगे एक बिन्दु लगा दें उसकी मात्रा डेढ़ गुनी हो जायेगी जैसे 'धा' तीन मात्रा का होगा। वर्ण को लंबा करने के लिए उसमें या तो उतनी मात्रा का चिह्न लगाते हैं या अवग्रह लगाकर उसके नीचे उतनी मात्रा का चिह्न लगाते हैं जैसे दिं ऽ ऽ ता ऽ। यहां पर दिं तीन मात्रा और ता दो मात्रा का होगा। इस पद्धति की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें भातखण्डे पद्धति के समान विभाग का चिह्न नहीं होता। आवर्तन समाप्त होने पर एक बड़ी रेखा खींचते हैं। उदाहरणस्वरूप ताल झूमरा को दुगुन में पलुस्कर पद्धति में इस प्रकार लिपिबद्ध किया जायेगा।

धिं धा ति र कि ट धिं धिं धा गे ति र ति ट तिं ता ति र कि ट धिं धिं धा गे ति र कि ट त धिं धा ति र कि ट धिं धिं धा गे ति र कि ट तिं ता ति र कि ट धिं धिं धा गे ति र कि ट।

तालांकन की व्याख्या :-

पलुस्कर पद्धति के इस तालांकन में धिं धा इन दो वर्णो के बीच आधी मात्रा का चिह्न (0) है। अतः इन दोनों को मिलाकर एक मात्रा बनीं फिर तिरकिट इन वर्णों के नीचे 1/8 मात्रा का चिह्न है। अतः इन चारों को मिलाकर (1/8 + 1/8 + 1/8 + 1/8 = 1/2) आधी मात्रा बनी और इसमे आगे के धिं जो आधी मात्रा का है, उसे जोड़ने से एक मात्रा अर्थात् कुल दो मात्राएं पूरी हुई। अब धिं की आधी मात्रा और धा गे की (1/4 + 1/4 = 1/2) मात्रा को मिलाकर तीसरी मात्रा पूरी हुई। इसके बाद तिरकिट (1/8 + 1/8 + 1/8 + 1/8 = 1/2) की कुल आधी मात्रा तथा तिं की आधी मात्रा मिलाकर चौथी मात्रा हुई। इसके बाद ता की आधी मात्रा और तिरकिट (1/8 + 1/8 + 1/8 + 1/8 = 1/2) की आधी मात्रा मिलाकर पांचवीं मात्रा बनी। पश्चात् धिं धिं (1/2 + 1/2) जोड़कर एक मात्रा हुई। इस प्रकार छठीं मात्रा बनी। इसके बाद धा गे जो कि (1/4 + 1/4 = 1/2) आधी मात्रा का है उसमें तिरकिट (1/8 + 1/8 + 1/8 + 1/8 = 1/2) की आधी मात्रा जोड़कर सातवीं मात्रा बनी। इसमें धिं धा (1/2 + 1/2 = 1) मात्रा जोड़कर आठवीं मात्रा बनी। इसके बाद तिरकिट (1/8 + 1/8 + 1/8 + 1/8 = 1/2) मिलाकर आधी मात्रा बनी और उसमें धिं की आधी मात्रा जोड़ने से नौवीं मात्रा पूरी हुई। पश्चात् धिं की आधी मात्रा और धागे की (1/4 + 1/4 = 1/2) आधी मात्रा जोड़कर दसवीं मात्रा बनी। (1/8 + 1/8 + 1/8 + 1/8 = 1/2) मात्रिक तिरकिट में तिं की आधी मात्रा जोड़कर ग्यारहवीं मात्रा हुई। ता की आधी मात्रा में तिरकिट की आधी मात्रा जोड़कर बारहवीं मात्रा बनी। इसके बाद धिं धिं जो कि आधी आधी मात्रा का वर्ण है मिलाकर तेरहवीं मात्रा बनी तथा अन्त में चौथाई-चौथाई मात्रा के धागे इन दो वर्णों में (1/8 + 1/8 + 1/8 + 1/8 = 1/2) मात्रिक तिरकिट वर्ण के योग से चौदहवीं मात्रा पूरी हुई। इस प्रकार कुल 14 मात्राओं के झूमरा ताल को दुगुन की लय में पलुस्कर पद्धति में लिपिवद्ध किया गया।

झूमरा ताल के इस तालांकन को देखने से यह स्पष्ट होता है कि यह पद्धति वैज्ञानिक दृष्टि से तो उपयुक्त अवश्य है परन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से कम उपयुक्त प्रतीत होती है। केवल दृष्टि मात्र डालने से ताल में विभागों के संख्या, विभागों में मात्राओं की संख्या तथा प्रत्येक मात्रा में बोलों की संख्या तथा उनके पढ़न्त का ढंग इत्यादि का इसमें सरलतापूर्वक बोध नहीं होता। इन्हें समझने के लिए तालांकन के तकनीकी पक्षों को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक चिह्न की क्रियाओं को ध्यानपूर्वक समझने की आवश्यकता है।

भातखण्डे ताल-लिपि पद्धति :-

यह पद्धति उत्तर भारत में प्रचलित समस्त ताल पद्धतियो में सर्वाधिक लोकप्रिय तथा प्रचलित

Scanned with OKEN Scanner

है। अधिक व्यावहारिक होने के कारण यह पद्धति वर्तमान में प्रचलित पलुस्कार ताल पद्धति की तुलना में अधिक लोकप्रिय है। इसके प्रमुख चिह्न इस प्रकार है :-

सम - x
खाली - 0
विभाग - ।
ताली - ताली की संख्या 2,3,4 इत्यादि

आधी मात्रा - धाधा बराबर विभाजन से प्रत्येक धा की आधी मात्रा होगी ∪ एक मात्रा का चिह्न है।

चौथाई मात्रा - तिरकिट बराबर विभाजन से प्रत्येक वर्ण 1/4 मात्रिक होगा। कुल मिलाकर एक मात्रा पूर्ण है।

दो मात्रा - धा ----
चार मात्रा - धा - - -

इस पद्धति में एक मात्रा में जितने बोलों का समावेश होता है उसे एक अंडरलाईन से घेर देते हैं जैसे तिरकिट तकिट। किन्तु जहां एक मात्रा में केवल एक वर्ण बोला या बजाया जायेगा वहां अर्द्धचन्द्र नहीं होगा। एक वर्ण के एक मात्रा या उससे अधिक में कर्षण के लिए अवग्रह 'S' का प्रयोग किया जाता है। उदाहरण स्वरूप झूमरा ताल भातखण्डे पद्धति में इस प्रकार लिपिबद्ध किया जाएगा।

धीं ऽधा तिरकिट। धीं धीं धागे तिरकिट।
x 2
तिं ऽता तिरकिट। धीं धीं धागे तिरकिट।
0 3

तालांकन की व्याख्या :-

जैसा इस तालांकन को देखने से ही स्पष्ट है कि एक से अधिक वर्णों को एक मात्रा में रखने के लिए अंडरलाइन का प्रयोग हुआ है तथा एक मात्रा में एक वर्ण के नीचे किसी भी चिह्न का प्रयोग नहीं है तथा एक मात्रिक वर्ण के दूसरी मात्रा में कर्षण के लिए अवग्रह का प्रयोग हुआ है। इसमें प्रथम वर्ण धिं डेढ़ मात्रो का है। इसी कारण एक मात्रे के बाद दूसरी मात्रा में उसके कर्षण के लिए 'S' चिह्न का प्रयोग हुआ है। तथा उसके बाद का 'धा' अवग्रह के साथ अंडरलाईन में लिखे जाने के कारण अर्द्धमात्रिक हुआ। अतः प्रथम डेढ़ मात्रिक धिं तथा उसके बाद आधे मात्रा का धा मिलकर दो मात्राएं हुई। इसके बाद तीसरी मात्रा के अर्द्धचन्द्र में तिरकिट इन चार वर्णों का समावेश है। बराबर-बराबर विभाजित करने पर प्रत्येक वर्ण चौथाई मात्रा का होगा। चौथी मात्रा धीं पांचवीं मात्रा धीं तथा छठी मात्रा में पुनः दो वर्ण है। अतः प्रत्येक में बराबर विभाजन से 'धागे' आधी-आधी मात्रा का हुआ। सातवीं मात्रा में तिरकिट चार वर्ण है बराबर विभाजन से प्रत्येक वर्ण 1/4 मात्रिक है। आठवीं मात्रा तिं डेढ़ मात्रिक होने के कारण इसका कर्षण नौवीं मात्रा में अवग्रह के रूप में प्रथम मात्रा धिं के समान हुआ है। नौवीं मात्रा में तिं के अवग्रह के साथ अगला वर्ण ता प्रयुक्त होने के कारण बराबर विभाजन से यह अर्द्धमात्रिक वर्ण हुआ। दसवीं मात्रा में तिरकिट चार वर्ण होने से प्रत्येक चौथाई मात्रा का होगा। पश्चात् 11वीं मात्रा धिं, बारहवीं मात्रा धिं एक मात्रिक वर्ण तथा तेरहवीं मात्रा धागे दो मात्रिक वर्ण होने के कारण आधी-आधी मात्रा का होगा तथा अंतिम चौदहवीं मात्रा में तिरकिट ये चार वर्ण होने के कारण एक मात्रा को चार भागों में बांटने पर प्रत्येक वर्ण चौथाई मात्रा का होगा। इस प्रकार भातखण्डे पद्धति में झूमरा ताल की चौदह मात्राओं का दिग्दर्शन होता है।

इस तालांकन को देखने से ही इसकी सरलता का बोध हो जाता है। मात्राओं के बीच खड़ी लाइनों के प्रयोग से ही प्रत्येक विभाग की सीमा (लम्बाई) तथा ताल में हर विभाग अलग-अलग सुस्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। साथ ही अर्द्धचन्द्र में पृथक-पृथक मात्राओं के बोलों का गठन तथा दो मात्राओं के बीच पर्याप्त दूरी होने के कारण एक मात्रा (अर्द्धचन्द्र) में वर्णो की संख्या तथा इस आधार पर ताल में कुल मात्राओं की संख्या का सरलतापूर्वक बोध हो जाता है, ताल में प्रयुक्त प्रत्येक वर्ण कितनी मात्रा का है इसके लिए वर्णों के नीचे उनके मात्रा चिह्न की व्यवस्था न होने से यह जानकारी पलुस्कर पद्धति में आसानी से हो जाती है क्योंकि उसमें प्रत्येक वर्ण के नीचे उसकी मात्रा का चिह्न लगाया जाता है। सम तथा खाली के सन्दर्भ में दोनों

Scanned with OKEN Scanner

पद्धतियों में चिह्न अलग-अलग हैं परन्तु सुविधा की दृष्टि से स्थिति एक जैसी है। ताली के सन्दर्भ में भी दोनों पद्धतियों में संख्या संकेत अलग-अलग हैं। ताली की जगह भी संख्या संकेत के कारण समान रूप से स्पष्ट है परन्तु भातखण्डे पद्धति में ताली के बोलों के नीचे ताली की संख्या लिखी जाती है जिससे उस वर्ण पर कौन सी ताली है, इसका ज्ञान तुरन्त हो जाता है। जबकि पलुस्कर पद्धति में ताली के वर्ण के नीचे उस ताली की संख्या न लिखकर ताल में उस वर्ण की मात्रा संख्या दर्शायी जाती है जिससे ताल की किन-किन मात्राओं पर ताली है, यह तो स्पष्ट हो जाता है परन्तु ताली स्थान पर ताली की संख्या अर्थात कौन सी ताली है इसका ज्ञान असम्भव नहीं तो थोड़ा मुश्किल अवश्य है। दूसरी ओर भातखण्डे पद्धति में ताली स्थान से उस ताली की संख्या तो पता चलती है परन्तु ताली ताल की कौन सी मात्रा पर है यह जानने के लिए ताल की पहली मात्रा से ताली स्थान तक की मात्राओं को गिनना पड़ता है जबकि पलुस्कर पद्धति में ताली के नीचे मात्रा संख्या लिखी होने से गणना की आवश्यकता नहीं रह जाती।

मेरे विचार से मात्रा चिह्नों की दृष्टि से पलुस्कर पद्धति अधिक समृद्ध है। इसमें हर प्रकार की मात्रा को दर्शाने के लिए अलग-अलग संकेत चिह्नों की व्यवस्था है इसलिए अधिक वैज्ञानिक भी है परन्तु जहां तक बोधगम्यता की बात है तो भातखण्डे पद्धति अधिक सुबोध प्रतीत होती है। सम्भव है कि चिह्नों के परिमार्जित प्रयोग के कारण उनमें कम अवधान रखने की मनोवृत्ति ने इसे अधिक प्रयोग सम्मत बना दिया हो। पलुस्कर पद्धति में प्रत्येक वर्ण के नीचे उसका मात्रा संकेत समानान्तर रूप से लिखे जाने के कारण इसमें प्रत्येक मात्रा का गठन सहज रूप से स्पष्ट नहीं हो पाता तथा प्रत्येक मात्रा की सीमा का पता लगाने के लिए वर्णों के नीचे दिये संकेतों के अनुसार उन्हें जोड़ना पड़ता है। जबकि भातखण्डे पद्धति में प्रत्येक मात्रा की सीमा का बोध अर्द्धचन्द्र की व्यवस्था के कारण सहज रूप से हो जाता है। उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत में श्रृंगारिकता (भावात्मकता) के साथ सहजता (व्यावहारिकता) इसकी अन्य प्रमुख विशेषता रही है और शायद इसी सहजता के गुण को अपने भीतर समाहित रखने के कारण भातखण्डे पद्धति आज सर्वाधिक प्रचार में है।

जहां तक ताल लिपि के औचित्य का प्रश्न है तो ताल लिपियां कितनी भी क्यों न हों, भले ही उनमें तालांकन का तरीका अलग-अलग हो परन्तु अपने मूल उद्देश्य की पूर्ति में वे एक ही हैं क्योंकि तालांकन का उद्देश्य संगीत जिज्ञासु, प्रशिक्षु विद्यार्थी तथा शोधार्थी को ताल के ढांचागत स्वरूप, उनके पाटाक्षर, विभाग तथा ताली-खाली आदि की जानकारी प्रदान करना है, उनका पथ प्रदर्शन करना है। बंदिशों को समझने के परिप्रेक्ष्य में भी ताल लिपि एक मार्गदर्शिका के रूप में कार्य करती है। जिस प्रकार किसी भवन का नक्शा हमें उस भवन के विभिन्न हिस्सों, भवन में उनके स्थान, आकार-प्रकार इत्यादि की जानकारी प्रदान करता है किन्तु भवन के वास्तविक सौन्दर्य और रूप-सज्जा की गहराई को समझने के लिए हमें भवन में जाकर ही उसका अवलोकन करना पड़ेगा। ठीक उसी प्रकार लिपिबद्ध ताल अथवा बंदिशें एक आधार रूप हैं जिससे उन रचनाओं को समझा तो जा सकता है किन्तु उनके वास्तविक सौन्दर्य की गहराई को सीखने-समझने के लिए हमें उसे गुरूमुख से ही प्राप्त करना होगा क्योंकि हमारा भारतीय संगीत गुरू-शिष्य परम्परा पर आधारित एक दृश्य-श्रव्य विद्या (Oral tradition) है जिसका अन्य कोई विकल्प नहीं।

सन्दर्भ सूची

1. भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन, अरूण कुमार सेन, पृ0सं0 219-222
2. तबला प्रकाश, बी.एल. यादव, पृ0सं0 50-53
3. तबला पुराण, पं0 विजय शंकर मिश्र, पृ0सं0 111-112

Scanned with OKEN Scanner

वैदिक कालीन स्वरलिपि पद्धति

डॉ. शोभित कुमार नाहर

अपनी बौद्धिक संपदा को बढ़ाने के लिए मनुष्य प्राचीन काल से ही सतत् प्रयत्नशील रहा है और इसी के फलस्वरूप विभिन्न शास्त्र तथा कलाओं का आविष्कार हुआ। इस ज्ञान संपादन की क्रिया में मनुष्य ने सर्वप्रथम भाषा को विकसित किया जिसके फलस्वरूप वह एक सामाजिक प्राणी बना तथा भाषा के विकास के पश्चात् अपने द्वारा संपादित ज्ञान को चिरन्तन बनाने के लिए उसने लिपि का आविष्कार किया। जिसके परिणामस्वरूप ज्ञान का हस्तांतरण पीढ़ी- दर-पीढ़ी होता चला गया। पूर्वजों ने इस लिपि पद्धति के कारण अपने अनुभव, ज्ञान साहित्य, कल्पनाएं, इतिहास तथा कलाएं सभी विषयों के बारे में अपने विचार एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाया जो हमारे लिए अमूल्य निधि के साथ-साथ मार्गदर्शक भी सिद्ध हुआ।

वैसे तो संगीत की उत्पत्ति सृष्टि के आरम्भ से ही मानी गई है परन्तु उसका विकास भाषा के विकास के ही साथ हुआ। क्योंकि दोनों में ही समानता है वर्णो एवं शब्दों की। संगीत के स्वर भाषा से ही लिए गये है जिस प्रकार भाषा को व्यवस्थित एवं चिरन्तन बनाने के लिए लिपि पद्धति का आविष्कार किया गया उसी प्रकार संगीत को भी व्यवस्थित, विकसित एवं चिरन्तन बनाने के लिए एक लिपि पद्धति का आविष्कार किया गया जो स्वरलिपि पद्धति कहलाई।

स्वरलिपि पद्धति गीत या गत लेखन की वह पद्धति है जिसमें उसमें लगने वाले स्वरों (शुद्ध एवं विकृत), उनकी तारता, मन्द्रता के अनुसार, प्रयुक्त किये गये ताल के साथ संकेत चिह्नो के रूप में लिखा जाता है। साथ ही कण, मींड़, गमक इन हरकतों को भी विशिष्ट चिह्नों के साथ ही लिखा जाए जिनके कारण गीत में सुन्दरता आती है। स्वरलिपि, संगीत को चिरस्थायी बनाने की वह लिपि है, वह भाषा है जो संकेत चिह्नों के माध्यम से गायन तथा वादन में प्रयुक्त बंदिशों तथा गतों की उसमें प्रयुक्त स्वर ताल तथा विशिष्ट हरकतों को दर्शाती है तथा एक धरोहर के रूप में संगीत के प्रायोगिक पक्ष को लिखित रूप में सुरक्षित रखती है।

भारतीय स्वरलिपि की श्रृंखला का क्रम कब आरभ हुआ यह निश्चित रूप से कह पाना तो कठिन है परन्तु जैसा कि सर्वविदित है कि संगीत के इतिहास का प्रथम पृष्ठ सामगान से आरंभ होता है। अतः हम यह मान लेते है कि वेद की स्वराकंन प्रणाली ही संसार में सबसे प्राचीन है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी यह स्वीकार किया है। इनसाइ-क्लोपीडिया में स्पष्ट रूप से यह लिखा गया है कि संभवतः स्वरलिपि का प्रथम प्रयास हिन्दुओं और चीनियों द्वारा किया गया तत्पश्चात यह प्रथा यूनान को गई। सामगान को सुरक्षित रखने के लिए संगीत महर्षियों ने सस्वरांकन का प्रारंभ किया। यही स्वरलिपि पद्धति का प्रारंभ हुआ।

वैदिक काल स्वरों की उत्क्रांति का काल भी रहा है। वैदिक काल में मुख्यतः तीन स्वर उदात्त, अनुदात तथा स्वरित थे। ऋगवेद के मंत्रों का पठन इन्ही तीन स्वरों के आधार पर होता था। ये तीनों स्वर क्रमशः सप्तक निदर्शक भी थे क्योंकि उदात्त का सम्बंध उच्चश्रुतिक स्वर से, अनुदात्त का

522/13 ई./1, बेली कॉलोनी, इलाहाबाद

Scanned with OKEN Scanner

निम्नश्रुतिक से तथा स्वरित का मध्य सप्तक से था। वेद में उदात्त अनुदात्त तथा स्वरित स्वरों का इतना महत्व था कि भ्रांति निवारण के लिए इनके चिह्न भी बना लिए गऐ थे जिन्हें मंत्रों के वर्णों पर अंकित कर दिया गया। ऋगवेदकालीन स्वरांकन पद्धति इस प्रकार थी -

अक्षर के नीचे रेखा
अक्षर के नीचे रेखा

1. (-) - अनुदात्त स्वर
2. (1) - स्वरित स्वर

जिसके पूर्व में अनुदात्त हो या जिसके पूर्व कोई स्वर न हो ऐसा चिह्न रहित अक्षर उदात्त स्वर होता था।

तीन स्वरों से सात स्वरों का विकास सामगान का वैशिष्टय था। सामगान में स्वरांकन की प्रचलित पद्धति अंकों के आधार पर स्वरों का संकेत करना था। भारतीय संगीत के इतिहास में भगवत शरण शर्मा जी ने सामगान की स्वरलिपि का वर्णन इस प्रकार किया है। उनके अनुसार सामगान में प्रयुक्त ऋचाओं को लिखने की परम्परा ऋक अंकों से भिन्न हैं। इनमें 1 से 7 अंकों का प्रयोग मिलता है। 1, 2, 3, 4, 5, 6 ये अंक क्रमशः प्रथम, द्वितीय तृतीय, चतुर्थ, मंद्र और अतिस्वार के लिए प्रयक्त हुए है। मंत्रों के ऊपर अंकों में स्वरांकन स्वर के शुद्ध रूप के द्योतक तथा मंत्राक्षरों के बीच के स्वरांकन स्वर के विकृतावस्था बाधक है। इन अंकों के अतिरिक्त कुछ अन्य चिह्नों के प्रयोग भी गान ग्रंथों में मिलते है जिनका सांकेतिक अर्थ इस प्रकार है-

1. र : अक्षर के स्वर को दीर्घ करना
2. उ : उच्च स्वर का द्योतक
3. क : नीच " " "
4. -- -- स्वर को बढ़ाना
5. पूर्ववर्ती वर्ण की ध्वनि अन्तिम अवग्रह तक जारी रखना।
6. पूर्ववर्ती वर्ण की ध्वनि को जारी रखना।
7. कौथुम शाखा का स्वर लेख कुछ भिन्न है। इसमें क्रुष्ट के लिए 11 अंक दिये गये है।

यह स्वरांकन इस प्रकार था

11 1 2
4 5 6 3

क्रुष्ट प्रथम द्वितीय तृतीय चतुर्थ
मन्द्र अतिस्वार्य
प म ग रे
नि ध स

सागमान की स्वरलिपि इस प्रकार है-

332त्यमूषु 312वाजिनं 312/1देवजूतं
312/3सहोवान 1321 तरुतारं (2)
रथानाम्

5 4ओ ऽम् ।स नि ऽ रे 5 2त्यू मू।ा
सा सा 2 2 वा जि ।म ऽ म ना ऽ
2345 म् ।ग म ऽ ग ऽ रे ऽ स

1 र 2 रदै व तूम म म 3 त्त त्त त्ता 2 3 4
म् ।ग ऽ म ऽ ग ऽ रे 5 2 ओ 2 12स
हो वा न ता ।स स ग म प ।। त्त्र खा
3 ।। म ऽ म ग
2 3 4 5
र था ना म्
म ऽ ग रे सा

इस प्रकार हम देखते है कि स्वरलिपि पद्धति की उत्पत्ति वैदिक काल में सामगान के रूप में हुई। और काफी विकास भी दृष्टव्य हुआ परन्तु स्वरलिपि में तालिपि का अंकन नहीं हुआ संभवतः ये मन्त्र हाथ से ताल देकर मौखिक रूप से सिखाए जाते है।

सन्दर्भ सूची

1. भारतीय संगीत का इतिहास - भगवत शरण शर्मा पृ. 98
2. भारतीय संगीत शास्त्र - तुलसी राम देवागंन पृ. 38-39
3. भारतीय संगीत वाद्य- डॉ. लालमणि मिश्र
4. भारतीय संगीत कोष- विमलकांत राय चौधरी
5. भारतीय संगीत का इतिहास- ठा. जयदेव सिंह

Scanned with OKEN Scanner

परंपरा, प्रतिभा एवं नवीन सृष्टि- एक सांगीतिक समीक्षा

कु॰ पूनम श्रीनाथन

भारतीय विचारधारा के अनुसार संगीत को ललित कला के अन्तर्गत समाहित किया है। भारतीय संगीत अन्य कलाओं की अपेक्षा सूक्ष्मतम व सर्वश्रेष्ठ है। संगीत के मुख्य उपकरण स्वर व लय अमूर्त हैं परिणामतः इनसे निखरी कला भी अमूर्त व गतिशील है। यदि हम फिर भी इन्हें मूर्त रूप प्रदान करने की कोशिश करें तो सहज रूप से दो रूप हमारे सामने आते हैं-

1. स्वर रूप
2. भाव रूप

सूक्ष्मतम रूप ही भाव रूप है। संगीत का प्राणतत्व 'स्वर', जब 'धातु' और 'अंगों' से बद्ध होता है तो उसका स्वर रूप व भाव रूप भी प्रकट हो जाता है। इस कार्य को कुशलतापूर्वक परिणित करने वाले को हम 'कलाकार'की संज्ञा देते हैं । 'कलाकार' शब्द को संधि-विच्छेद करने पर हमें कला व आकार, इन दो शब्दों की प्राप्ति होती है। इसके अर्थ निरूपण की कोशिश करें तो हम यह कह सकते हैं कि जो किसी कला को एक आकार प्रदान करे, वही कलाकार कहलाता है। इस प्रयास में उसकी कल्पना व प्रतिभा काम आती है। यह दोनों ही गुण उसके नैसर्गिक गुण होतें हैं जिनके माध्यम से वह अपने मन को भावों को प्रकट करता है। परंतु किसी भी कला के मूल तत्व के ज्ञान के बिना क्या कला के विकास में योगदान दिया जा सकता है?। जिस प्रकार भवन-निर्माण के लिए नींव की आवश्यकता होती है उसी प्रकार प्रतिभा के विकास के लिए परंपरा की आवश्यकता होती है। इन्हीं मूल तत्वों का ज्ञान हमें परम्परा से प्राप्त होता है। परंपरा ही वह आधार है जिस पर प्रतिभा सृजनात्मकता की ओर अग्रसरित होती है। सांगीतिक क्षेत्र में गुरू-शिष्य परंपरा ही वह माध्यम है जो प्रतिभा को सही दिशा देती है व मार्ग प्रशस्त कराती है। परम्परा प्रतिभा को कला सृजन के निश्चित नियमों व सिद्धांतो से परिचित कराती है। प्रतिभा का लक्षण ही यों कहा गया है:- **नवनवोन्मेषशलिनी बुद्धिः प्रतिभा**। प्रतिभा का धर्म ही यह है कि वह नया साधती रहती है परंतु संस्कृति अथवा आधार के बिना प्रतिभा की धारणा ही संभव नहीं। नवीन सृष्टि के लिए, प्रतिभा व परम्परा दोनों का योग होना आवश्यक है। संगीत घरानों का जन्म इसी मेल का परिणाम है। गुरू-शिष्य परम्परा में गुरू अपने प्रत्येक शिष्य को एक समान ही संगीत की शिक्षा देता है परन्तु प्रत्येक शिष्य की अपनी अलग शैली विकसित होती है। किसी की रूचि आलाप में अधिक होती है तो कोई तानों की तैयारी में विशेष ध्यान देता है। किसी की प्रस्तुति बहुत ही भावपूर्ण होती है तो किसी की प्रस्तुति ओजपूर्ण होती है। यह विविधताएं अलग कल्पनाशीलता व सृजनात्मक क्षमता की वजह से ही होती है। उपरोक्त विशिष्ट शैलियों में से कुछ शैलियों को परम्परागत रूप में ग्राह्य कर, अपनाने से घरानों का जन्म हुआ।

संगीत को नित नवीन बनाए रखने में प्रतिभा व परंपरा दोनों का सहयोग नितांत आवश्यक है। चूंकि प्रतिभा पर कलाकार के आंतरिक भावों व बाह्य वातावरण का प्रभाव परोक्ष व अपरोक्ष रूप से पड़ता

शोध छात्रा, जे॰ आर॰ एफ॰/यू॰ जी॰ सी॰, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

Scanned with OKEN Scanner

है अतः उससे होने वाली नवीन सृष्टि पर भी इसका असर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। आंतरिक प्रभाव की बात करें तो उदाहरण के लिए राग यमन को लेते हैं। परम्परा रूप में यमन के राग रूप तो निश्चित है फिर भी विभिन्न प्रस्तुतियों में हमें नवीनता का आभास होता है क्योंकि यह विविधता प्रत्येक कलाकार के मन में निहित विविध भावों के कारण प्रकट होती है। स्वर रूप तो निश्चित होंगे परन्तु भाव रस रूप नवीन होगा। वातावरण अथवा परिस्थितियों की अनुकूलता व प्रतिकूलता का भी प्रतिभा के विकास पर सीधा असर पड़ता है। प्रतिभा के विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियों का होना अति-आवश्यक है। संगीत के इतिहास पर नजर डालें तो पता चलता है कि संगीत कभी भी एक जैसा नहीं रहा। इसके कई रूप हमारे सामने आए। प्राचीन वैदिक संगीत से अधुनिक संगीत की इस यात्रा में सर्वदा नवीनीकरण की प्रक्रिया चलती रही। विभिन्न रागों की सृष्टि हुई, विभिन्न गायन शैलियों का प्रादुर्भाव हुआ, विभिन्न वाद्य यंत्रों और तालों का निर्माण हुआ। यही क्रम चलता आया है और आगे भी चलता रहेगा क्योंकि संगीत तो गतिशील है और जो गतिशील है उसमें नवीनीकरण तो सहज है।

Scanned with OKEN Scanner

जैन संस्कृति : सांगीतिक अवदान

विशाल जैन

जैन धर्म एक परिचय :

भारतीय इतिहास एवं दर्शन का एक प्रमुख पड़ाव जैन धर्म को माना जाता रहा है। भगवान ऋषभदेव (आदिनाथ) को इस धर्म का प्रथम तीर्थंकर माना जाता है एवं कालांतर में 24 तीर्थंकरों द्वारा इस धर्म का संरक्षण एवं संवर्धन हुआ। भगवान पार्श्वनाथ 23वें एवं भगवान महावीर अंतिम चौबीसवें तीर्थंकर हुए। जैन धर्म आचरण की शुचिता एवं कर्म पर बल देता है। मनुष्य मात्र ही अपने कल्याण का नियामक हैं, ऐसी मान्यता है। इस धर्म के अनुयायी मुनि, श्रावक आदि कहलाए, जिनमें मुनि सन्यस्त जीवन व्यतीत करते थे एवं गृहस्थों हेतु श्रावक धर्म निश्चित किया गया। सभी तीर्थंकरों की पृष्ठभूमि क्षत्रिय होने के बावजूद वणिक जनों में इस धर्म की वृद्धि हुई। आज भारतवर्ष में लाखों जैन अनुयायियों को सुखी संपन्न समाज की श्रेणी में जाना जाता है।

जैन मुनियों की कठिन साधना के फलस्वरूप उनके द्वारा महत्वपूर्ण साहित्य सर्जना हुई, जिनमें संगीत आदि कलाओं की विशद व्याख्या हुई। श्री अंबादत्त पंत के शब्दों में, "जैनों ने अपभ्रंश साहित्य की सुरक्षा में बहुत योग दिया है, इनका साहित्य बड़ा सम्पन्न है, जैनियों ने दार्शनिक ग्रंथों के अतिरिक्त काव्य, नाटक, व्याकरण, आयुर्वेद, ज्योतिष, कोष, छंद, अलंकार, गणित तथा राजनीति आदि विषयों पर भी लिखा है। बौद्धों की अपेक्षा वे इस क्षेत्र में अधिक असांप्रदायिक है। फिर गुजराती, हिन्दी, राजस्थानी, तेलगु, तमिल और विशेष रूप से कन्नड़ी साहित्य में उनका योगदान अत्यधिक है।"[1] संस्कृत के अतिरिक्त पाली, प्राकृत, अपभ्रंश साहित्य में जिन विभिन्न कला विषयक संदर्भों की प्राप्ति हुई है, उनमें जैन ग्रंथ प्रमुखतम है।

प्रमुख जैन ग्रंथ एवं तत्संबंधी सांगीतिक संदर्भ

जैनियों के ठाणांग सूत, रायापसेणीय एवं कल्पसूत्र में संगीत संबंधी प्रचुर सामग्री पाई जाती है, ठाणांग सूत एवं अनुयोग द्वार सूत इस दृष्टि से विशेष अवलोकनीय है। रायापसेणीय के अनुसार आचार्यों के तीन वर्ग थे, कलायरिय- अर्थात् कलाचार्य; सिप्पायरिय अर्थात् शिल्पाचार्य तथा धम्मायरिय अर्थात् धर्माचार्य। गुरु सुश्रुषा तथा धन दान से विद्या ग्रहण की जा सकती थी।[2] जैन ग्रंथों में नायाधम्मकहा, उत्तराध्ययन टीका, पिंडनिज्जुति, वियाहपण्णटि, जीवाभिगम, जंबुदीवपण्णति, अनुयोगसूत, जयानंद देवल चरित्र, जैन हरिवंश, पूर्वगतस्वरप्राभृत आदि ग्रंथों में वाद्य, नृत्य एवं विविध सांगीतिक संदर्भों की प्राप्ति होती है।

जैन रास परंपरा

जैन धर्म मनुष्य के आचरण पर बहुत बल देता है। जो व्यक्ति सद्धर्म पालक हो और प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से परहित चिंतन में संलग्न हो, वह जैन समाज में पूज्य माना जाता है। ऐसे पूज्य मुनियों की उपदेशप्रद जीवनी के आधार पर कवियों ने अनेक श्रव्य-काव्य और दृश्य काव्यों की रचना की। चरित काव्यों के कई प्रकार दिखाई देते हैं, जिस प्रकार विलास, रूपक, प्रकाश आदि नामों से चरित काव्यों

शोध छात्र, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

Scanned with OKEN Scanner

की रचना हुई, उसी प्रकार रासो या रासक नाम देकर भी चरित काव्य लिखे गए।[3] जैन-रासो परम्परा में तीर्थंकर की यश-स्तुति का वर्णन होता था एवं उसका गायन-नृत्यादि के साथ प्रयोग होता था। कालांतर में वैष्णव रास परम्परा को ही प्रमुख रूप से जाना गया, किन्तु जैन परम्परा में रास की अत्यन्त प्राचीन परम्परा दिखाई पड़ती है।

जिस प्रकार वैष्णव रास का सर्वप्रथम नामोल्लेख एवं विवरण हरिवंशपुराण में उपलब्ध है, उसी प्रकार प्रथम जैन रास का संकेत देवगुप्ताचार्य विरचित नवतत्व प्रकरण के भाष्यकार अभयदेवसूरि की कृति में विद्यमान है।[4] दसवीं शताब्दी में मुकुटसप्तमी, माणिक्यप्रस्तारिका, अंबिका देवी रास का उल्लेख मिलता है। 'उपदेशरसायन रास' संभवतः उपलब्ध जैन रास ग्रंथों में सबसे प्राचीन है, इस रास में पद्धटिका छंद का प्रयोग किया गया है, जो 'गीति कोविदैः सर्वेषु रागेषु गीयते इति' के अनुसार सभी रागों में गाया जाता है। 'जंबूस्वामी चरित' में उल्लिखित 'अंबादेवी रास', अंतरंग रास, 13वीं सदी में भरतेश्वर बाहुबली रास, जंबूस्वामी रास, रेवंतगिरि रास, आबू रास, जीवदया रास, बुद्धिरास, श्री नेमिनाथ रास, गय सुकुमाल, चौदहवीं सदी के कछूली रास, सप्तक्षेत्रि रास, समरारास आदि प्रमुख जैन रास है। 15 वीं सदी के प्रमुख रास एवं रासकारों में शालिभद्र सूरि, जयानंदसूरि कृत क्षेत्रप्रकाश, विजयभद्रसूरि कृत कमलावती रास, विनयप्रभ कृत गौतम रास, ज्ञानकलश कृत जिनोदयसूरि पट्टाभिषेक रास, पहराज विजयभद्र कृत हंसराज वच्छराज चउपई, असाइत कृत हंसाउली, मेरूनंदनगणी हंसशालिभद्ररास, जयशेखरसूरि कृत प्रबोधचिंतामणि एवं त्रिभुवन दीपक प्रबंध, भीमकृत सदयवत्सचरित एवं शालिसूरि कृत अनेक रचनाएँ प्रमुख है। काव्य बंध की दृष्टि से इनका विशेष महत्व है। इसमें सवैयादेसी, वस्तुछंद, दूहे, चौपाई, राग भीमपलासी, राग संधुऊ, राग वसंत आदि का विपुल प्रयोग मिलता है, समस्त ग्रंथ गेय है, यही इनकी प्रमुख विशेषता है।

अन्य रासों में, द्रव्यगुण पर्याय नौ रास, अगड़धत्तरास, चूनड़ी रास, रोहिणीयाचोर रास, जोग रासो, पोसहरास, जोगीरासो आदि प्रमुख है। रास के साथ ही फागु की रचनाएँ भी प्राप्त होती है एवं इन सभी में चर्चरी का भी उल्लेख पाया गया है, जिसका संबंध होली गीतों, होरी चाँचर, धमार आदि से जुड़ता है। अत एव जैन रास परम्परा, फागु, चर्चरी, धमार आदि से परस्पर संबंधित प्रतीत होती है।

संगीतशास्त्री जैनाचार्य पार्श्वदेव, मण्डन एवं सुधाकलश

जैनाचार्यों ने अनेक संगीतशास्त्रें की रचनाएँ की। इन आचार्यों में पार्श्वदेव, मण्डन, सुधाकलश इत्यादि का नाम लिया जा सकता है। आचार्य पार्श्वदेव दिगम्बर जैनाचार्य थे; उन्होंने 'संगीत समयसार' की रचना की। ज्ञातव्य है, आचार्य कुंद-कुंद प्रणीत् 'समयसार', गाथाओं से परिपूर्ण महत्वपूर्ण जैनागम है। संभवतया उसी नाम से प्रभावित होकर पार्श्वदेव ने अपने ग्रंथ का नाम 'संगीत समयसार' रखा। अपने ग्रंथ में पार्श्वदेव ने 'संगीत चूड़ामणि' के अंशों को उद्धृत किया है। 'संगीत चूड़ामणि का रचना काल 1134 से 1145 ई॰ के मध्य का है। आचार्य पार्श्वदेव 13वीं शती में हुए थे। आपका गोत्र श्रीकण्ठ था। आपके पिता का नाम आदिदेव व माता का नाम गौरी था। आपकी उपाधि संगीतकार थी एवं आप महादेवार्य के शिष्य थे, जो कि अभयचंद्र मुनींद्र (12वीं ई॰) के चरण सेवक थे। पार्श्वदेव द्वारा 'चित्ताचे ठाय', 'जोडियचे ठाय' आदि भाषा का प्रयोग के आधार पर उनका मराठीभाषी स्थान से संबद्ध होना प्रतीत होता है। आचार्य पार्श्वदेव देश-देशान्तर में घूमे हुए अनुभवी आचार्य थे, आपकी कृति 'संगीत समयसार' एक महत्वपूर्ण संगीतशास्त्र है।[5]

सुधाकलश श्वेताम्बर जैनाचार्य थे, आपकी कृति 'संगीतोपनिषत्सारोद्धार' है। इस ग्रंथ का रचनाकाल 1324 ई॰ है। इस ग्रंथ में पश्चिम भारत, मध्य प्रदेश के कुछ भागों के संगीत सम्प्रदाय की चर्चा है। आचार्य सुधा-कलश के परिवेश पर मुस्लिम प्रभाव था।

एक अन्य जैनाचार्य मण्डन का ग्रंथ 'संगीत मण्डन' अप्रकाशित है, जिसकी पाण्डुलिपि पाटण (गुजरात) के जैन मंदिर में संग्रहित है। मण्डन

Scanned with OKEN Scanner

मालवा के होशंगगौरी के प्रधानमंत्री थे। आपकी काव्यमंडन, शृंगार मंडन, सारस्वत मण्डन, मण्डन कादम्बरी दर्पण, चम्पू मण्डन, अलंकार मण्डन, चंद्रविजय प्रबंध आदि रचनाएँ प्राप्त होती है। आप 1400-1432 ई॰ के मध्य हुए।[6]

उपरोक्त आचार्यों के अतिरिक्त भी कई जैन मुनियों, कवियों ने संगीत विषयक संदर्भों का उल्लेख किया है एवं ग्रंथों की रचनाएँ की, जिन पर अनुसंधान अपेक्षित है।

जैन परम्परा का साहित्य एवं रागमालाएँ

अपभ्रंश साहित्य में सिद्ध और नाथ साहित्य तथा आगे चलकर जैन साहित्य हिन्दी में विशिष्टांग निरूपक ग्रंथों तथा व्यवहारिक संगीत काव्य को जन्म देने का कारण बने। हिन्दी में लिखी गई रागमालाओं का जन्म जैन रागमालाओं से माना जाता है। विशिष्टांग निरूपक ग्रंथों के अंतर्गत लिखी हुई रागमालाओं में रागों का स्वरूप शृंगार वर्णन करने का अधिक प्रचलन रहा है। डॉ॰ हेम भटनागर लिखती है, "रागमालाओं की परम्परा हमें दो धाराओं में प्रवाहित होती हुई दिखाई देती है, 1. जैन रागमालाएँ 2. हिन्दी रागमालाएँ। जैन रागमालाएँ यद्यपि विषय की दृष्टि से भिन्न जान पड़ती है, परन्तु जैन कवियों में रागबद्ध पदों की रचना करने का प्रचलन रहा है। जैन मुनि संगीत का ज्ञान भी अधिक रखते थे, ऐसा उनके ग्रंथों के अवलोकन करने से विदित होता है। दूसरा प्रमाण यह है कि रागमालाएँ जितनी संख्या में जैन संग्रहालयों में प्राप्त होती है, उतनी अन्यत्र नहीं। इसका कारण यही है कि जैन मुनियों में रागमालाएँ लिखने का बड़ा प्रचार था। कवि अपने किसी तीर्थंकर का यश वर्णन करते समय राग तथा रागिनियों में बांधकर काव्य रचना करता था तथा ग्रंथ का नाम पार्श्वनाथ रागमालामय स्तवन' अथवा 'नेमीश्वर रागमाला मय स्तवन' आदि रख दिया करता था। जैन कवियों की संगीतप्रियता असंदिग्ध है, अपनी सभी काव्य कृतियों को ये कवि किसी न किसी प्रकार रागों अथवा गीतों में बांधकर गाया भी करते थे। अतः उसी रूप में रचनाएँ प्राप्त होती है। रागमाला के अतिरिक्त गीत रास तथा बारहमासा सभी प्रचलित गायन शैलियाँ थी, जिनमें बाँधकर इनके गीत प्रस्तुत किए जाते थे। ऐसे ग्रन्थों की संख्या बहुत अधिक है। 'प्रास्ताविक गीत', 'उत्तराध्ययन गीत', 'चेतन सुमति गीत' 'अजापुत्र रास', 'सिद्ध चक्र रास', 'जंबूस्वामी रास', 'नेमराजुल बारहमासा', 'राधिका विरह बारहमासा' आदि के नाम से जैन ग्रंथ लिखे जाते थे। इसके अतिरिक्त अन्य लोकगीतों की प्रणाली पर कविता की रचना की जाती थी, उदाहरण के लिए फाग, चर्चरी तथा हिंडोलणा आदि के लिए लिखे गए गीत, गेय काव्य है। जैन सम्प्रदाय में गायन इतना अधिक प्रचलित था, कि गीतकारों ने स्वरलिपि समझाने के लिए प्रसिद्ध प्रचलित गीतों की पंक्तियों का निर्देश करके बताया है, कि अमुक पंक्ति के अनुसार इसको गाया जाएगा। स्वरलिपि के लिए ढाल शब्द का प्रयोग हुआ है।"[7] आगे लेखिका स्पष्ट लिखती है कि "हिन्दी रागमालाएँ विषय में संस्कृत ग्रंथों से प्रभावित लक्षित होती है। वास्तव में शैली विशेष ने ही रागमालाओं का स्थान अन्य संगीत ग्रंथों से पृथक कर दिया है, अतः जैन रागमालाओं में हिंदी रागमालाओं का मूल मानना उचित होगा।"[8] एवं उन्होंने इसके कई उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं।

निष्कर्ष

मौखिक-परम्परा से प्राप्त सूचना के आधार पर ज्ञात हुआ, कि भगवान महावीर स्वामी मृदंगाचार्य थे। लेखक के गुरू ने अपने बचपन में अपने पिता के साथ पंडितों की चर्चाओं में जाना कि जैन धर्म में संगीत का व्यापक प्रचार था, जो कि शनैः-शनैः कम होता गया।[9] इन सभी तथ्यों के अन्वेषण से एक बात स्पष्ट होती है, कि जैन परम्परा में संगीत का विशेष स्थान रहा है। आज भी जैन मंदिरों में विशिष्ट पर्वों, उत्सवों के दौरान 'भक्ति' का आयोजन किया जाता है एवं नित्य नियम पूजन आदि में सांगीतिक समवेत स्वरों में ही पूजा-अर्चना की जाती है। शोभायात्राओं के दौरान हाथ में चँवर लेकर नृत्य करते धर्मावलंबियों को देखा जा सकता है। जैन मुनियों, साध्वियों के आहार, विहार, आगमन इत्यादि पर जैन समाज भक्तिपूर्ण ढंग से गायन,

Scanned with OKEN Scanner

वादन नृत्यादि का आश्रय लेकर अपनी श्रद्धा प्रकट करता है, जिससे जैन समाज की संगीतप्रियता का पता चलता है।

संग्रहालयों में संग्रहित जैन साहित्य (हस्तलिखित एवं प्रकाशित) में संगीत संबंधी सामग्री प्रचुर मात्रा में है, जिस पर विद्वतसमाज का ध्यान अपेक्षित है। पुरातत्व मंदिर, जोधपुर, पोथीखाना जयपुर, मुनि कांतिसागर जी का संग्रह, उदयपुर, अनूप संस्कृत लायब्रेरी, बीकानेर, अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर, मोतीचंद खजांची संग्रह, भरतपुर संग्रहालय, कांकरौली संग्रहालय, वाराणसी, इलाहाबाद, पाटण, अहमदाबाद एवं दक्षिण भारत, मध्य प्रदेश, गुजरात तथा राजस्थान के अनेक जैन मंदिरों/तीर्थों/सिद्धक्षेत्रों/संग्रहालयों में विशिष्ट रूप से जैन साहित्य का संकलन किया गया है तथा उनमें संगीत के विशिष्ट संदर्भों का उल्लेख भी पाया जाता है।

अत्यन्त कठिन साधना एवं अनुशासन के कारण बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म का व्यापक प्रचार संभव नहीं हो सका, जिसके कारण इस समाज की अमूल्य धरोहरों का संरक्षण एवं संवर्धन भी अपेक्षित ढंग से नहीं हुआ। आज अनिवार्यता इस बात की है, कि युवा वर्ग, विद्वतजन एवं सरकार इस दुर्लभ जैन संस्कृति के संरक्षण एवं संवर्धन में रूचि ले तभी इस समाज के छिपे हुए अनेक साहित्यिक एवं सांस्कृतिक पक्षों से संसार परिचित हो सकेगा।

सन्दर्भ सूची

1. अपभ्रंश काव्य परम्परा और विद्यापति- अंबादत्त पंत- पृ. 140
2. भारतीय संगीत का इतिहास- डॉ. शरतचन्द्र परांजपे पृ. 179
3. रास और रासान्वयी काव्य- दशरथ शर्मा ओझा, पृ. 14
4. रास और रासान्वयी काव्य- दशरथ शर्मा ओझा, पृ. 47
5. संगीत समयसार- पार्श्वदेव- आचार्य बृहस्पति, भूमिका, पृ. 21-23 के आधार पर
6. संगीतोपनिषत्सारोद्धार- सुधाकलश- उमाकांत प्रेमानंद शाह, भूमिका पृ. 11, 12 के आधार पर
7. हिन्दी साहित्य के शृंगार युग में संगीत काव्य- हेम भटनागर, पृ. 22
8. वही पृ. 24
9. उस्ताद ज़िया फरीदुद्दीन डागर (जन्म 1932 ई.) से प्राप्त सूचना के आधार पर

Scanned with OKEN Scanner

''मानसिक तनाव निवारण हेतु संगीत एवम् अन्य ललित कलायें''

डॉ. ब्रजरानी शर्मा

सृष्टि की उत्पत्ति एक विलक्षण एवं रोचक घटना है और वह एक निरन्तर विद्यमान रहस्य भी है। अनेक शोधों के उपरान्त भी कोई निर्णय नहीं हो सका है। इसी कारण उपनिषदों ने सृष्टि, ब्रह्म, जीव तथा आत्मा को 'नेति' अर्थात 'नइति' (इतना ही नहीं है) कहकर सम्पूर्ण व्याख्या और विश्लेषण का समाहार कर दिया। मानव, सृष्टि के अंगभूत तत्व के रूप में सृष्टि के साथ ही उत्पन्न हुआ। यही कारण है कि जन्म-मरण की परिधि में बँधा मनुष्य सृष्टि से ही संस्कार बटोर कर उत्पन्न हुआ। उसने आँखों से देखा, कानों से सुना तथा इन्द्रियों से अनुभव किया और उसमें संस्कार बन गए। इसी कारण मनुष्य एक चिंतनशील प्राणी बना और फिर वाचक प्राणी बना और इन्हीं दो कारणों से वह सामाजिक प्राणी बना। इसी कारण उसमें मनोविकार बने- सुख के दुख के। वह दुःख का निषेध तथा सुख-ग्रहण अपनी प्रवृत्ति के अनुसार करने लगा और संगीत तथा अन्य कलाएँ उसकी जन्मजात सहचरी बन गंई। मानव के हृदय में जो भाव एवं विचार उत्पन्न होते हैं, उन्हें मनुष्य अनेक साधनों द्वारा मूर्तरूप देता है। यह मूर्तरूप जिन-जिन साधनों द्वारा किए जाते हैं, वे हैं- मृत्तिका, प्रस्तर, काष्ठ, स्वर-लहरी, शब्द आदि। इन्हीं माध्यमों से जब मानव की भावनाओं एवं विचारों की सुन्दर अभिव्यक्ति की जाती है, तब वह कला संज्ञा से अभिहित की जाती है। भाव या अनुभूति, किसी के अन्तःकरण में स्थित होकर पद्यावरण धारण कर कविता-कामिनी के रूप में अवतरित होती है, तो वही अनुभूति या भाव कहीं चित्र, कहीं मूर्ति, कहीं वास्तु-कला की गोद में अपने को अर्पित कर देता है और जब यही अनुभूति या भाव कंठ के माध्यम से 'नाद' (स्वर-लहरी) को गत्यात्मक स्वरूप देकर हमारे सम्मुख उपस्थित होता है तब हम उसे संगीत की संज्ञा देते हैं।

कला शब्द की व्युत्पत्ति आकलन (गिनना) अर्थ में 'कल' धातु से कच् और टाप् प्रत्ययपूर्वक हुई है। आनन्द देने के अर्थ में 'कलाकृति' इन्द्रिय सुख का साधन है। एक स्वतन्त्र निरूक्ति के अनुसार 'कम्' त्र आत्मानं, शब्दं, ध्वनिं वा लसति त्र अलंकरोति- आनन्दयति अथवा लाति त्र गृहणाति-ददाति वा सा 'कला' अर्थात आत्मा, शब्द, ध्वनि और उसके अर्थों (दृश्य-पदार्थों, श्रव्य-तत्वों) की जो शोभा बढाये, आनन्दित करें अथवा जो नई-नई शोभाएँ, आनन्द भाव आदि दे या ले, वही 'कला' है।

मूलरूप से कला का अर्थ है- ऐसी कोई भी दृश्य-श्रव्य व्यावहारिक बात, जिसमें बुद्धि की प्रवीणता से खपने वाली नव-नूतन, टेढ़ी-मेढ़ी आकृतियों-रंगों से युक्त रचना हो जाती है, जिसमें मर्यादित, शिष्ट तथा तर्कसम्मत सौन्दर्यबोध होता है। भारतीय परम्पराओं में कला को परम तत्व से जोड़ा गया है। भारत में नाट्य कला, संगीत कला, वास्तुकला स्वतन्त्र रूप से स्वीकृत हैं और परम तत्व के प्रकाशन के सर्वोत्कृष्ट माध्यम होने के कारण इन्हें रस ब्रह्मवाद, नाद ब्रह्मवाद और वास्तु ब्रह्मवाद से अभिहित किया गया है। अतः भारतीय कला-दर्शन के अनुसार

ऐसोसियेट प्रोफेसर, संगीत विभाग,श्री टीकाराम कन्या महाविद्यालय, अलीगढ़

Scanned with OKEN Scanner

एक ओर कला भौतिक जीवन की अनुपम उपलब्धि है, तो दूसरी ओर आध्यात्मिक उत्थान का सुंदर माध्यम है। परम्परागत सीमाओं में बंधे रहकर भी कलाकार को अपनी कल्पना आदि को अभिव्यक्त करने की स्वतन्त्रता होती है। परन्तु सारे विधान का लक्ष्य होता है- "सौन्दर्य की उपलब्धि", सौन्दर्य का आविर्भाव प्रशिक्षण, साधना, अभ्यास, चिंतन, प्रेम आदि तत्वों के योगदान से ही सम्भव होता है। कला अपने सौन्दर्य से इन्द्रियों को प्रभावित कर आत्मा की गहराई तक आनन्द प्रदान करती है। विविध कलाओं के माध्यम उपकरण भिन्न-भिन्न होने से उनकी आकृति, विषय, प्रसंग में भिन्नता होना स्वाभाविक है। किन्तु उनका अंतिम सामान्य लक्ष्य "आनन्द प्रदान करना" ही है।

संगीत विषय की विद्यार्थी होने के कारण मानसिक तनाव दूर करने में संगीत कला की भूमिका को ही मैंने अपने अध्ययन का केन्द्र बिन्दु बनाया है। संगीत कला के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि यह ललित कला, महफिल की आनन्द दायक वस्तुओं का आभूषण, मानव के मनोरंजन का साधन,संतों के लिए आत्मानंद की मार्ग दर्शक, प्रेमियों के जीवन की मित्रा, विरहाग्नि से पीड़ित व्यक्तियों को सान्त्वना देने वाली, एकांतवासियों की मित्र तथा सहायक और अपाहिज एवं आपदाग्रस्त प्राणियों की सहचरी और प्रेमिका ही नहीं, अपितु इस प्रकार के सैकड़ों गुणों के अतिरिक्त इस कला में और भी अनेक विशेषताये हैं जो अप्रत्यक्ष तथा अदृश्य होते हुए भी सहृदयों को अस्वीकार नहीं है।

यद्यपि सभी कलाओं का मूल उद्देश्य भावाभिव्यक्ति है किन्तु मानव हृदय के सूक्ष्माति-सूक्ष्म भावों की समर्थ अभिव्यंजना जितनी संगीत कला के माध्यम से हो सकती है उतनी अन्य कला द्वारा नहीं हो सकती। क्योंकि शक्ति जितनी सूक्ष्म होती है उसका प्राबल्य उतना ही बढ़ जाता है। संगीत का मूल आधार स्वर तथा लय है जो नाद तथा गति का परिष्कृत रूप हैं। आकाश का गुण शब्द है, वही गति के प्रभाव से वायु, जल, अग्नि तथा पृथ्वी का रूप धारण कर पंचतत्व बनता है तब समस्त सृष्टि का व्यवहार आगे बढ़ता है, अतएव यह सृष्टि 'नाद' एवं गति का ही परिणाम हैं संगीत का सम्बन्ध इन्हीं सूक्ष्म तत्वों से होने के कारण जब उसने कला का रूप धारण किया तो समस्त जगत को मोह लिया।

नाद सिद्धि भी मंत्र सिद्धि के समान प्रक्रिया है। यह साधक व स्वर के आपसी सम्बन्धों पर निर्भर है कि वह किस प्रकार अपने भविष्य का निर्धारण करे। यह नाद भौतिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक (तम् रज, सत्) अर्थात प्रेयस से श्रेयस तक तीनों उपलब्धियाँ प्रदान करने में सक्षम है। आत्मा का मूल स्वभाव नाद ही है। जिसमें स्थापित होकर आत्मा प्रत्येक दुःख, व्याधि, अशांति से छुटकारा पाकर ब्रह्मानन्द सहोदर' 'नादानंद' के अवलम्बन से मोक्ष मार्गी बनती हैं, इसलिए नाद सर्वशक्तिमान एवं सभी पर प्रभावी है।

संगीत में मुख्यतः दो बाते आती है - अनुभूति और अभिव्यक्ति, अर्थात पहले अनुभव किया जाता है फिर उसकी अभिव्यक्ति होती है। अनुभूति किसी हद तक एक व्यक्ति के दृष्टिकोण पर निर्भर करती है। संगीत के विशुद्ध श्रवण में श्रोता केवल संगीत का ही आनन्द उठाता है। रचनाकार के हृदय में जो अनुभूति होती है उसी से प्रेरित होकर वह रचना करता है। इसलिए उसकी रचना में भी उसकी चेतना, चित्र की विशेष अवस्था तथा अनुभूति की गहराई व्यक्त होती है यही कारण है कि श्रोता के चित्र पर भी असर होता है। उसको भी कुछ उसी प्रकार की अनुभूति होती है जैसी रचनाकार के रचना के क्षणों में हुई थी। अगर रचनाकार की अनुभूति श्रोता को नहीं होती तो वह विशुद्ध संगीत नहीं है।

हम सब जानते हैं कि जीवन की अपनी एक भाषा है, एक लय है और इस लय के अपने नियम हैं। मसलन एक नियम है- हार्मोनी। अनेक लोग जीवन की लय को आत्मसात् नहीं कर पाते, उसके संगीत को नहीं सुन पाते, परिणाम स्वरूप उनके जीवन की हार्मोनी अवरूद्ध हो जाती है। सामान्यतः सभी लोग अवसाद के क्षणों से गुजरते है। प्रियजन का निधन, निराशा, दुर्घटना, असफलता अपराध भाव, हीनभाव आदि से व्यक्ति अवसाद ग्रस्त हो जाता है। इसी प्रकार कुछ आपेक्षित परिस्थितियाँ

Scanned with OKEN Scanner

व्यक्ति में तनाव भर देती हैं। इसी तरह कुछ मानसिक अवरोध भी हो सकते हैं। संगीत की लय से मानसिक लय को व्यवस्थित किया जा सकता है।

आज के उद्योगोन्मुख वातावरण में मानव जैविक विकास में ही मग्न है किन्तु मेरा मानना है कि जैविक विकास और सांस्कृतिक विकास एक ही प्रक्रिया के अंग है। सांस्कृतिक क्षमता का विकास मानवीय विकास की तुलना में कम महत्वपूर्ण नहीं हैं, बल्कि सही अर्थों में सांस्कृतिक विकास ही मानवीय विकास है।

मानसिक तनाव को दूर करने में संगीत कला का योगदान आदि काल से ही माना जाता है और इस सम्बन्ध में किए गए प्रयोग इस मान्यता को काफी हद तक सिद्ध करते हैं। कुछ शोध तो यहां तक निष्कर्ष देते हैं कि संगीत केवल तनावग्रस्त मनुष्य की मनोदशा को ही नहीं बदलता, बल्कि कतिपय बुनियादी शारीरिक प्रक्रियाओं में भी बदलाव ला सकता है क्योंकि नाद में प्रत्येक स्तर के जीवन (जीव) को प्रभावित करने की क्षमता है। नाद, मन का मैल धोकर प्राणी को अपने स्वर-लय-ताल-मौन आदि (यथा समाधि हेतु यम, नियम, आसन आदि के समान) साधन के यथा आवश्यक आधार द्वारा समाधि के आध्यात्मिक धरातल पर लाने का प्रयास करता है। जहां कभी भी किसी व्याधि का स्थान नहीं होता है। संस्कारी आत्माएं निश्चय ही नाद के उक्त प्रभाव को ग्रहण कर स्वर द्वारा उत्पन्न वांछित बड़े प्रभाव को शरीर द्वारा तुरन्त प्रकट करती हैं।

मानव जन्म से ही सुख निष्ठ है और संगीत उसकी इस निष्ठता में सहयोग करता है। जो स्मृतियाँ, चिंता, उद्वेग, मानसिक तनाव, आवेग तथा जटिल भावना ग्रन्थियाँ जीवन को नीरस तथा जड़ बना देती हैं, संगीत उसमें स्वाभाविक प्रवाह ला देता है। अतः संगीत सामाजिक जीवन की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का एक उपादान है और व्यक्तिगत जीवन का सुख-बोध है। अतः 'श्रोता' स्वयं संगीत बनकर संगीत का रसास्वादन करता है।

किसी प्रकार का कार्य करते समय यदि संगीत का सहारा लिया जाये तो वह कार्य अपेक्षित सफलता प्राप्त करता है। प्राचीन समय में स्त्रियाँ पानी भरते समय, चक्की चलाते समय, सूत कातते समय या खेतों में कार्य करते समय गीत गाती रहती थीं, इसी प्रकार मछुआरे समुद्र से मछलियाँ निकालते समय, किसान खेती करते समय, गीत गाते हुए, कार्य करते हैं ऐसा करने से कार्य में नीरसता महसूस नहीं होती। संगीत की तेज लय में बंधकर श्रमिक भी तेज लय में कार्य करता है, तथा कार्य से उत्पन्न थकान को अच्छा संगीत शीघ्र ही भुला देता है। बड़ी-बड़ी फैक्ट्रियों या मिलों में जहां अत्यधिक शोर होता हैं, संगीत की ध्वनि से शोर से ध्यान हटकर संगीत पर केन्द्रित हो जाता है, जिससे मानसिक व शारीरिक थकान का कम अनुभव होता है। किसी उद्योग की सफलता श्रमिक और धनिक वर्ग के मैत्री पूर्ण सम्बन्धों पर निर्भर करती है। इस दृष्टि से संगीत का योगदान महत्वपूर्ण है। निष्कर्ष रूप में मेरा यह कहना है कि संगीत चूंकि मूलतः एक संस्कारी प्रक्रिया है, इसलिए जीवन में सामान्य संस्कारच्युत व्यक्तियों, जो मानसिक, तनाव से ग्रस्त हैं-की संवेदना और संवेगों को पुनः संस्कार दे सकता है, और जीवन के प्रति व्यक्ति का सर्जनात्मक दृष्टिकोण बना सकता है, बढ़ा सकता है।

Scanned with OKEN Scanner

''सामगान के सन्दर्भ में - ऋतु एवं समय-सिद्धान्त की अवधारणा''

ऋचा शर्मा

भारतीय विचारधारा के अनुसार सभी कलाएँ आध्यात्म की ओर उन्मुख हैं तथा कलाओं का अन्तिम उद्देश्य आध्यात्म तत्व की प्राप्ति तथा आत्म तत्व में लीन होना है । हजरत इनायत खाँ सूफी फर्माते हैं - 'विशेष घड़ी अथवा दैनिक चक्र के समय किसी विशेष राग का गाना शुद्ध रूप से आध्यात्मिक धारणा पर आधारित है'।

ऐतिहासिक दृष्टि से वैदिक तथा प्राग्वैदिक काल से, भारतीय संगीत का मुख्य ध्येय ईश्वरोपासना रहा है। यह तथ्य वेदों विशेषकर सामवेद, वेदों से सम्बन्धित ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक ग्रन्थ, सूत्रों, संहिताओं और उपनिषदों विशिष्ट रूप से छान्दोग्य उपनिषद से सिद्ध होता है।

सामगान में 'ऊँकार' की महिमा को सर्वश्रेष्ठ मानकर उसे ही ब्रह्म माना जाता है।

जैमिनि सूत्र के अनुसार गीति का ही अपर नाम 'साम' है - 'गीतिषु सामाख्या'।[1] अर्थात् जो मन्त्र गाये जाते हैं वह 'साम' कहलाते हैं। साम का वास्तविक स्वरूप 'स्वर' में निहित है। वैदिक काल से शास्त्रीय संगीत को साम के रूप में जाना जाता है। 'गान' साम के स्वरमय रूप हैं। यज्ञ के लिए सामगान अपेक्षित था। साम के विभिन्न खण्डों का गायन सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक, वर्षा के आरम्भ से लेकर वृष्टि शान्ति तक तथा दिन के भिन्न-भिन्न प्रहरों की अर्चना-वन्दना के लिए भी किया जाता था।

यजुर्वेद में निम्नलिखित साम-विशेषों का उल्लेख प्राप्त होता है-यथा- 'रथन्तर, वैराज, वैखानस, वामदेव्य, शाक्वर, रैवत तथा अभीवर्तसाम। इन सामों के विशिष्ट गान-समय तथा स्तोम संख्या का विवरण भी प्राप्त होता है जो महत्वपूर्ण हैं। उदाहरणस्वरूप–

"रथन्तरं साम त्रिवश्त्स्तोमो - वसन्तऋतुः।
वृहत्साम पंचदशस्तोमो - ग्रीष्मऋतुः।
वैरूपं साम सप्तदशस्तोमो - वर्षाऋतुः।
शक्वररैवते सामनी - हेमन्त ऋतुः।"[2]

तात्पर्य यह है कि रथन्तर साम का गान वसन्त ऋतु में विहित है, वृहत्साम का ग्रीष्म ऋतु में, वैरूप का वर्षाकाल में तथा शाक्वर और रैवत का हेमन्त ऋतु में।

इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद में भी ऋतुओं से सम्बन्धित पाँच प्रकार की साम-उपासना बताई गई है - जैसे–

"ऋतुषु पंचविधं सामोपासीत वसन्तौ हिंकारोग्रीष्मः।
प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तोनिधनम्।।

(छान्दो॰उप॰ तृतीय खण्ड, पृ॰ 16)

अर्थात पाँच प्रकार के सामों की विशेष ऋतुओं में उपासना करनी चाहिए । वसन्त ऋतु में हिंकार, ग्रीष्म ऋतु में प्रस्ताव, वर्षा ऋतु में उद्गीथ, शरद् ऋतु में प्रतिहार तथा हेमन्त ऋतु में निधन इस प्रकार इनकी उपासना करनी चाहिए ।

सोमयाग की मुख्य 7 संस्थायें हैं यथा - 'अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थय, षोडशी, अतिरात्र, आप्तोयार्म तथा वाजपेय' । अग्निष्टोम में सोम

अ॰प्रो॰ (सितार) महिला महाविद्यालय, बी॰एच॰यू॰, वाराणसी

सवन का प्रमुख स्थान है । सोम को पत्थर से कूटकर उससे रस निकालने की विधि को 'सवन' की संज्ञा दी गयी है । सोम का सवन, हवन तथा पान यही क्रम सोमयागों में प्रयुक्त होता है । सोम को पत्थरों से कूट कर उसका रस निकाला जाता है तथा दूध में मिलाकर उससे प्रातः, मध्यान्ह तथा सायंकाल अग्नि में हवन किया जाता है । विशिष्ट हवनकाल के अनुसार यह अनुष्ठान प्रातः सवन, मध्यान्ह सवन एवं सायं सवन इन तीन नामों से अभिहित होते हैं । विभिन्न देवताओं को सोमरस का अवदान अर्पित करते समय होता के द्वारा शास्त्र पठन तथा उद्गाता के द्वारा स्तोत्र गायन यह क्रम प्रचलित होता है । सोमयाग की प्रत्येक क्रिया एवं प्रक्रिया संगीत से समन्वित हुआ करती थी । सामों का गान कामनाओं की पूर्ति करने हेतु भी किया जाता था ।

छान्दोग्य के अनुसार निम्न सामों का गान विशिष्ट कामना की पूर्ति करने वाला है -

'गायत्र, रथन्तर, वामदेव्य, वृहत्, वैरूप, वैराज, शक्वरी, रेवती, यज्ञायज्ञीय और राजन ।' विशिष्ट प्रकार के सामों को विशिष्ट अवसरों पर ही गाया जाना तत्कालीन सामगान के शास्त्रीय स्वरूप का ही संकेत कराता है । गाथा गान सुनाने हेतु भी समय के बंधन के प्रमाण उपलब्ध हैं ।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि प्राचीन काल से ही सामगान ऋतु एवं समय-सिद्धान्त से प्रभावित रहा है तथा साम के विभिन्न खण्डों का गायन सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक वर्षा के आरम्भ से वृष्टि शान्ति तक तथा दिन के भिन्न-भिन्न प्रहरों की अर्चना-वन्दना के लिए होता रहा है । इससे साम के प्राचीन शास्त्रीय स्वरूप का तो पता चलता ही है साथ ही शास्त्रीय रागों के सन्दर्भ में शास्त्र वर्णित राग समय सिद्धान्त तथा ऋतु सिद्धान्त की सर्वव्यापकता तथा सार्वभौमिक सत्ता की बात भी पुष्ट हो जाती है जिससे शास्त्रीय गायन तथा सामगान की पारस्परिक निकटता को बल मिलता है ।

सन्दर्भ सूची

1. संगीत मासिक पत्रिका, वैदिक संगीत अंक-जनवरी 2007
2. भारतीय संगीत का इतिहास (वैदिक काल से गुप्त काल तक)

Scanned with OKEN Scanner

जीवन और संगीत

डॉ. माधुरी सिंह

मानव जीवन में जन्म से लेकर मृत्यु तक संगीत किसी न किसी रूप में हमेशा जुड़ा हुआ है इस बात से कोई इंकार नही कर सकता क्योंकि जन्म लेते ही बच्चे का सुर में रोना और बच्चे के जन्म की खुशी घर की महिलायें तुरंत थाली बजाकर व्यक्त करती हैं तथा साथ-ही-साथ सोहर गाने की प्रथा बच्चों के जन्म के बाद ही होती है।

अतः इस बात को हम नकार नहीं सकते कि मनुष्य के जन्म से ही संगीत उसके साथ जुड़ जाता है। धीरे-धीरे वही बच्चा बड़ा होता है और मुंडन के बाद जनेउ तथा विवाह आदि संस्कार जुड़े रहते हैं जिसमें संगीत संस्कार गीत के रूप में होता है अर्थात् जीवन के किसी भी मोड़ पर मुड़कर देखा जाए तो हम संगीत से अलग नहीं है।

स्वर आत्मा का नाद है और आत्मा परमात्मा का स्वरूप जिस प्रकार आत्मा का संबंध परमात्मा से माना जाता है उसी प्रकार स्वर का संबंध आत्मा से। इस युक्ति से संगीत और आत्मा का संबंध भी सुदृढ़ सिद्ध होता है।

संगीत एक कला है, साधना है, पूजा है, तपस्या है। भले ही कोई व्यक्ति-विशेष इस कला की साधना और तपस्या करके स्वर और ताल पर अपना अधिकार प्राप्त कर लिया हो तो लोग उसे बड़ा कलाकार समझते हैं परंतु हमारे समाज में मनुष्यों का एक ऐसा वर्ग भी रहता है जो संगीत की शिक्षा न लेकर भी तथा ताल और सुर के ज्ञान से पड़े रहकर भी समाज में प्रचलित लोक संगीत को गाने और सुनने में आत्मविभोर हो जाता है। अकसर गांवों में हम देखते हैं कि खेत में हल चलाते हुए किसानों द्वारा गाया जानेवाला गीत और धान रोपते समय मजदूरों के द्वारा गाये जानेवाले गीत घर में स्त्रियों को धान कूटते और चक्की चलाते हुए गाये जानेवाले गीत ग्रामीणों को आत्मसुख और शांति प्रदान करता है। इसके बाद भी गांवों में होली हो या दिवाली चैती हो या कजरी या लग्न का महिना कोई भी त्योहार हो बिना गीत-संगीत के संपन्न ही नहीं होता।

मयूर का भाव-विभोर होकर नाचना, कोयल के मधुर कंठ से भावुकता से बोलने गानेवाले पक्षियों के कंठ से अभिव्यक्त होनेवाले स्वर समूहों ने गायक हृदय को गाने के लिए प्रेरित किया, जन्मजात नर्तन के गुणों से व्यक्ति के सहज लयबद्ध थिरकते पांव जन्मजात सांगीतिक अभिव्यक्ति को प्रमाणित करती है। संवेदना से निकली कंठ माधुरी किसी भी सहृदय श्रोता को रससिक्त करने में सहज सफल होकर मानव के मन में बसी सांगीतिक संस्कारों की पुष्टि करती है।

इन्हीं तथ्यों से यह अनुमान लगाना आसान है कि संगीत की मधुर स्वरावलियों की उत्पति मानव की सहज भावाभिव्यक्ति का ही परिणाम हैं अनेक भारतीय विद्वानों के उद्‌गार संगीत को मानसिक वृतियों के उद्‌घाटन के सबल माध्यम होने की पुष्टि करते हैं।

पावस ऋतु की श्याम-श्वेत घटावों से आच्छादित आकाश से प्रस्फुटित नन्हीं-नन्हीं बूदो का रिमझिम-रिमझिम राग सुनते ही अमराइयों में कोयल कूक उठती है, पपीहे गा उठते हैं और मोर नाचने लगते हैं। हरे-भरे लहलहाते खेतों को देखकर किसान आनंद विभोर होकर चिरपरिचित गीतों के बोल को

व्याख्याता, श्री अर्जुनलाल हिराणी कॉलेज ऑफ जर्नालिज्म एण्ड परफोर्मिंग आर्ट्स, राजकोट (गुजरात)

Scanned with OKEN Scanner

गुनगुना उठता है। इन चेतनामय घड़ियों में प्रत्येक जीवधारियों पर संगीत का व्यापक प्रभाव देखा जा सकता है। इस प्रकार खेतों और मैदानों में फैली हरियाली के वातावरण में गांव गांव और गली-गली में झूले के गीत जिन्हें ग्रामीण भाषा में 'कजरी' और मल्हार भी बोलते हैं, गूंजते रहते है।

युद्ध के मोर्चे पर जाते हुए सैनिकों का उत्साह बढ़ाने के लिए भी इस वर्तमान युग में विभिन्न प्रकार के गीतो का प्रयोग किया जाता है।

अतः भारतीय संगीत मानवीय प्रेम की भाषा सिखता है। संगीत के माध्यम से हम सामाजिक अनुशासन कायम कर सकते हैं। भारतीय संगीत का दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक और समाज दर्शन के धरातल पर किया गया अध्ययन जन सामान्य के मानसिक तनाव सम्प्रदायिक झगड़े, वर्ग-भेद, क्षेत्रियता जैसी समस्याओ को समाप्त करता है। संगीत अपनी अभिव्यक्ति में समाज की एक्यु प्रस्तुति है जिससे सामाजिक अनुशासन, सामाजिक एकता तथा सामाजिक व्यवहार सम्वर्द्धित होते हैं क्योंकि इसमे मानव मन को मोड़ने की क्षमता है। मीठे स्वर के गायन से परमेश्वर की सुरबद्ध प्रार्थना करते हैं। प्रार्थना, उपासना संगीत के माध्यम से संभव होते है इसके साथ ही संगीत मानसिक उद्वेलन, अशांति, तनाव एवं चिंता से उत्पन्न मनोरोगों की सर्वोत्तम औषधि है। पवित्र और निर्मल देह में ही प्रभावशाली स्वर उत्पन्न हो सकते हैं। उदाहरण स्वरूप यह कहा जा सकता है कि संगीत के छात्रों में अनुशासनहीनता, छात्र असंतोष, आक्रोश, हड़ताल की प्रवृति अपेक्षाकृत कम होती है। स्वाधीनता संग्राम के राष्ट्र गायकों ने हर सभा अधिवेशनों में संगीत से ही समस्त राष्ट्र को एकीकृत किया था।

अर्थात् जीवन के प्रत्येक अवस्था में ऐन-केन-प्रकारेण संगीत की कड़ी अवश्य जुड़ी रहती है। आज के इस वैज्ञानिक युग में रोज नित्य शोध किये जा रहे हैं तथा मनुष्यों के अलावा जीवधारी पेड़ पौधे और पशु-पक्षियों पर भी संगीत का व्यापक प्रभाव देखा जा रहा है तथा कितने ही मानसिक रोगियों का इलाज संगीत द्वारा किया जा रहा है। जिसे देखकर ऐसा आभास हो रहा है कि अब वो दिन अधिक दूर नहीं जब विज्ञान वेताओं द्वारा संगीत में छिपी अनंत शक्ति का भंडार सर्वसाधारण के समक्ष प्रकट हो जाएगा और मानव जीवन के सृजनात्मक कार्यो में इस संगीत में निहित तत्वों का अधिक से अधिक प्रयोग होगा तब हमारा समाज जीवन और संगीत के संबंधों को और भी स्पष्ट रूप से समझ सकेगा।

Scanned with OKEN Scanner

प्राचीन मानव एवं संगीत का प्रादुर्भाव

डॉ. सरोज द्विवेदी

यह वस्तुतः एक साहसिक निष्कर्ष कहा जायेगा यदि 'मानव जाति की उत्पति' पुस्तक के सोवियत रूसी लेखक वैज्ञानिक वलेरी आलेक्सेयेव के अनुसार मानकर चलें कि प्रत्यक्षतः अधिसंख्य ध्वनियों का उच्चारण नियंडरथल मानव वस्तुतः वैसे ही करता था, जैसे कि आधुनिक मानव करता है।[1] फलतः ध्वनि की आचार-व्यवस्था की ही उस विशिष्ट अवस्था में संगीत के आरंभ की परिकल्पना की जा सकता है और वह आरंभ कालनियंडरथल मानव की अस्तित्व अवधि का अंतिम कालखण्ड भी माना जाए तो चालीस हजार वर्ष पूर्व से पहले ही रहा होगा। कहना चाहिए कि मध्य पुरापाषाण काल के अंतिम चरण तक संगीत की पुरा.प्रागैतिहासिक मानवीय प्रवृति ने जन्म ले लिया था, यही संभव है। तथापि उसकी पहचान, सहज प्रसारणशीलता और प्रेरणा-प्रभाव के लक्षण उत्तर पाषाण-काल में अर्थात् चालीस हजार वर्ष पूर्व तक मान्यता पा चुके थे। यह भी वलेरी अलेक्सेयेव की ही स्थापना से सिद्ध हैं।

विश्व-सभ्यता में संगीत के प्रादुर्भाव काल की खोज करने का अगर हम तूल न दें और एक ओर, नृतत्वशास्त्र तथा पुरातत्व एवं दूसरी ओर जीवाश्म शिलाओं पर खिंचित "फांसिले लाइनिंग्स" से संगीत और वाद्यों के आदिम् साक्ष्य पाने को व्याकुल न हो, जो इस आलेख का उद्देश्य भी नहीं है तो संभावना को पूरी सहजता से उपस्थित कर माल लेना चाहिए कि संगीत यहां विवेच्य अर्थ में यदि ईसा पूर्व पांच हजार वर्ष से दस हजार वर्ष के भीतर भी मानवीय क्षमताओं में अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित हो सका, तो यह मध्य प्रागैतिहासिक काल में ही हुआ। प्राचीन सभ्यताओं के समस्त अवशेषों में और गुफा-चित्रों में भी, जिनमें भारतीय सभ्यता की अतुलनीय प्रमुखता है, संगीत और वाद्य से संबंधित साक्ष्य जो मिलते है, सिद्ध करते हैं कि "गाने-बजाने की प्रवृति, आदत, गुनात्मक विशेषता और प्रथा ने संगीत प्राचीन मानवीय कलावधारणा को क्रमशः विकसित और स्थापित किया। मनुष्य के मस्तिष्क की संरचना का विकास और मानव-समाज के द्वन्दात्मक संबंध का विकास तथा गुप्त और गुणी से गुण-ग्राहक के संबंध का विकास भी इस प्राचीन कला की संक्रमणशीलता को निरंतर बढ़ाता ही रहा।[2] यह प्रसिद्ध कला-चिंतक अल्हुअस हक्सले का विचार है।

वर्तमान शताब्दी में आदि मानव समाज में संगीत के प्रादुर्भाव के संबंध में वैज्ञानिक दृष्टि से अन्वेषण रत अध्येताओं ने स्पष्ट कर दिया है कि गोचारी समुदायों का "लायर" नामक वाद्य पर आधारित संगीत, जिसने भाषिक रचना में "लिरिक" को स्वराधार दिया, संगीत के प्रादुर्भाव के बहुत बाद घटित हुआ। यही अल्हुअस हक्सले ने भी स्वीकार किया है।[3] अतः अधिक सुसंगत और विचारणीय विवाद उन दो सिद्धान्तों पर रहा है, जिनमें एक मार्क्सवादी विचारक जार्ज थाम्पसन ने प्रवर्तित किया और दूसरा सिद्धान्त जर्मन संगीत शास्त्री "हार्नबोस्टेल" ने स्थापित किया है। जार्ज थाम्पसन की मान्यता जो बुवेर के अध्ययन पर टिकी है, निरूपित करती है कि संगीत कामगारों के श्रम-कार्य को लयबद्ध कर कार्य गति को सुचारू रखने और

व्याख्याता, विभागाध्यक्ष "संगीत विभाग" श्याम नन्दन सहाय महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर

Scanned with OKEN Scanner

श्रम-फल में बढ़ोत्तरी के हेतु स्वतः स्फूर्त ही उत्पन्न हुआ, जो अनन्तर एक प्रकार के स्तवन का महत्व पाकर मंत्र पाठ का ही एक रूप हो चला था।[4] डॉ॰ डेविड क्रेग ने संगीतकार एलेनवश के अनुसार जर्मन संगीत शास्त्री हार्नबोस्ठेल के सिद्धांत को दूसरे ध्रुव पर उपस्थित किया है कि "प्राथमिक संगीत 'टोटम' की प्रवृति से संबंधित था, अतः पशुओं के स्वरों के अनुकरण हेतु लकड़ी के बने मुखौटों से ऐसा स्वर निकाला जाता था कि स्वर की मानवीयता जितना संभव हो अधिकाधिक बदल जाती थी।[5]

जाहिर है कि दोनों दिशाओं से आती अवधारणाओं से आभास मिलता है कि प्राचीन मानवों के द्वारा उसके अति प्राचीन और प्राचीन समाज में संगीत का अविष्कार और फलीभूत प्रादुर्भाव स्वान्तः सुखाय नहीं, सर्वजनहिताय ही हुआ था। समाज-सापेक्ष प्रारूपों में उसे धार्मिक स्तवन और मन्नतपाठ का महत्व देकर लयबद्ध गीत विधि के उद्भावक का श्रेय दिया गया। विश्व की समस्त प्राचीन मानव जातियों में संगीत का विशिष्ट स्थान अवश्य था और उसकी सामाजिक उपयोगिता भी अक्षुण्ण थी। समाजवादी सौन्दर्य शास्त्री यूरी बोरेव के अनुसार - "स्वर-संप्रेषण - क्रिया मानवीय समुच्चार के माध्यम से एकीकृत और विकसित करता है - संगीत, जो लोगों को एकोन्मुख प्रक्रिया में लयबद्ध कर" श्रमलय से सुसंगत स्वरों के द्वारा श्रम-कार्य को अधिक उत्पादक बनाने में आदिम अवस्था में सहायक रहा तथा प्राचीन काल में गेय शब्द रचना तथा नृत्य के योग से विकास कर, मध्य युग और आधुनिक युग में सामाजिक संरचना काएक अविभाज्य और जीवन्त सृजन-क्षेत्र हो चला है।

सन्दर्भ सूची

1. वलेरी अलेक्सेयेव, "मानव जाति की उत्पति" पृ॰-168
2. अल्हुअस हक्सेल, "सेलेक्टेड प्रोजएडलेटर्स" (एवरी मैन, 1969) पृ॰-113
3. वही,
4. जार्ज थाम्पसन, "प्रीहिस्टारिक एगियन (1954)" पृ॰-12
5. डॉ॰ डेविड क्रेग, "मार्क्सिस्टस ऑन लिटरेचर" पृ॰-23
6. युरी बोरेव, "ए स्थेटिक्स" पृ॰- 259-260 (प्रोग्रेसमास्मे)

Scanned with OKEN Scanner

भारतीय संगीत संस्कृति एवं दर्शन का सौन्दर्यशास्त्रीय विवेचन

डॉ. अश्विनी कुमार सिंह

मननशील होने के कारण मानवचिंतन करता ही रहता हैं इसी कारण वह अपने जीवन में अनेक श्रेष्ठ उपलब्धियां अर्जित करता जा रहा हैं । किन्तु जब वह केवल अपने ही परिवार तथा अन्य भौतिक पदार्थों के संदर्भ में ही सोचता है, तब उसका चिन्तन भौतिक चिन्तन कहलाता है और इसके विपरीत जब वह उनसे उपर उठकर बुद्धि, आत्मा तथा परमात्मा, सृष्टि तथा प्राकृतिक वस्तुओं के विषय में सोचता है तो उसके चिन्तन की इस प्रक्रिया को बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक चिन्तन कहा जाता है।

अन्ततः इन्हीं आध्यात्मिक चिन्तकों, विचारकों एवं विद्वानों को भौतिकवादी समाज की मान्यता प्रदान करता है। स्वामी दयानंद सरस्वती ने दर्शन की व्याख्या करते हुए लिखा है, 'दृश्यते, ज्ञायते सत्यधर्मोऽनेन इति दर्शनम्' अर्थात् जिससे सत्य धर्म जाना जा सके, वही दर्शन है। वस्तुतः सत्य-धर्म विश्व की गतिविधियों के अनुसार ही स्थापित होता है। जगत् में मुख्यतः दो प्रकार के पदार्थ पाए जाते हैं - जड़ और चेतन। जड़ पदार्थों को इन चक्षुओं से देखा जा सकता है, परंतु चेतन वह है जिसके द्वारा प्राणी क्रिया करने में समर्थ होता है। वह जड़ के विपरीत दृश्य वस्तु न होकर अनुभव करने योग्य अर्थात् अनुभूतव्य है। यह चेतना आत्मा का विषय है। यह चेतन आत्मा क्या है, इस विषय पर चिन्तन और अनुभूति ही अध्यात्म अथवा दर्शन है।

दूसरे शब्दों में हम इस प्रकार भी कह सकते है कि आत्म-अनात्म पदार्थ (जड़-चेतन) के विषय में गहन चिन्तन की प्रक्रिया ही दर्शन है। भारतीय संस्कृति में इन विषयों का स्पष्ट विवेचन मिलता है। इन्हीं के आधार पर हमारे वेद, धर्म, दर्शन एवं अन्य कलाओं से संबंद्ध शास्त्रों का निर्माण हुआ है।

भारतीय दर्शन की विशेषताएं

भारतीय दर्शन के मतानुसार समस्त विधाओं का केन्द्र वेद है। यही से दर्शन और उनके सिद्धांतों का प्रतिपादन आरंभ हुआ है।

सभी प्रकार के भारतीय दर्शनों के उद्देश्य तथा उत्पति में कुछ सीमा तक समानता है। वे एक धर्म, ईश्वर, ब्रह्म, सत्ता, जीव तथा आत्मा और अन्ततः मोक्ष को ही जीवन का अंतिम लक्ष्य मानकर आत्मा के परमानंद की अवस्था में विश्वास रखते हैं। साथ-ही-साथ भारतीय दर्शन अमरत्व साधक सम्यक् दर्शन की शिक्षा देता है। यह अमरत्व परम लाभ है और इनकी प्राप्ति हेतु दूर दृष्टि तथा दिव्य सत्ता में आस्था रखता हुआ अनंत साधना, तपस्या एवं त्याग आदि के मार्गों को अपनाता है।

दर्शन एवं संगीत : समन्वयवादी दृष्टिकोण

प्राचीन काल से ही दार्शनिक एवं चिंतक आत्मा या सत्य से सौन्दर्य का साक्षात्कार करने के उपरांत भारतीय अभिव्यक्ति रूप में आनंदवाद के सिद्धांतों का प्रतिपादन करते आये हैं। सौन्दर्य का भावात्मक

फेकल्टी ऑफ परफोर्मिंग आर्ट्स, एम.एस. युनिवर्सिटी बड़ौदा (गुजरात)

Scanned with OKEN Scanner

रूप आनंद ही चिन्तन का केन्द्र विन्दु है। अतः यह सौन्दर्य-विषयक अप्रत्यक्ष संकेत है, जिसके आधार पर उपनिषद्, योगदर्शन, वेदान्त तथा अन्य धर्मग्रंथों का प्रणय हुआ। योगदर्शन में संस्कार के स्वरूप का निर्णय करने में रस सिद्धांत के स्थायी भावों के विवेचन से संबंधित महत्वपूर्ण संकेत मिलते हैं। इस दर्शन में वृतियां और संस्कारों के निरंतर चक्र की कल्पना की गयी है। चित्त में नाना वृतियों का उदय तथा क्षय होता रहता है। वृतियों का रूप स्थूल होता है और संस्कारों का सूक्ष्म। वृत्तियां क्षीण होकर संस्कार बन जाती है और अवचेतना मन में बस जाती है। इसी प्रकार मानव चेतना में प्रेम, भय, क्रोध, शोकादि समस्त चित्तवृत्तियां संस्कार रूप में विद्यमान रहती है। रस सिद्धांत में विभाव और स्थायीभाव के संबंध की कल्पना का मूल आधार यही है।

योगदर्शन में स्वरूप प्रज्ञा को एकाग्र चित्त साधना माना जाता है। न्याय दर्शन में वर्णित ज्ञान और प्रभा के भेदों में स्मृति तथा सृजनात्मक कल्पना की अनुभूतियां मानी हैं। न्याय में प्रभा के चार भेद माने गये हैं-

1. प्रत्यक्ष 2. अनुमिति 3. उपमिति

4. शब्द जो कि सादृश्यमूलक ज्ञान (मूर्ति, चित्रकला आदि) और श्रवणेन्द्रिय ज्ञान (संगीत आदि में लागू किये गए)। सांख्यदर्शन में रूप का विवेचन है। पांच सौन्दर्यशास्त्र तथा कलाओ में अपनी-अपनी विधियों एवं विशेष क्षेत्रों के अनुसार अपनाया गया है। यद्यपि वेदान्त में विश्व सौन्दर्य को मिथ्या प्रपंच माना गया है, तथापि यह सत्य है कि इसका भारतीय सौन्दर्य शास्त्र के ग्रंथों पर गहरा प्रभाव पड़ा है।

कलानुभूति का मूल रहस्य वेदान्त के सूत्रों में भी प्राप्त होता है। वैदिक काल के कलाकार और श्रोतावृन्द आदि का रहस्य भी उन सूत्रों में निहित है जिसका प्रयोग भारतीय कलाओं में किया गया है। सांख्यदर्शन ललित कलाओं के अध्ययन का आधार माना जाता है। उसमें भौतिक और आधिभौतिक दोनों तत्वों का उल्लेख भी महत्वपूर्ण है। जिस प्रकार कोई भी पदार्थ या कृति माध्यम के रूप में प्रयुक्त किये जाने पर कृति को सजीवता प्रदान करते हैं एवं कलाकार की क्रियात्मक कुशलता, कलाकृति को श्रेष्ठता की ओर ले जाते हैं जो, दैवीय है। प्राचीन काल से ही भारतीय कलाओं में इस दैवी तत्व की खोज होती रही है, जिसे भावरस और आत्मानुभूति आदि नामों से संबोधित किया जाता है। अनेक श्रेष्ठ और आध्यात्मिक कलाकारों ने इसका अनुभव तथा साक्षात्कार भी किया है।

यहां व्यक्ति के लिए एक ही मार्ग बच जाता है जो उसे कला की स्तुति की तरफ ले जाता है। कला ही सुख एवं दुःख, अच्छे और बुरे आदि से भरे पड़े एक अपनी ही दुनिया में ले जाती है। कला चूंकि प्रकृति, जगत् तथा विचारों को मूर्त रूप देती है, इसलिए वह मानस में एक ऐसे भाव को जन्म देती है, जिसे निवैयक्तिक कहा जा सकता है। यह भाव तब उत्पन्न होता है, जब कलाकृति अपनी उत्कृष्टता की ओर बढ़े और प्रस्तुत विचार, स्थितियां विभावनाएं वास्तविक जीवन के यथार्थ और अयथार्थ से कोई संबंध न रखें, वह मानव के निष्काम भावनाओं को उभारने और उसे सुख-दुःख की अनुभूति न हो। इसकी आध्यात्मिक अवस्था को मानव अपनी कला में प्रकृति की श्रेष्ठतम उपलब्धियों के समान व्यक्त करता है।

न्याय व वैशेषिक दर्शन और संगीत

संगीत शास्त्र का संबंध सभी भारतीय दर्शनों से माना जाता है। संगीत में षड्-दर्शनों का समन्वय होता है। न्याय और वैशेषिक कार्यकारण सिद्धांत का प्रतिपादन करते है। इन दोनों दर्शनों के मतानुसार बिना किसी कारण के कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता है। संगीत में भी कार्यकारण सिद्धांत का अनुभव किया जा सकता है। संगीत का आधार नाद, नाद से श्रुति, श्रुति से स्वर, स्वर से सप्तक, सप्तक से थाट, थाट से राग और राग से संपूर्ण संगीत की सृष्टि होती है। ऐसी दशा में श्रुति स्वर-सप्तक-थाट-राग और संगीतरूपी कार्यों के कारण क्रमशः नाद, श्रुति, स्वर, सप्तक और राग उत्पन्न होते हैं।

मीमांसा दर्शन और संगीत

मीमांसा में वेद-विहित कर्मों से धर्म का निरूपण किया गया है। मीमांसा का प्रथम सूत्र है - 'अथातो धर्मजिज्ञासा'। संगीत के माध्यम से हम ईश्वर के

Scanned with OKEN Scanner

गुणों का गान कर के धर्म को उपार्जित करते हैं। साम-गान से लेकर सूर, तुलसी, कबीर, मीरा आदि के भक्तिमय पदों को गाते-गाते साधक ईश्वर के परम भक्त हो जाते हैं। अर्थात् जो लाभ मीमांसा से प्राप्त होता है जो कि कर्म अर्थात् मानव की कर्म-विधा का मापदण्ड है, वही लाभ संगीत से भी प्राप्त होता है।

योग दर्शन तथा संगीत

दर्शन एवं संगीत में योग दर्शन द्वारा भी सामंजस्य स्थापित किया गया है, ताकि मनोविकारों एवं त्रुटियों को दूर करके तल्लीनता प्राप्त की जा सके। जिस प्रकार योगसाधना से हमारा चित्त एवं मन शुद्ध होता है - 'योगश्चित्तवृति निरोधः' अर्थात् चित्त की वृतियों का निरोध करना ही योग है - इसी प्रकार संगीत साधना भी एक प्रकार की योगसाधना है। संगीत साधना करते करते जब साधक उसके माधुर्य में तल्लीन हो जाता है तब वह बाह्य जगत् को भूल जाता है। वह अपने अंतःकरण में अलौकिक आनंद का अनुभव करने लगता है।

योग की तरह संगीत

प्रदर्शनी में भी आनेवाली बाधाओं को सतत अभ्यास, स्वर-साधना, गुरू तथा आराध्यदेवता की उपासना करके दूर किया जा सकता है। जिस प्रकार साधक के चित्त की वृतियों का निरोध करने में योगसाधना सहायक होती है, उसी प्रकार संगीत-साधना भी चित्तवृतियों का निरोध करती है।

सांख्य-दर्शन तथा संगीत

सत्कार्यवाद पर आधारित इस दार्शनिक सिद्धांत का अर्थ है कि कारण में कार्य आरंभ से ही विद्यमान रहता है, जैसे-तिल में तेल विद्यमान होता है। अर्थात् किसी वस्तु का होना अथवा न होना पूर्व निश्चित ही है। इसी को सत्कार्यवाद माना गया है। इसके अनुसार वही प्रकट होता है, जो पहले से ही विद्यमान होता है। जैसे वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष। संगीत में भी सत्कार्यवाद का सिद्धांत लागू होता है। जैसे नाद के बिना स्वर संभव नहीं है। नाद का सदैव वायुमंडल में ध्वनित होते रहने का सिद्धांत इसी तथ्य का प्रतिपादन करता है। इसी प्रकार यदि किसी गायक, वादक अथवा नर्तक के अंतःकरण में गायन, वादन अथवा नर्तन के जन्मजात संस्कार पहले से ही विद्यमान नहीं है तो योग्य से योग्य गुरू भी शिक्षा ग्रहण करने पर उसे संगीत का ज्ञान नहीं हो सकता।

वेदांत-दर्शन तथा संगीत

वेदान्त दर्शन ज्ञान-तत्व पर आधारित भारतीय दर्शन की अमूल्य परंपरा है, जिसका सारांश है कि अच्छी संगति से मानव बहुत कुछ ग्रहण करता है वेदांत के अनुसार श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन से साधक का अंतःकरण पवित्र होता है। अंतःकरण की पवित्रता से अज्ञान का आवरण नष्ट हो जाता है। ज्ञान का उदय होने से पुरूष सांसारिक बंधनों से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

इसी प्रकार भारतीय दर्शन के इस सिद्धांत के अनुसार निर्दिष्ट सिद्धांतों का संगीतकला के क्षेत्र में भी सामंजस्य और समन्वय स्थापित किया गया है, जो कि वस्तुतः परंपरागत एवं विशुद्ध भारतीय संस्कारों और संस्कृति पर आधारित है।

दर्शन एवं संगीत का पारस्परिक संबंध

दर्शन एवं संगीत में प्रत्यक्ष तो कोई संबंध नहीं है, परंतु परोक्षतः इनका एक-दूसरे से संबंध होना नितान्त अद्‌भुत है। दर्शन को गूढ़, गंभीर, चिन्तनप्रधान एवं नीरस विषय माना जाता है, जबकि संगीत का मूलगुण रंजकता एवं माधुर्य है। दर्शन का सीधा संबंध मानव मस्तिष्क से है जबकि संगीत मानव हृदय में व्याप्त है। परंतु यदि पाश्चात्य दार्शनिक ग्रंथों से भारतीय दर्शन-साहित्य की तुलना की जाए तो निसंदेह यह कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन-साहित्य संगीतमयी है।

किसी भी राष्ट्र का दर्शन अपने संगीत एवं साहित्य के प्रति दृष्टिकोण का निर्धारण करने में अत्यंत प्रभावी सिद्ध होता है। भारतीय दर्शन मूलतः आध्यात्मिक होने के कारण विभिन्न कलाओं तथा साहित्य पर उनका प्रभाव दृष्टिगत होता है। इस दृष्टि से वैदिक काल से ही दर्शन एवं संगीत में पारस्परिक संबंध रहा हैं। ये दोनों ही एक दूसरे से

Scanned with OKEN Scanner

प्रभावित रहे हैं। उदाहरणार्थ, वेद मूलतः दर्शन ग्रंथ है। परंतु उनके मंत्र गेय होने के कारण संगीतमय है। स्वरों की वैदिक एवं आधुनिक संज्ञाएं यथा - क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, षड्ज तथा ऋषभ आदि वेदों की उपशाखाओं, उपनिषदों, संहिताओं, शिक्षाग्रंथों में प्राप्त होती है। भारतीय दर्शन का दृष्टिकोण आरंभ से ही आध्यात्मिक रहा है। विभिन्न धर्मों के साथ-साथ संगीत भी पुष्पित-पल्लवित रहा हैं अतः संगीत में दर्शन का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

हमारे संगीत के इतिहास में स्पष्ट उल्लेख है कि अध्यात्म तथा दर्शन में एक प्रकार का सामंजस्य है। संगीत केवल मनोविनोद का ही साधन न होकर परम त्यागराज, हरिदास, चैतन्य महाप्रभु आदि पद-रचयिताओं ने संगीत तथा अध्यात्म के परंस्पर संबंध को प्रगाढ़ किया।

भारतीय संगीत एक परिचय

भारतीय संगीत कला है, शास्त्र है और विज्ञान भी है। भारत की कलाओं में संगीत सबसे प्राचीन कला है। संगीत ध्वनि से बनता है और ध्वनि की उत्पति सृष्टि के साथ ही हुई है। वैदिक काल से आर्जक संगीत कला भौतिक उत्कर्ष एवं यश प्राप्ति के उपरान्त आध्यात्मिक परितृप्ति एवं परम तत्वप्राप्ति का माध्यम भी मानी जाती है। सृष्टि की उत्पति के साथ ही उत्पन्न हुए ध्वनियों को मनुष्य ने परिष्कृत करके संगीत के रूप में ढाल दिया और उसे विभिन्न प्रकारों में ध्वनियों का शास्त्रीयकरण भी कर दिया। अर्थात् संगीत के जो स्वर है वो तो प्रकृति की ही भेंट हैं। मनुष्य तो केवल उसे व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करनेवाला माध्यम मात्र है।

भारतीय पुराण, ब्राह्मणग्रंथ, सूक्त, वेद, उपनिषद् एवं संहिताओं में संगीत का उल्लेख है जिससे हम यह जान सकते हैं कि भारत में संगीत का अस्तित्व पूर्ववैदिक काल से ही था। ऐसा भी माना जाता है कि संगीत सामवेद से लिया गया है। संगीत एक अमूर्त कला है और पूर्णतः श्रुति पर आधारित है। आधुनिक समय में संगीतकला के भिन्न-भिन्न स्वरूप, प्रकार, तत्वादि का दस्तावेजीकरण करने का प्रयास हुआ हैं परंतु साहित्य कला की तरह संगीत कला को पूर्णरूप से समझने के लिए मुद्रण का माध्यम पर्याप्त नहीं है, क्योंकि यह कला पूर्णतः कंठ और कान से संबंधित है।

भारतीय संगीत-परिभाषा एवं प्रकार

जैसा हमने पहले कहा है कि संगीत अमूर्त कला की शाब्दिक परिभाषा करना कठिन है और किसी भी अमूर्त की स्पष्ट परिभाषा करना संभव नहीं है। ये परिभाषाएं केवल संगीत कला का प्रारंभिक परिचय दे सकती है।

संगीत उस नैसर्गिक और सनातन भाषा का नाम है जिसके माध्यम से प्राणीमात्र ही उनके समयानुसार हृदय के गुप्त और अव्यक्त भावों को हावभाव और कण्ठस्वर द्वारा समश्रेणी के प्राणीयों में अनायास व्यक्त और वितरित किया करते हैं।

पं. जगदीश नारायण पाठक के अनुसार संगीत वह ललित कला है जिसमें स्वर, लय और ताल के माध्यम से संगीतज्ञ अपने मनोगत भावों को व्यक्त करता है।

उक्त परिभाषाओं के आलोक में संगीतकला को देखा जाए तो हम कह सकते हैं कि संगीत वह कला है जिसका प्रमुख कार्य मनुष्य की अभिव्यक्ति का माध्यम बनना है। संगीत मनुष्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति के लिए सबसे उपयुक्त माध्यम है। भारतीय संस्कृति के नाटक, उत्सव, कर्मकाण्ड, तिलकाभिषेक इत्यादि प्रसंगों में संगीत का विशेष महत्व रहा है और संगीत भारतीय जीवन का एक अति महत्वपूर्ण हिस्सा है। भारतीय संगीतज्ञों ने संगीत कला की परिभाषा इसी क्रम में की है। उपासना से लेकर उत्सव तक और आधिदैविक से लेकर आध्यात्मिक तापशमन तक भारतीय परंपरा में संगीत की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रही है। संगीत मानव जीवन की अनमोल उपलब्धि है।

भारतीय संगीत के प्रकार

भारतीय संगीत आरंभ में मुख्य दो धाराओं में प्रवाहित होता रहा है- एक धारा वह है जिसका प्रयोग मुख्यतः धार्मिक समारोह एवं उत्सवों पर विधि विधान के अंतर्गत किया जाता था। इस धारा के संगीत को 'वैदिक' या 'साम संगीत' के नाम से

Scanned with OKEN Scanner

जाना जाता है। और यह संगीत 'मार्गी संगीत' के नाम से प्रचलित है। संगीत की दूसरी धारा अवैदिक या लौकिक संगीत की धारा है जिसका प्रयोग लौकिक समारोह पर किया जाता था और इस धारा का उद्देश्य जनमनरंजन का था।

वैदिक काल से ही ये दोनों संगीत धाराएं सामानान्तर रूप से चलती रही हैं और समय-समय पर एक दूसरे को प्रभावित भी करती रही है। तात्विक रूप से देखा जाए तो दोनों धाराओं में केवल यही अंतर है कि मार्गी संगीत को संस्कार और परिष्कार प्राप्त हुआ है जिस कारण उच्च श्रेणी में स्थान प्राप्त है जब कि देशी संगीत को लोकरूचि के अनुसार विकसित होने के कारण सामान्य जनता में स्वीकृति मिली है।

मार्गी संगीत जहां शास्त्रगत नियमों से बद्ध रहा, वहीं देशी संगीत लोकसंगीत के नियमों के अनुसार नियंत्रित एवं विकसित होता रहा। मार्गी संगीत में नियमों का अनुशासन था तो देशी संगीत में जनरूचि एवं जनजीवन का प्रभाव था। मार्गी संगीतकला की गंभीरता एवं संयतता के लिए प्रसिद्ध है तो देशी संगीत स्वरवैचित्र्य एवं चपलता के लिए प्रसिद्ध है।

भारतीय संस्कृति एवं संगीत

जिस तरह संगीत की परिभाषा करना कठिन है, उसी प्रकार से संस्कृति की परिभाषा करना उतना ही कठिन काम है। संस्कृति किसी एक चीज या तत्व का नाम नहीं है। संस्कृति वह चीज है जिसमें मनुष्य जीवन के सभी अंशों का संमिश्रण रहता है। धर्म, जीवनशैली, रीतिरिवाज, परिवर और शिक्षा इन सब तत्वों से संस्कृति बनती है और संगीत भी इन तत्वों की तरह संस्कृति का अभिन्न अंग है।

मनुष्य सृष्टि का सर्वाधिक चेतन प्राणी है इसलिए उसे सामाजिक प्राणी कहा जाता है। अपनी सामाजिकता के चलते मनुष्य ने ऐसे समाज का निर्माण किया है जिसकी छत्रछाया में वह अपने जीवन को आनंदमय रूप से व्यतीत करे और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने ज्ञान, विज्ञान, कला , शिक्षा एवं शास्त्रों का अनुसंधान किया है। ये सब मिलकर संस्कृति बनते हैं और संगीत भी। देशी संस्कृति की अनेक कलाओं में से संगीत भारतीय संगीत में दर्शन एक है। संस्कृति और संगीत का पारस्परिक संबंध हमेशा अभ्यास का विषय रहा है।

भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में देखें तो भारतीय संस्कृति एवं भारतीय संगीत एक ही शरीर के अंग हैं जिन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। संस्कृति और संगीत साथ-साथ चलते रहे हैं और समय-समय पर दोनों में हुए परिवर्तनों ने एक दूसरे को प्रभावित किया है। जैसे-जैसे सभ्यता और भारतीय संस्कृति रंग बदलती गयी, संगीत ने भी अपने-आप को उसी रंग में ढाल लिया। आज भारतीय संस्कृति जहां सांचे में ढली हुई विकसित एवं प्रतिष्ठित है। दोनों के पारस्परिक संबंध के चलते ही यह संभव हुआ है। भारतीय संस्कृति के अनुसार संगीत मानव के स्वागत मनोरंजन का एवं आध्यात्मिक उन्नति का माध्यम है। संगीत की स्वरलहरियों के माध्यम से मनुष्य आत्मा से परमात्मा का संयोग साध सकता है। प्राचीन काल में मंत्रों का उच्चारण एवं ईश्वरोपासना संगीत की ध्वनि में होती थी तो आज के आधुनिक समय में मनुष्य तनावमुक्ति हेतु संगीत का प्रयोग करता है। जहां शब्द की सीमा समाप्त हो जाती है वहीं से संगीत का आरंभ हो जाता है। अभिव्यक्ति के सर्वाधिक उपयुक्त एवं सुचारू माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित संगीत को भारतीय संस्कृति के अनमोल विरासत के रूप में प्रतिष्ठित उपनिषदों एवं शास्त्रों में भी संगीत को परिमार्जित कला का स्थान मिला है। भारतीय परंपरा के संस्कारों में संगीत भी एक महत्वपूर्ण संस्कार है। अपरिमेय, अविश्लेष्य और अमूर्त संगीत को समझना हो तो भारतीय संस्कृति का अभ्यास अनिवार्य है।

भारतीय संस्कृति और भारतीय दर्शनशास्त्र में पुरूषार्थ को प्रमुख स्थान दिया गया है। ये पुरूषार्थ हैं - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। संगीत को पंचम पुरूषार्थ का स्थान देकर उसकी महत्ता की गयी है। योग वशिष्ठ रामायण में भी पंचम पुरूषार्थ के रूप में अभिज्ञानित किया गया है। भारतीय संगीत न केवल पंचम पुरूषार्थ के रूप में स्थापित है, अपितु उपर्युक्त चार पुरूषार्थ की प्राप्ति में भी वह महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। संगीत को मोक्षप्राप्ति का

Scanned with OKEN Scanner

महत्वपूर्ण माध्यम माना जाता है। संगीत, नृत्य और नाटक ये तीनों भारतीय संस्कृति के विविध आयाम हैं।

भारतीय संगीत एवं भारतीय सौन्दर्यशास्त्र

संगीत भारतीय कलाओं में सर्वश्रेष्ठ कला का स्थान प्राप्त किये हुए हैं और सभी भारतीय मीमांसकों ने संगीतकला की व्याख्या और मीमांसा की है। भारतीय सौन्दर्यशास्त्र के आदि पुरूष माने जाने वाले आचार्य भरत ने संगीत कला का मूल्यांकन करने के लिए जो मानक स्थापित किये हैं वो आज भी उतने ही उपयुक्त हैं। मुनि भरत ने नाट्यशास्त्र ग्रंथ में प्रबंध गीति और कपाल गीति जैसे वर्गीकरण दिये हैं। भरत मुनि ने अपने ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' में अठारह प्रकार के जातिगायन की एवं अनेक प्रकार के ग्राम राग की, 64 प्रकार के ध्रुव गान की मीमांसा की है। इसके उपरांत भी उन्होंने प्रदेशगीति की मीमांसा भी की है जिसमें मागधी, अर्धमागधी, पृथुला, सम्मवीता, कपाल और कम्बाला गीतियों को समाविष्ट किया गया है। भरतमुनि के अनुगामी मतंग मुनि, पार्श्वदेव, मुनि दुर्गाशक्ति इत्यादि मीमांसकों ने साधारण भिन्न एवं शुद्ध जैसे संगीत के प्रकार पृथक् किये हैं और उनकी मीमांसा की है।

पौर्वात्य सौन्दर्यशास्त्र में संगीत को साहित्य, चित्र, शिल्प और स्थापत्य जैसी अन्य ललित कलाओं के साथ ही स्थान देकर सम्मानित किया गया है। आचार्य भरतमुनि से लेकर अभिनव गुप्त, राजशेखर, जगन्नाथ, भट्टलोलट, महिम भट्ट, शंकुक, क्षेमेन्द, कुंतक, विश्वनाथ आदि पौर्वात्य पंडितों ने अपने अपने ग्रंथों में संगीत कला की मीमांसा की है और उसे एक उच्च कला के रूप में स्थापित किया है।

भारतीय दर्शनशास्त्र की दो प्रमुख धाराएं हैं जिसे 'न्यायशास्त्र' और 'सांख्यशास्त्र' के नाम से जाना जाता है। इन दोनों ही विचार धाराओं ने संगीत कला को सौन्दर्यानुभूति की कला के रूप में स्थापित किया है, और कला को परब्रह्म की साधना के लिए एक महत्वपूर्ण अध्ययन का स्थान दिया है। छांदोग्य उपनिषद् में कहा गया है यथा-

यइमे प्रसिद्धागायका वीणायांगायाति राजादिपुरतस्तेए
तमक्षित्यं भगवन्तमेंवगायन्ति।
तस्माद् भगवद् गायकदवायेव।
भगवतएवते गायकाधनसनयोधन
प्राप्तिमयः राजदेर्धनदाने स्वातन्त्रया भावादित्यर्थः।

जहां आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त, कुंतक जैसे शैव दार्शनिकों ने सौन्दर्यशास्त्र के अध्ययन में संगीत को प्रमुख स्थान दिया है, वहीं जगन्नाथ पंडित जैसे वेदान्ती दार्शनिक संगीत के रसास्वादन को ज्ञान प्राप्ति से कम नहीं मानते। इन दोनों विचारधाराओं ने संगीत को दो अवस्थाओं प्रकाश एवं विमर्श के रूप में देखा है और संगीत की सौन्दर्यपरक अनुभूति को ब्रह्मानुभूति के समान माना है। संगीत से मिलनेवाले सौन्दर्यात्मक आनंद को इन दार्शनिकों ने रहस्यात्मक आनंद की कोटि का बनाया है। यह नाटक और संगीत को सौन्दर्यानुभूति को ब्रह्मस्वाद से उत्पन्न अति आनंद के समान मानते हुए संगीत से प्राप्त होनेवाले सौन्दर्यानन्द को प्राप्ति में सरल मानते हैं क्योंकि संगीत के श्रोता निष्क्रिय रहते हुए भी सौन्दर्यात्मक आनंद में सराबोर हो जाते हैं और ऐसे आनंद की शक्ति रसज्ञ श्रोता को खुद अपनी ओर खींच लेती है। ब्रह्प्राप्ति हेतु कठिन साधना और कठिन अनुशासन की आवश्यकता नहीं है। न्याय दर्शन के दिग्गज पं. शंकुक ने कहे हैं कि संगीत कला में वो शक्ति है जो निष्क्रिय श्रोता से भी एकात्मकता स्थापित कर देती है। सांख्य और वेदांत दोनों विचारधाराओं में संगीत कला से प्राप्त होनेवाले सौन्दर्यानंद को व्यक्ति कला को लीन कर देनेवाला 'शुद्ध आनंद' कहा गया है। इन विचारधाराओं के समर्थकों ने भी कहा है कि संगीत कला मनुष्य की भावनाओं का उर्ध्वीकरण करती है जिससे मनुष्य का व्यक्तिगत स्वार्थ सौन्दर्यात्मक अनुभूति में विलीन हो जाता है और यही विलीनता को हम 'भक्ति' कह सकते हैं।

संगीत कला की अभिव्यक्ति के समय श्रोता की अंतरात्मा गायन में वर्णित भावों के संसर्ग में आकर उससे एकात्मक हो जाती है और मनुष्य स्वानुभूति की अवस्था में ब्रह्म की अनुभूति कर

Scanned with OKEN Scanner

सकता है। ऋग्वेद में भी संगीत को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। और ऋग्वेद के पदों को संगीत से जोड़ा गया है। संगीत के माध्यम से मनुष्य मन की अव्यक्त कामनायें और भाव व्यक्त हो सकते हैं। यह अभिव्यक्ति मनुष्य के वासना मोक्ष का माध्यम बन सकती है।

सौन्दर्यशास्त्र में वैयाकर्णों ने संगीत के ध्वनि को पर्याय माना है। भारतीय सौन्दर्यशास्त्र के विभिन्न परंपराओं के सभी दार्शनिकों ने भारतीय संगीत को साधना का अहम माध्यम माना है। संगीत को जैसे वेदों के षड्अंगों में स्थान मिला है वैसे ही मानवीय परिश्रम, शासन, संस्था, नीति, धर्मशास्त्र, तत्वज्ञान, वांगमय, धर्म जैसे संस्कृति को अंगों में भी स्थान दिया गया है। शिवतत्व रत्नकार की चौसठ विद्याओं में भी संगीत कला को प्रमुख स्थान दिया गया है। विश्व बंधुत्व, मैत्री, वफादारी, खुद्दारी, आत्मसम्मान इत्यादि मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में भी संगीत को उचित स्थान दिया गया है और इन मूल्यों की स्थापना एवं समार्जन में संगीत की भूमिका को अहम माना जाता है।

निष्कर्ष :

भारतीय संगीत अपने आप में एक ऐसी अमूर्त और अपरिभाषेय कला है जिसका संबंध भारतीय जीवन के हर हिस्से से जुड़ा हुआ है। भारतीय संस्कृति और भारतीय सौन्दर्यशास्त्र के उपलक्ष्य में जब संगीत कला का मूल्यांकन करते हैं तो कुछ रोमानी तथ्य प्राप्त होते हैं। संस्कृति और संगीत के संबंध के विषय में हम यह कह सकते हैं कि भारतीय संगीत भारतीय संस्कृति का ऐसा अभिन्न अंग है जिसके बिना भारतीय संस्कृति अपूर्ण रह जाती है क्योंकि भारतीय संस्कृति में मनुष्य के जीवन के हर क्षेत्र में संगीत समाया हुआ है और जन्म से मृत्यु तक की यात्रा में संगीत एक संस्कार के रूप में मनुष्य के साथ रहता है। भारतीय संस्कृति की कलाएं, शास्त्र एवं विज्ञान की तीनों विधा शाखाओं में संगीत को स्थान मिला है। यानी संगीत भारतीय दर्शन के अनुसार कला है, शास्त्र और विज्ञान भी है। इतना ही नहीं संगीत भारतीय धर्म से भी अनुबंधित है और यही कारण है कि शास्त्रीय संगीत के कई राग-रागिनियों के नाम देवी-देवताओं के नाम पर रखे गए हैं। कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि भारतीय संगीत एवं भारतीय संस्कृति का संबंध अविश्लेष्य, अपरिमेय और अपरिभाषेय हैं।

ऐसा ही संबंध भारतीय सौन्दर्यशास्त्र और भारतीय संगीत के बीच है। भारतीय सौन्दर्य शास्त्र ने जिन कलाओं को ललितकलाओं का सम्मान दिया है उसमें संगीत का स्थान सर्वप्रथम है। भारतीय सौन्दर्यशास्त्र ने भी संगीत को न केवल कला माना है अपितु ब्रह्मानंददायक तत्व और परब्रह्म प्राप्ति के सर्वोच्च श्रेष्ठ माध्यम के रूप में स्थापित एवं सम्मानित किया है।

Scanned with OKEN Scanner

संगीत - एक आवश्यकता

सरस्वती कुमारी

हमारी मूलभूत आवश्यकता है भोजन, वस्त्र, आवास। ऐसी लोगों की धारणा जमाने से चली आ रही है। शायद आगे भी चलती रहे जो काफी अधूरी प्रतीत होती है और आधी-अधूरी ही रहेगी। इस बातों को सुनने में आपको कुछ अनमना सा लग रहा होगा कि आखिर ये कहना क्या चाहती है। मेरे विचार से भोजन-वस्त्र आवास के साथ एक और चीज जोड़नी चाहिए। आपलोगों का प्रश्न होगा क्या? मेरा उत्तर होगा संगीत।

जी हां संगीत वह चीज है जिसके बिना मानव एक पल भी नहीं रह सकता। मानव ही क्यों? ये पेड़ पौधे, जीव-जन्तु खेत खलियान, धरती गनन आदि आदि सारा जहां इसके बिना पूर्ण नहीं है।

इससे संबंधित स्वनिर्मित पंक्तियां अग्रलिखित है।

संगीत जीवन का आधार
लाता है जिन्दगी में बहार
दर्शाता है आपस का प्यार
समझो जरा इसको यार
संगीत जीवन का आधार
जोड़ता हृदयों का तार
कहलाता खुशियों का हार
संगीत जीवन का आधार।

नन्हे शिशु की पहली किलकारियां सुनते ही लोग खुशी से झूम उठते हैं मंगल गीत, ढोल मंजीरे-शाहनाईयां बजना आरंभ हो जाती है। ये तो उनलोगों की आवश्यकता हुई जो दादा-दादी, चाचा-चाची, मामा-मामी, मां-बाप आदि-आदि रिश्तेदार हैं। संगीत की आवश्यकता उस बच्चे को भी होने लगती है। बालक को पृथ्वी पर आते ही भूख का एहसास होना आरंभ हो जाता है। जिसकी पूर्ति दूध से होती है, उसे संभालकर रखने के लिए कुछ वस्त्रों एवं रहने के लिए एक छोटा सा घर। किन्तु क्या एक बच्चा को पालने के लिए इन तीनों की आवश्यकता की पूर्ति हो जाएगी? नहीं बिल्कुल नहीं। इन सबसे बढ़के एक चीज है वह है संगीत। अगर उस बालक को प्यार से लोरी नहीं गाये और न प्यार से थपथपाये तो उसे नींद ही नही आयेगी जो बच्चे के लिए अत्यंत आवश्यक होता है। मां के द्वारा सुनाये उस लोरी का प्रभाव इतना अधिक होती है कि शिशु अपनी दुख-दर्द को भूलते हुए सुखद निद्रा में सो जाता है।

संगीत मानव के शारीरिक प्रक्रिया में जैसे हृदयगति, स्वसन में निश्चित लय रूप से समाई है इसके अनियमित हो जाने पर मनुष्य का जीवन खतरे में पड़ जाता है।

ई राम ऑल्टसूलर ने अपने लेख 'ए इनसायकाई ट्रीस्टस एक्सपरियन्स विद म्युजिक एज ए थेरेप्यूटिक एजेन्ट में लिखा है कि "मनुष्य प्रथमतः लयबद्ध प्राणी है। उसकी स्वसन, हृदय धड़कन, भाषा, चाल इत्यादि में लय होती हैं अर्थात् संगीत होती है।

प्यार भरी थपकियां एवं कुछ मीठे स्वरों में बोले गए बोल मानव ही नहीं जानवरों को भी अत्यधिक प्रभावित करता है, हमलोग अक्सर देखते हैं कि मालिक अपने कुत्ते को, घोड़सवार अपने घोड़े को किसान हल में जुते हुए बैलों को बड़े प्यार से दो चार थपकियां एक मीठे स्वर में कुछ बोल बोलता है कि पल भर में उनमें उत्साह भर जाता है

शोध छात्रा संगीत विभाग, ल.ना.मि.वि., दरभंगा।

Scanned with OKEN Scanner

और ये अनबोलते पशु मालिक के द्वारा समझाए कार्य का संपादन कर लेते हैं।

विना संगीत के जीवन अधूरा है हमारी संस्कृति में हर मानव के सोलह संस्कार होते हैं कोई भी ऐसा संस्कार नहीं जिसके गीत न हो या इन संस्कारों में संगीत का सहारा नहीं लिया जाता है। जन्म लेते ही सोहर, खिलौना खेलने पर खिलौना गीत, मुण्डन पर मुण्डन गीत, जनेउ में जनेउ गीत, शादी में मंगल गीत एवं मृत्यु पर शोक गीत होते हैं।

इन संस्कारों के अलावे कुछ सिखने में बड़ी सहायता करता है ये 'संगीत'। छोटा सा बालक पहली-पहली बार स्कूल जाना प्रारंभ करता है तो उसे किसी से मिलने-जुलने, पढ़ने-लिखने में बड़ी कठिनाई महसूस होती है, इसलिए प्रारंभिक पढ़ाई गेय कविता से शुरू होती है जिससे उसकी हिचकचाहट दूर होती है। बालक हावभाव के साथ कुछ शब्द सिखते हैं।

प्राणियों के अंदर जो चैतन्य तत्व है वह संगीत के द्वारा गति प्राप्ति करता है, आगे बढ़ता है विकसित होता है।

संगीत आत्मशांति देता है जिससे कई रोगो का इलाज भी बड़ी आसानी से कर देता है। कश्यप तंत्र में कहा गया है कि भोजन पश्चात यदि रूचि के अनुसार मधुर संगीत सुना जाए तो वह पाचन शक्ति को बढ़ाता है बहुत जमाने पूर्व एक घटना घटी थी एक हाथी पागल हो गया था राजा को इस समस्या से जूझने की कोई उपाय नहीं सूझ रहा था तभी एक पखावजी कुदउ सिंह थे जिन्होंने अपने पखावज के बोल से उन्मादी हाथी को अपने वश में किया।

मानव के आंतरिक शक्ति को जागृत करने का एक मात्र उपाय संगीत है तुलसी, कबीर, मीरा, व हरिदास आदि संतों ने संगीत के माध्यम से अपने को ईश्वर से जोड़ लिया। संगीत साधना करते-करते जब साधक स्वमार्धुय में तल्लीन हो जाता है एवं बाह्य जगत को भूल जाता है, तब वह अपने अन्तःकरण में अलौकिक आनंद का अनुभव करने लगता है। जिसका माध्यम सिर्फ और सिर्फ संगीत है।

सारी सृष्टि का आधार यह सात स्वर है। वैज्ञानिक, नेता, कवि, अभिनेता कोई भी हो परंतु सभी का सबंध संगीत से होता है। क्योंकि संगीत में वह शक्ति है जो मन को एकाग्रचित करता हैं

एकाग्रता की क्षमता से व्यक्ति बड़ा से बड़ा कार्य काफी सहजता से कर लेता है। इसलिए तो आज सभी स्तर के विद्यालय चाहे, महानगरों में स्थित विद्यालय हो या गांवों में सभी में संगीत की शिक्षा अनिवार्य रूप से होती है।

अन्ततः कहा जा सकता है कि संगीत जीवन के हर अवस्थाओं के साथ पूरे संसार में व्याप्त है।

Scanned with OKEN Scanner

मोक्षदाता है : भारतीय संगीत

राकेश रंजन

भारतीय मनीषिगण आत्मानुसंधान से प्रेरित थे। उनका वास्तविक लक्ष्य परमात्मिक ज्ञान और ईश्वरीय साक्षात्कार था। भारतीय संगीत का भी उद्देश्य मात्र मनोरंजन नहीं था, बल्कि परमात्मा का दर्शन ही मूल रूप से अभीष्ट था। इसलिए उन्होंने पूरी वर्णमाला से सात स्वरों (सा, रे, ग, म, प, ध और नि) और इन स्वरों के तरंगों के सूक्ष्म अनुषांगिक तत्वों अर्थात् 22 श्रुतियों का भी निरूपण कर उनके द्वारा अद्भुत आध्यात्मिक ज्ञान ईश्वरीय साक्षात्कार प्राप्ति के साधन के रूप में विकसित किया। इस बात की पुष्टि सात सुरों में प्रयुक्त होनेवाले वर्णों की आंतरिक उर्जा एवं उनकी आध्यात्मिक उपादेयता का सविस्तार विश्लेषण करने पर स्पष्ट होती है।

संगीत में प्रयुक्त प्रथमाक्षर सा है इसे षड़ज भी कहा जाता है। स+आ=सा का विशेष अध्ययन करने पर निम्नलिखित विशेषताएं स्पष्ट होती है।

1. सकार जल तत्वात्मक है।
2. यह दक्षिणायनात्मक है।
3. इसका रंग आकाश जैसा नीला है।
4. "स्वरोदय" के अनुसार इसका यान्त्रिक व रैखिक स्वरूप अर्द्धचन्द्राकार है।
5. इसका स्वाद तीता है।

सकार के संबंध में शास्त्रोक्त निम्नलिखित तथ्य विचारणीय हैं-

सीयन्ते उपभुजयन्ते संवर्धन कनक वाहन भूष्यादि सम्पा"

प्रचया अनेनेतिसः।"
सौ विद्या रूपिणी।"
सकारच्च जल तत्वस्यसम्भवः।"

तत्व चिन्तामणि के अनुसार इसका रूपालंकार निम्नलिखित है-

सकार सर्वलोकेषु सर्वभूतेषु संस्थितम्।
भूमिकीट पतंगेषु चिन्तयेदमृतोपपम्।।
पीतमेव देवरूप वराभय वरं शुभम्।।

आगम के अनुसार -

कोटिमानः सितः सः स्वार्द्धसगो द्विभुजान्वितः।

सकार के स्त्री रूप का ध्यान -

सिद्धक्रिया सकाराख्या सिताम्बुज निवासिनी
पाटलाभा करैर्धर्त चिदम्बुज वराभयान्।।

यह सिद्ध क्रिया नामक देवी का स्वरूप ध्यान है।

अर्थात् 'सकार' का पुरूष रूप अखिल जगत् के सभी प्राणियों में परिव्याप्त रहने वाला पीत वर्णाभायुक्त अमृतमय, वर तथा अभय मुद्रा धारण करने वाला है। साथ ही इसकी देवी कोटियोजन विस्तारवाला, श्वेत वर्ण वाला, द्विभुजाधारीण, हंस पर आरूढ़ रहने वाला स्वरूप स्पष्ट होता है।

'सकार' का स्त्री रूप 'सिद्ध क्रिया' नामक देवी है, जो श्वेत पद्म पर आसीन रहनेवाली है। लाल रंग की है। चतुर्भुजी है। हाथों में चिन्मुद्रा, कमल, वर तथा अभय मुद्रा धारण करने वाली है।

आकार

आकार का विशेष अध्ययन करने पर निम्नलिखित रूप सामने उभर कर आता है -

1) अकार वायव्याम्नात्मक है

* विभागाध्यक्ष, संगीत विभाग, जी.एम.एच.पी. कॉलेज, बगहा, प. चम्पारण (बिहार)

Scanned with OKEN Scanner

2) इसका रंग वायु वर्णात्मक अर्थात् हरित है,
3) इसका स्वाद अम्लीय है।
4) "गौरी कंचुकतंत्र" के अनुसार इसकी ध्वनि तरंग स्त्री रूपा है। "स्वरोदय" के अनुसार इसका यांत्रिक व रैखिक रूप वृताकार है। इसका स्वरूप निम्नलिखित है-

अकारं ब्रह्म देवत्यं हंसारन्ढं चतुर्भुजम्।
चतुर्वक्त्रं सुरूपं च सुखतायत् लोचनम्।।
दण्डं कमण्डलुंचैव मुँज मेखल धारिणम्।
ब्रह्म सूत्रधरां देवीं ब्रह्माणी प्रतिपाद्यताम्।।
(तत्वचिन्तामणि)

अर्थात् हंस पर आरूढ़ चार भुजाओं और चार मुखों वाला रक्तिम नयनों वाला, हाथों में दण्ड, कमण्डल, वर तथा अभय मुद्रा धारण करनेवाला तथा मुंज की मेखला धारण करनेवाला ब्रह्माणी का स्वरूप ही आकार का स्वरूप है।

अन्य ग्रंथों के अनुसार 'आ' कार का निम्नलिखित ध्यान स्वरूप वर्णित किया गया है:-

"पाशांकुरा करा श्वेता पद्म संस्थेभवाहना।
षष्ट्यूर्ध्व योजनमिता स्यादा भौक्तिक भूषणा।।"

अर्थात् हाथों में पाश और अंकुश धारण करनेवाली, श्वेत वर्णवाली, हाथी की पीठ पर स्थित कमल आसन पर आरूढ़ रहनेवाली, साठ योजना विस्तृत शरीर धारण करनेवाली, मोतियों की माला धारण करनेवाली आकरात्मिका शक्ति का स्वरूप स्पष्ट होता है।

अन्य आगम ग्रन्थों के अनुसार 'आकार' का निम्नलिखित ध्यान स्वरूप का वर्णन मिलता है। यथा -

"आकारख्याथवर्णीतु श्यामा शुक्लां वरांसुका।
धत्ते खट्वांग खेटक च क्रमेणैव वराभयौ।।"

अर्थात् श्याम वर्णाभायुक्त श्वेत रंग का वस्त्र पहनने वाली चार भुजाओं वाली, हाथों में खट्वांग, खेटक, वर मुद्रा तथा अभय मुद्रा धारण करनेवाली आकार रूपिणी शक्ति का स्वरूप है। तात्पर्य यह है कि आकार की शक्ति स्वयं ब्रह्म रूपिणी है।

'रे कार' अर्थात् रई। वर्ण शास्त्र अनुशीलन के पश्चात् 'र कार' वर्ण के संबंध में निम्नलिखित तथ्य उभर कर सामने आते हैं:-

'रकार' अग्नि तत्वात्यक है। अग्नि को वेदों और आगमों में रूद्र रूप कहा गया है।

"रकारोग्निवर्णाभं रक्त कौशेय वाससम्।
एक नेत्रं, रक्त द्रष्टं रसना सप्त संयुतम्।।
चतुर्भुजां, चतुर्वक्त्रं त्रिनेत्रं वह्नि दैवतम्।
मालां शक्तिं च सलपिं चाग्नि-कुण्डं करैर्धतम्।।
मेषारूढ़ महादीपं कालाग्नि रूद्र तेजसम्।
प्रशामकं तद् दुष्टानां विष सुप्त प्रवोधकम्।।"
(तत्वचिन्तामणि)

अर्थात् रकार कालाग्नि रूद्र स्वरूप है। अन्य ग्रन्थों के अनुसार 'रकार' के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि -

"त्रिकुणाम्बुज मेषस्थो रार्णो बाहु चतुष्टयम्।।"

इसी तरह आदि शंकर ने अपने ग्रन्थ यति दण्डैश्वर्य विधान पद्धति में "रकार" के संबंध में लिखा है कि

"रेफाख्या रेचिकाश्यामा सिहंस्था लेहिताम्बरा।
पंचास्याष्ट करैर्धते दक्ष वाम करेण सा।
खड्ग खेटांकुरा गदा शूलं वराभयान्।।"

अर्थात् रकार की शक्ति 'रोचिका' नामक देवी है। प्रारन्तर से रोचिका का ही अपर नाम दक्षिणा कालिका है। अर्थात् 'रकार' के अनवरत उच्चारण मात्र से तेज रूपिणी लाकिनी शक्ति रूद्र के साथ सक्रिय हो जाती है।

'इकार'

तंत्र ग्रन्थों के अनुशीलन के पश्चात् 'इकार' के संबंध में निम्नलिखित तथ्य उभर कर सामने आते हैं—

(क) गौरी कंचुकी तंत्रानुसार 'इकार' की ध्वनि-तरंग स्त्री-स्वरूपा है।
(ख) 'स्वरोदय' के अनुसार 'इकार' का रैखिक आकार त्रिकोणात्मक है।
(ग) 'इकार' तेजस् स्वरूपा है।
(घ) 'इकार' पूर्वाम्नायात्मिका है।

Scanned with OKEN Scanner

(ड.) इसका रंग लाल है।

(च) इसका स्वाद तीता है।

'तत्व-चिन्तामणि' के अनुसार 'इकार' का स्वरूप निम्न प्रकार का है:-

'इकार' पार्वती देवी सौम्य रूपा त्रिलोचना।
सुभ्ललाट बिम्बोष्ठी वलि त्रितय शालिनी।।
कुटिला कुंचिताकेशी पीनोन्नत पयोधरा।
हरिताभा पद्म संस्था वरामय करा स्मेरत्।।

अर्थात् इकार की शक्ति पार्वती स्वरूपा है। अन्य ग्रन्थों के अनुसार 'इकार' का स्वरूप निम्न प्रकार का है :-

"पीतं कारान्त कुलिशं परशुवैरिनाशनम्।
द्वयेक योजना मानं स्यादिकारं कच्छपस्थितः।।"

अन्य

"इकाराख्या त्विला देवी श्वेता मत्ते भगा शुभा।
चन्द्रहास वरौ दक्षे वामे धत्ते गदाभयौ।।

अर्थात् इकारात्मिका शक्ति का नाम 'इला देवी' है। दक्षिणाकाली और इला का वास मानव शरीर में मणिपूरक चक्र है। 'रे' की ध्वनि का उच्चारण निरन्तर करते रहने से मणिपूरक चक्र जागृत हो जाता है।

'गकार'

'गकार' के संबंध में कहा गया है कि:-

(1) 'ग' पृथिव्यात्मक वर्ण है, अर्थात् 'गकार' पृथ्वी तत्वाक है।

(2) यह अधराम्नायात्मक है।

(3) इसका रंग पीला है।

(4) 'स्वरोदय' के अनुसार इसका रैखिक स्वरूप चतुरस्त्रत्मक है। 'गकार' जहां श्री और वैभव स्वरूप है वहीं बौद्धिक विकासात्मक स्वरूप भी है।

तत्व चिन्तामणि तंत्र के अनुसार इसका रूपालंकार निम्नलिखित है :-

"गकारं गगनारूढं गजवक्त्रं चतुर्मुखम्।
अष्ट बाहुं सृणिं टंकं खड्गं चर्म तथैव च।।
त्रिशुलं पाशमभितो मूलकं मोदकं तथा।।
दधतं रौद्ररूपंचम हिम कुन्देन्दु सन्निभम्।।
विषं नाशयते हयेष मज्जात्वगस्थिगं तथा।।
महाकायं स्वयं हयन्तं सर्व विघ्न विनाशनम्।।

अन्य

'पाशांकुशकरः पद्मफणि संस्थोऽरूण प्रभः।
गकारः सर्पभुषः स्याच्छत योजनसंमितः।।

गकार के स्त्री स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि -

"गाख्या धूमा चतुर्वक्त्रा सिंहस्थाष्टभुजा शुभा।
धूम्राभा दक्षिणे धत्ते शूलं चाक्षं स्रुवं वरम्।।
वामे तु पुस्तक कुण्डीं कपालमभयं क्रमात्।।

अर्थात् 'गकार' की ध्वनि-तरंग का देवरूप महागणपति है और देवी सिद्ध लक्ष्मी है। इनका वास स्थान गणपति रूप में मूलाधार चक्र है तो ईश्वर रूप में अनाहत चक्र में। इस प्रकार का अनवरत उच्चारण अभ्यास करने से मूलाधार चक्र के साथ अनाहत चक्र की जागृति होती है।

'मकार'

'मकार' की तात्विक विवेचना करते हुए आगम-ग्रन्थों में कहा गया है कि 'मकार' परम प्रकाशात्मक सूर्य का प्रतीक है। यह आकाश तत्वात्मक है। यह उतराम्नायात्मक है। "स्वरोदय के अनुसार इसका रैखिक आकार बैन्द्वत्मक है"

'मकार' के रूपालंकार का वर्णन करते हुए "तत्व-चिन्तामणि" में कहा गया है कि -

'मकार' वृषारूढं भस्मोद् धूलित धुसरम्
नीलकण्ठं जटिलं सर्वनीति करं शिवम्।।
पंचवक्त्रं दशभुजं त्रिशार्द्ध पिंगल लोचनम्।
खड्गांकुश त्रिशुलानि पाशं डमरूकं तथा।।
कमण्डलु पद्मुष्यभयं पात्रं दधत करैः।

अन्य तन्त्रानुसार-

(क) *सामवेदस्तथा धौश्चाहवनीयस्तथैवच।*
ईश्वरः परमोदेव मकारः परि कीर्तितः।।
सूर्य मण्डलभा भाति हयकारश्चन्द्र मध्यगतः।

(ख) *मंडितो मुंडमालाभिः शशि खण्ड विराजिता।*
व्याप्तश्चतुर्भुजो धूम्रोमार्णः स्यात् मृगसंस्थित।

'मकार' की स्त्री रूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि

Scanned with OKEN Scanner

"द्वो विधा श्यामला देवी हयरथा स्फटिक प्रभा।
वीणा वादन सत्वाज्ञा वराभय करा शुभा।।

'मकार' के संबंध में शास्त्रानुशील करने पर निम्नलिखित तथ्य स्पष्ट होते हैं-

(1) 'मकार' का वास स्थान सहस्रार है, जहां याकिनी शक्ति के साथ कामेश भी वास करते हैं। यथा-

मकारश्चाग्नि संकाशो विघ्नो विद्युतासम।
सहस्रारे याकिनी स्यात् कामेराश्चैव भैरवः।।

अर्थात् 'मकार' के अनवरत उच्चारण अभ्यास से सहस्रार का जागरण होता है और साधक समाधि की अवस्था में चला जाता है।

'पकार'

पकार के संबंध में शास्त्रवचन है कि -

(क) 'पकार' वायु तत्वात्मक है।

(ख) यह पश्चिमाम्नायात्मक है।

(ग) इसका स्वाद अम्लीय है।

(घ) 'स्वरोदय' के अनुसार इसका रैखिक आकार वृताकार है।

तत्व चिन्तामणि के अनुसार इसका रूपालंकार निम्नलिखित है :-

"पकार रक्तवर्णाभं पद्मस्थं पद्म धारिणम्।
शंख चक्रं गदा पाणि पीत कौशेय वाससम्।।
चतुर्भुजं चतुर्वक्त्रं पद्मेशस्योपरि स्थितिम्।
यक्ष राक्षस भूतानि पिशाचान् ब्रह्म राक्षसान्।।
कुष्याण्डान् डाकिनीश्चैव भूतवेताल राक्षसान्।
अपस्मार ग्रहाश्चैव तथा बाल ग्रहानपि।।
स्मरनान्नाशयेत्येष विषं स्थावर जंगमम्।
कायिकं वाचिकं चैवमानसं विविधानतथा।।
जन्मान्कृत वापं नाश्चेत् स्मरणादसौ

अन्य

विंशद्भुजः पकारः स्यात् कोटि मानो वकास्थितः।

'पकार' के स्त्री रूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि -

पाख्येच्छाशक्ति रूपेयं शूल शक्ति वराभयान्
धत्ते करैः पंचवक्त्रा फुल्ल पद्मासना।।

अर्थात् 'पकार' विष्णु-स्वरूप है और इसका स्त्री रूप इच्छा शक्ति का है। इसका वास स्थल शरीरस्थ स्वाधिष्ठान चक्र है। जहां भुवनेश्वरी अपनी पुष्टि तथा अनंग मेखलादि शक्तियों के साथ निवास करती है-

जल तत्वात्मक उर्जा की जागृति इसी स्थान से होती है।

'धकार'

शास्त्रों के कथानुसार 'धकार' भी जल तत्वात्मक वर्ण हैं यह दक्षिणाम्नायात्मक है। इसका रंग आकाश के सदृश नीला है तथा स्वाद तीता है। 'स्वरोदय' के अनुसार इसका रैखिक आकार वृताकार है। 'तत्वचिन्तामणि' के अनुसार इसका रूपालंकार निम्नलिखित है-

धंकार पाटलाभासं द्विनेत्र च चतुर्भुजम्।
खड्ग चर्मधरं नीरं शरचाप समन्वितम्।।
एक शीर्ष महाकायं सिंहारूढ़ महाबलम्।
रौद्रहास निनंद ग्रह सैन्य विमर्दनम्।।
तुष्टतु हरते दोषं छाया दोषं चनाशयते।
पर दोष कृतं चैव बलिनां लंघन तथा।।
अनिलादि प्रहारैश्च रक्षते नाम संशयः।

अन्य

सिंह वाहश्चतुर्बाहुश्च चर्तुलक्षमितो हि धः।।

धकार के स्त्री रूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि -

श्यामला चामला धाख्या ह्येक वक्त्रा चतुर्भुजा।
वृषस्था शरिकामब्जं करै धत्तैः वरामयौ।।

अर्थात् सगुणात्मिका श्याम वर्णाभा युक्तअमला देवी का स्वरूप स्पष्ट होता है।

'नकार'

नइत्रनि अर्थात् 'नि' स्वर में 'न' के साथ 'इ' वर्ण संपृक्त है। अतः 'नकार' के संबंध में शास्त्रानुशीलन से जो तथ्य उभर कर सामने आया है, वह निम्नलिखित है-

Scanned with OKEN Scanner

(क) 'नकार' का वर्ण आकाशात्मक है, अर्थात् नीला है।

(ख) यह उत्तर आम्नायात्मक है।

(ग) यह आकाश तत्वात्मक है।

(घ) इसका स्वाद तीता है।

(ङ) 'स्वरोदया' के अनुसार इसका रैखिक आकार बैन्द्राकार है।

तत्व चिन्तामतिण के अनुसार नकार का रूपातंकार निम्न प्रकार है-

नकारं नील वर्णाभं कृष्णसार कृतासनम्।
चतुर्वक्त्रं चाष्टबाहुं ज्वालावंशधरं शुभम्।।
तोमरास्त्र धरं चर्मशक्ति चक्र विधारिणम्।
खड्गहस्त महावाहुमभीति दधतं शुभम्।।
आकाश गमनं चैव गुटिकांजन सन्निभम्।
वेतालोत्थापन चैव स्वस्थानी सर्व कर्माणि।।

अर्थात् नकार की ध्वनि-तरंग दैहिक, दैविक, वेतालादि सिद्धियों को प्रदान करनेवाली है।

अन्य स्वरूप

"द्विभुजं काकवाहं चतत्वसहस्त्रैर्हि नंभवेत्।

'नकार' वर्ण के स्त्री रूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि -

नोऽनन्त शक्तिदैवेशी मत्तमातंग संस्थिता।
एक वक्त्रा तडिद्गौरीधत्ते पद्म पराभयान्।

अर्थात् "अनन्त नामक देवी का प्रच्छन्न रूप 'नकार' को माना गया है।

इस प्रकार "सा,रे,ग,म,प,ध,नि" सप्तस्वर की ध्वनि - तरंग सर्वब्रह्मात्मशक्ति स्वरूप है तथा मानव शरीरस्थ मूलाधार स्वाधिष्ठान - मणिपूरक अनाहत्, विशुद्धि, आज्ञा, तथा सहस्रार स्थित सभी चक्रों को जागृत कर परमात्म दर्शन कराने में सक्षम है। इस तरह यह स्पष्ट होता है कि भारतीय संगीत का मूल लक्ष्य ब्रह्माण्ड में बिखरी दैविक उर्जा-स्रोतों का साक्षात्कार करना एवं ईश्वर दर्शन करना था।

इसकी संपृष्टि में महर्षि याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट कहा है कि-

"वीणा वादन तालज्ञः जाति विशारदः।
तालज्ञश्च प्रयासेण मोक्ष मार्ग प्रयच्छति।।"

अर्थात् जो गीत वाद्य, श्रुति, ताल में विशारद होता है वह मोक्ष को प्राप्त होता है।

Scanned with OKEN Scanner

नृत्यकला का मूर्तिकला, चित्रकला, एवं मन्दिरों से सहसम्बन्ध नृत्य अंग भंगिमाओं के परिप्रेक्ष्य में

संतोष कुमार

भारतीय संस्कृति सागर है, तो नृत्य उसमें समाहित होने वाली नदियों में से अति पावन गंगा है। जिस प्रकार गंगा जल में स्नान करने से जन्म जन्मांतर के पाप धुल जाते हैं उसी प्रकार नृत्य कला के श्रवण एवं दर्शन मात्र से ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है। इस विषय में विष्णु पुराण के द्वारिका-महात्म्य में कहा गया है कि–

यो नृत्यति प्रहृष्टात्मा भावैरत्यन्तभक्तितः।
स निर्दहति पापानि जन्मान्तरशतैरपि ।।

विष्णु पुराण, 'द्वारिका-माहात्म्य'

अर्थात्-जो प्रसन्न चित्त से, श्रद्धा और भक्तिपूर्वक, भावों-सहित नृत्य करते हैं, वे जन्म-जन्मांतरों के पापों से मुक्त हो जाते हैं।

संस्कृत साहित्य में कला शब्द के लिए शिल्प का प्रयोग भी किया गया है। इनका वर्गीकरण दो प्रकार से है- उपयोगी एवं ललित। ललित कलाओं में स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, संगीत एवं काव्य आते है। दृश्य कलाओं में चित्र, मूर्ति, स्थापत्य, नाट्य नृत्त, और नृत्य कला जो रूपात्मक कलाओं की श्रेणी में आते हैं। नृत्य भी एक ललित कला है। नृत्य कला कई कलाओं तथा विधाओं से जुड़ी हैं। यह एक तरफ तो–

गीतं वाद्यं तथा नृत्तं त्रयं संगीतमुच्यते।

संगीत रत्नाकर

संगीत के गायन वादन से जुड़ा हैं तो दूसरी तरफ अभिनय व नटन के अभिनय दर्पण व अमर कोष में–

एतच्चतुर्विधोपेतं नटनं त्रिविधं स्मृतम्।
नाट्यं नृत्तं नृत्यमिति मुनिभिर्भरतादिभिः ॥11-12॥

अभिनय दर्पण

अभिनय के तीन भेद नाट्य, नृत्तं और नृत्य बताये गये है। जिसमें नाट्य व नृत्तं, से जुड़ा हुआ हैं। वही ललित कला के चित्रकला और मूर्तिकला से भी नृत्य कला का सम्बन्ध रहा हैं।

इस प्रकार भारत वर्ष में नृत्य कला की अवधारणा संगीत कला, नाट्य कला, चित्रकला, मूर्तिकला, तथा भक्ति उपासना के साथ जुड़ी हैं।

मन्दिरों से नृत्य का जन्म हुआ है। देवदासी प्रथा मन्दिरों से प्रारम्भ हुई थी, दक्षिण भारत में देवदासी तथा उत्तर भारत में सुमंगली कही जाती है। यहाँ नृत्य कला पुष्पित व पल्लवित तथा विकसित होती रही। राज दरबारों में राज नर्त्तकियॉ होती थी जिनमें आम्रपाली, वसन्त सेना, श्यामा, चित्रगंधा, मादवी, मालविका आदि नामों का उल्लेख प्राप्त होता है। राज दरबारों में राजा के सान्निध्य में ही नृत्य कला को सुरक्षा, संरक्षण एवं सम्मान प्राप्त हुआ।

नृत्य व उसके उपकरण बोल, छन्द, लय, ताल, भाव, रस, राग, परन, करण, और अंगहार, हज़ारों साल से देवालय का अंग बने रहे है। वस्तुतः मन्दिरों के महन्त, राजदरबारों के राजाओं तथा हमारे ऋषि-मुनियों व नृत्याचार्यों ने मूर्तिकला, चित्रकला और नृत्य शास्त्र साहित्य के द्वारा नृत्य कला को संकलन, संरक्षण एवं सुरक्षा, प्रदान किया।

शोध छात्र, नृत्य विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

Scanned with OKEN Scanner

विष्णु धर्मोत्तर पुराण में कहा गया है कि—

बिना तु नृत्यशास्त्रेण चित्रसूत्रम् सुदुर्विदम्।

अर्थात- चित्र, मूर्ति शिल्प आदि ललित कला समझने के लिए नृत्य शास्त्र समझना आवश्यक है।

नृत्यः- पदार्थाभिनये भावाश्रयं नृत्यम् ।।

अभिनय दर्पण

मुद्रा, संकेतो के द्वारा शब्दों में निहित अर्थ का अभिनय करके उसका भाव प्रदर्शित करने को नृत्य कहते हैं। नृत्यकला एक सार्वभौमिक कला है, यह देखने में तो आसान लगती है लेकिन होती नहीं है। इस कला के जरिए मानवीय अभिव्यक्तियों का प्रदर्शन किया जाता है। नृत्य किसी भी तरह का हो, उसमें शारीरिक गतिविधियों और चेहरे के हावभावों के बीच सामन्जस्य होना बेहद जरूरी है।

नृत्य गतिमान दृश्य कला है। एक तरीके से सिर्फ एक बार घटने वाली कला, जो कुछ भी आपने कर दिया, तो कर दिया बाद में उसका सार संक्षेपण, बयान या परिभाषा सम्भव नही है। आपका पूरा शरीर समर्पित है और यदि आपकी हस्त-मुद्रा, भाव, अभिनय, अंग भंगिमा आदि उस क्षण विशेष के लिए कार्य आ गये, तो आ गये नही तो वह शब्द चला गया, वो गीत, वो ताल, वो नाद, वो क्षण चला गया, फिर वह हमेशा के लिए चला गया । यदि आप नृत्य में चूक गये तो उस क्षण को दुबारा पकड़ पाना लगभग असम्भव है। आप बेताली हो तो समझिये कि वहाँ नृत्य की मृत्यु निश्चित है, और अभिनय, भाव में भी यदि आपकी अन्दर की दुनिया आपका ईष्ट, ईश्वर बाहर प्रदर्शित नही हो पाया, तो आपका अभिनय सशक्त नही होगा।

नृत्य एक अकेली ऐसी विद्या है, जिसमें दर्शकों के सामने आप अपने पूरे शरीर के साथ उपस्थित होते हैं। नृत्य की शास्त्रीय शर्तो पर कसा हुआ शरीर ही सही बोलेगा तब जाकर उसमें से सुर-ताल, ठेका, छंद, लय, विन्यास, हस्त मुद्रा, भाव-भंगिमा ठीक-ठीक निकलेगी। नृत्य का काम क्षणिक है, पानी के बूँद सरीखा। एक बुलबुला उठा और बुदबुदा कर बैठ गया और फिर वह पानी में विलीन हो गया। साक्षात नर्तक या नृत्यांगना ही एक समय में चित्र बन जाती है और दूसरे क्षण एक मूर्ति। ए टाइप ऑफ मोबाइल पेन्टिंग। (एक तरह से चलता-फिरता चित्र) ए टाइप ऑफ मोबाइल स्कल्पचर। (एक तरह से चलता-फिरता मूर्ति)। इसके बाद और भी बहुत सारी चीज़ें हैं, जो नृत्य को दृश्य में बदल देती है नृत्यांगना के वेश-भूषा, रूपसज्जा, आभूषण और उपर से लेकर नीचे तक श्रृंगार और उसके नुपूर, घुंघरू आदि तो आप यह समझें कि भारतीय संस्कृति की एक जीवन्त मूर्ति आपके सामने आ गयी है। आप इसे 'रसो वै सः' कहें या 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्'।

नृत्य हमारे यहाँ शाश्वत काल से चली आ रही अनेक धारणाओं को पूरे वैभव के साथ उजागर करती है। हमारे यहाँ शिव के ताण्डव, पार्वती का लास्य, श्री कृष्ण का रास की अवधारणा भी बेहद प्रभावी है। शिव को नटराज, कृष्ण को नटवर, विष्णु को मोहिनी कहते हैं। यदि कुछ है, तो यह सृष्टि है। यह धरती लगातार चक्कर लगा रही है। यह सब कुछ निरन्तर गति, निरन्तर नृत्य, निरन्तर चाल, निरन्तर आनन्द है।

हमारा शरीर उस पूरी कला के लिए एक उपकरण बन जाता है। जिस पर नृत्य होता है और जो नृत्य लीला के समय मन्दिर से लेकर पूरा ब्रह्माण्ड तक मान लिया जाता है, और इस प्रक्रिया में शरीर के साथ मन जुड़ जाता है अभिनय दर्पण व उपनिषद् में कहा गया है कि—

यतो हस्तः ततो दृष्टि, यतो दृष्टि ततो मनः,
यतो मनः ततो भावः, यतो भावः ततो रसः।
रसो वै सः।

अर्थात-जहाँ हाथ है वहाँ दृष्टि, जहाँ दृष्टि वहाँ मन, जहाँ मन हो वहाँ भाव, जहाँ भाव वहाँ रस है और वही परब्रह्म है। यहाँ तक पहुंचना है। यहाँ तक पहुंचने के लिए हमारे ऋषि-मुनियों एवं नृत्याचार्यो ने पूरा एक सूत्र बता दिया है कि यदि आपका अंग हिलेगा, तो वह तब हिलेगा जब मन उसका संचालन करेगा। मन, शरीर दोनों एक होंगे और मन जब एक आपका सौष्ठव में रहेगा तब आपका मन, शरीर को आज्ञा देता है और उस शरीर में जो भाव

Scanned with OKEN Scanner

उठते है,उसकी परिणति 'रस' में होती है। सामने बैठे दर्शक को यही रसानुभूति होती है। दर्शक में रसास्वादन से लेकर पुनः अपने शरीर को उपकरण बनाकर उसे एक चक्र देने की क्रिया ही नृत्य की प्रक्रिया है।

नृत्य इस अर्थ में, सृष्टि के विराट स्पन्दन का कलात्मक आँकलन है, जहाँ आत्मा और परमात्मा, देवता और मनुष्य, शरीर और प्रतिमा, शब्द और संगीत का भेद मिट जाता है। नृत्यरत शरीर इस लिहाज़ से एक मूर्तिमान दैवीय सत्ता में परिवर्तित हो जाती है।

नृत्य कला मानव जाति के समान ही प्राचीन है। हम किसी भी नृत्य को देखे, तो हमे ताल और लय के साथ हाथ पैर चलाते दिखाई देते हैं। ऐसा कोई नृत्य नही जिसमें बिना हाथ पैर चलाये काम चल सकता हो, यह हाथ पैर चलाना अंगविक्षेप कहलाता हैं। जब किसी गीत के शब्दों का भावार्थ बताया जाता है तो उसे अभिनय और जो वाणी, शरीर के अवयव (अंग,प्रत्यंग,उपांग) और चेहरे के रंग इन तीनों द्वारा कलाकार के हृदयगत भावों को जो भावित करता है, वे भाव है। रस भावों को अभिव्यक्त करने की चेष्टा प्राणिमात्र का स्वभाव है। भावाभिव्यक्ति से दूसरों तक पहुँचाने का माध्यम ही रस निष्पति हैं।

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पतिः।"
नाट्य शास्त्र

मानव ने जब से अपने भावों को अंगो से हिलाकर प्रदर्शित करना शुरू किया, तभी से नृत्य कला का सूत्रपात हुआ। उस समय भाषा नहीं थी। अतः मानव ने अपने भाव अंग-संचालन से ही प्रकट किए। भारतीय परम्परा में ऐसा माना जाता है कि नृत्त की उत्पत्ति भगवान शिव ने की है। शिव की नृत्य मुद्राओं को नंदी द्वारा संकलित किया गया। नंदी के द्वारा यह भरत को मिला और फिर यह पृथ्वी पर प्रचारित हुआ। नृत्त के द्वारा किसी अर्थ विशेष की अभिव्यक्ति नही होती, **"भावाभिनयहीनं तु नृत्तमित्यभिधीयते"** अभिनय दर्पण, वह तो केवल नाट्य की शोभा बढाने वाला उपादान है। भगवान शंकर ने इस नृत्त के हेतुभूत रेचक, करण, अंगहार, व पिण्डी बंधों का सृजन कर उन्हें ताण्डु मुनि को प्रदान किया तब उन ताण्डु मुनि ने उन्हें भाण्ड, वाद्य से संयुक्त कर जिस नृत्त प्रयोग की सर्जना की वह 'ताण्डव' नाम से प्रसिद्ध हुआ। भरत मुनि ने नाट्य के लिए ब्रह्मा द्वारा कथा, गान, अभिनय, रस (नाट्य वेद) तथा 24 अप्सराओं द्वारा प्राप्त किया। शिव के द्वारा ताण्डव अंग का नृत्त, पार्वती द्वारा लास्य अंग का नृत्त, विष्णु से वृत्ति-प्रवृत्ति, प्राप्त हुआ था। इन सभी उपकरण के द्वारा, नाट्य व नृत्त के सम्मिश्रण से ही 'नृत्य'' की उदभावना हुई है, जिसका श्रेय एवं प्रथम संकलन कर्ता प्रमुख रूप से भरत मुनि को दिया जाता है। जिन्होंने नाट्यशास्त्र के रूप में संकलन, संरक्षण एवं सुरक्षा प्रदान किया। इसी तरह अन्य आचार्यो ने जिनमें नंन्दिकेश्वरकृत अभिनय दर्पण, शारंगदेवकृत संगीत रत्नाकर, धनंजयकृत दशरूपक, अभिनव गुप्त टीका अभिनव भारती, रामचन्द्र-गुणचन्द्रकृत नाट्य दर्पण, विष्णुधर्मोत्तर पुराण, विष्णु पुराण, अग्नि पुराण, आदि प्रमुख है, जिन्होंने नृत्य शास्त्र साहित्य की रचना कर संकलित एवं संरक्षित किया।

नृत्य एक प्रदर्शन मूलक कला है। इसकी बारीकियों को लेखनी या लिपि द्वारा अभिव्यक्त करना कठिन कार्य है। नृत्य को मूर्तिकला, चित्रकला व नृत्य शास्त्र साहित्यों में सूत्र कारिका के रूप में सदियों से प्रतीक के रूप अंकित करने की परम्परा रही है, जिसमे भाव, अंग-भंगिमाओ व हस्त मुद्राओं को संकलित किया जाता है, जो आज भी अपने मूल रूप में जीवित है।

इसके उदाहरण भारत के विभिन्न मन्दिरों में देखे जा सकते हैं। उत्तर में वाराणसी, मथुरा, सारनाथ आदि के मन्दिरों व मूर्तिकला की नक्काशी, उड़ीसा के कोणार्क का सूर्य मन्दिर यहाँ की विरहोत्कंठिता, वासक सज्जा आदि अष्ट नायिकाओं भेद की तथा विभिन्न अंग.भंगिमाओं में अंकित नर्तकियों की मूर्तियाँ बनाई गयी हैं। दक्षिण के कैलास मन्दिर कांचीपुरम, रथ मन्दिर मामल्लपुरम्, मदुरै, श्री

रंगपट्टनम, रामेश्वरम का मन्दिर, बृहदेश्वर शिव मन्दिर तंजौर, चौसठ योगिनी मन्दिर मध्यप्रदेश, कंदरीया महादेव मन्दिर खजुराहो, कैलास मन्दिर ऐलोरा, दशावतार मन्दिर देवगढ़ झासी आदि प्रमुख हैं। चिदम्बरम् के नटराज मन्दिर में अंकित एक सौ आठ करण नृत्य मूर्ति जो चन्देल के राजा ने भरतमुनि के नाट्य शास्त्र के आधार पर बनायी गई थी। बाघ गुफाएँ, खजुराहों, महाराष्ट्र के ऐलोरा गुफा, अजंता एलीफैण्टा, बादामी आदि विभिन्न गुफाओं में नृत्य प्रतिमा तथा नृत्य भित्ति चित्र को देखी जा सकती हैं। यहाँ विभिन्न भाव-भंगिमा, अंग-मुद्रा, पाद विन्यास व अष्ट नायिका भेदों के रूप अंकित किया गया है।

वस्तुतः मूर्ति निर्माण में आरम्भ से ही मनुष्य के मुख्यतः दो उद्देश्य रहे हैं। एक तो किसी स्मृति को अतीत में जीवित बनाये रखना तथा दूसरे अमूर्त को मूर्त्त रूप देना, अव्यक्त को व्यक्त करना अर्थात् किसी भाव को आकार प्रदान करना। भारतीय ललित कलाओं की आधार भूमि, भौतिक विलास न हो कर धार्मिक अनुभूति रही हैं, ये कलायें मुक्तिदायक तथा जिसका फल आत्मानुभूति हैं।

आज कल आधुनिक युग में संगीत की सुविधा इतनी ज्यादा हो गयी है कि आप उसके सीडीज, डी. वी.डी, कैसेटस देखकर भावों को लिपि या संकलित कर आसानी से नृत्य की भंगिमाओं का अध्ययन कर सकते हैं। मगर यह अध्ययन मात्र अपनी कला या किसी दूसरे कलाकार की बेहतर अदायगी को देखकर समझने का जतन भर ही होगा। नृत्य एक साधना है, जिसकी पूर्ति विना गुरू के संभव नहीं है। प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये गुरू सम्मुख होना आवश्यक है।

सन्दर्भ सूची

1. भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण, वाचस्पति गैरोला
2. कत्थक नृत्य शिक्षा , पुरू दाधीच
3. विष्णों धर्मोत्तर पुराण, चौखम्भ प्रकाशन
4. देवप्रिया, यतीन्द्र मिश्र
5. नाट्य शास्त्र, चौखम्भा प्रकाशन

Scanned with OKEN Scanner

बैदिक युगीन भारतीय संगीत वाद्यों का विवेचनात्मक अध्ययन

-डॉ॰ रेनू वर्मा

वैदिक युग भारत के सांस्कृतिक इतिहास में प्राचीनतम युग माना जाता है। वेदों को विश्व का आदि वाङ्मय मानते हैं। वैदिक युग से अभिप्राय उस सुदीर्घ कालखण्ड से है जिसमें चारों वेदों तथा उसके विविध अंगों का विस्तार हुआ है। वैदिक साहित्य में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के अलावा इनकी व्याख्या करने वाले 'ब्राह्मण', 'आरण्यक', 'उपनिषद्' आदि ग्रन्थ तथा तत्कालीन रीति-रिवाजों पर प्रकाश डालने वाले सूत्र ग्रन्थों का समावेश होता है।

भारतीय संगीत का उद्गम भी वेदों में परिलक्षित होता है। सामवेद का संगीत की दृष्टि से विशिष्ट स्थान है। इसमें भारतीय संगीत का अनादि स्वरूप प्रथम बार अभिव्यंजित हुआ है। जैमिनीय-सूत्र के अनुसार गीति के लिए ही साम संज्ञा है- 'गीतिषु सामाख्या' अर्थात् जो मन्त्र गाए जाते हैं, वही साम है। साम मौलिक रूप में गान का द्योतक है। वैदिक संगीत पर दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि उसमें गायन की प्रधानता रही है। फिर भी जो सामग्री प्राप्त होती है उससे हम उस काल में वाद्यों की स्थिति का ज्ञान भलीभांति कर सकते हैं। गायन के साथ वाद्यों का भी प्रयोग होता रहा है । उद्गाता के गायन के समय उनकी पत्नियां विभिन्न प्रकार की वीणाओं का वादन किया करती थीं- कल्लिनाथ ने एक वैदिक बचन उद्धत किया है, जिसके आधार पर प्रमाणित होता है कि यज्ञान्त-गान अर्थात् सामगान में संगत के लिए वीणा का उपयोग किया जाता था।

"तावदश्वमेध-प्रकरणे 'ब्राह्मणौ वीणा गायिनौ गायतो ब्राह्मणोघ्न्यो गायेन' इति श्रुतेः।"

विभिन्न प्रकार के संगीत-वाद्य जैसे कि ताल-वाद्य तथा वीणा का प्रयोग ऋचाओं को सुन्दर बनाने के लिए किया जाता था। वैदिक समय में संगीत का प्रयोग विभिन्न धार्मिक कार्यों में भी दृष्टिगोचर होता है। ब्राह्मणों की पत्नियां अग्नि के चारों और पिच्छोरा अथवा पिच्छोला वीणा वाद्य बजाकर नृत्य किया करती थीं। ऋग्वेद में निम्न वाद्यों का उल्लेख पाया जाता है- दुन्दुभि, वाण, नाली, कर्करि, गोबा, पिंग और आघाटि। इसमें दुंदुभि के अतिरिक्त अन्य वाद्यों का स्वरूप-निर्णय वर्तमान स्थिति में संदिग्ध है। वैदिक शास्त्रों में उपलब्ध वाद्यों के सम्बन्ध में विभिन्न ग्रन्थकारों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है-

आघाटी

'आघाटी' नामक वाद्य का उल्लेख ऋत्र 1०/146/2 में पाया जाता है-

'आघाटीभिरिव घावयन्नण्यनिर्महीयते' ।

'वैदिक इंडेक्स' में आघाटी को मंजीरे के रूप में लिया है-

Aghati is a musical instrument the 'Cymbal' used to accompany dancing. It is known to the Rigveda and Atharva Veda.

सायण के अनुसार यह एक तन्तु वाद्य है। सायण ने आघाटी के लिए अन्य पर्याय घाटलिका

असिटेण्ट प्रोफेसर, संगीत सितार, बी॰डी॰जैन गर्ल्स पी॰जी॰ कॉलेज, आगरा।

Scanned with OKEN Scanner

तथा काण्डवीणा बताया है तथा इसका वादन वाण के समान काष्ठ-खण्ड से किया जाता था। आघाटी का अर्थ घाट अर्थात परदों से निर्मित वाद्य है। परन्तु स्पष्ट प्रमाण के अभाव में आघाटी को परदे वाले वाद्य के रूप में मानना अनुचित होगा। सामवेद के साथ बजाई जाने वाली वीणाओं के दस प्रकारों का उल्लेख करते हुए आघाटी का उल्लेख किया है। इनमें आघाटी को लोह-शलाका से बजाने का संकेत किया है। जिसका उल्लेख वैदिक युगीन तन्तु वाद्य के अन्तर्गत किया है। कर्टसैक्स के अनुसार ऋग्वेद में चार वाद्यों का उल्लेख मिलता है। आघाटी स्पष्ट है तथा उसका अनुवाद मंजीरा अथवा डंम के रूप में लिया जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि कर्टसैक्स के आघाटी के सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा नहीं व्यक्त की है कि उसे मंजीरा माना जाए अथवा डंम परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि वे एक ताल-वाद्य के रूप में 'आघाटी' को लेते हैं। वैदिक युग में हम देखते हैं कि तन्तु वाद्य के लिए 'वीणा' सामान्य संज्ञा प्रयुक्त की जाती है तथा आघाटी, घाटलिका, काण्डवीणा, पिच्छोला पिच्छोरा, तालुक वीणा, गोधा वीणा, अलाबु, कपिशीर्ष्णी, कर्करी आदि का उल्लेख मिलता है।

वाण :

ऋग्वेद 9/51/1 में वाण नामक तन्त्री वाद्य की गम्भीर ध्वनि का उल्लेख मिलता है। शततन्त्री 'वाण' के सम्बन्ध में तैत्तिरीय संहिता में निम्न उल्लेख पाया जाता है- ''वाणः शततन्तुर्भवति श्तायुः पुरुषः शतेन्द्रिय आयुष्येवेन्द्रिये प्रतितिष्ठन्ति। इस वाद्य की तन्त्रियां मौंजी की बनी होती थीं तथा उनका वादन 'इषीका' अथवा बेतस् के वघकार खण्ड से किया जाता था- ''पृष्ठयस्योपाकरणं वाणेन शततन्तुना। मौन्ज्यास्तन्तवः वेतसंवादनम्। आपस्तम्ब सूत्र में 'वाण' वाद्य की सम्पूर्ण रचना का वर्णन मिलता है। वीणा दण्ड में दस छिद्र तथा प्रत्येक में मौंजा के दस तन्तु पिरोह जाते थे। इस प्रकार शततन्त्री वाले वाण-वाद्य का निर्माण होता था तथा वादन के लिए वेणुकाण्ड तथा वेतसूकाण्ड का प्रयोग किया जाता था। सायण के अनुसार 'वाण' शततन्त्री' युक्त 'वीणा' है- ते मरुतः वाणं शतसंख्याभिस्तंत्री-भिर्युक्तवीणाविशेषं धमन्तो वादयन्तः। ऋग्वेद में अन्यत्र भी वाण-वाद्य की सप्त तन्त्रियों का संकेत मिलता है- माता यन्मन्तुयंथस्य पूर्व्याधपि वाणस्य सप्तधातुरिज्जनः इस मन्त्र पर सायण की व्याख्या निम्नानुसार है- वाणस्य वाद्यस्य सप्त धातु निषादादिसप्तस्वरोपेतो जनः अभिगच्छति तद्वत् तद्गुणोपेतं भावः। 'वैदिक इन्डेक्स' में 'वाण' का स्पष्टीकरण इस प्रकार है- 'वाण, ऋग्वेद और अथर्ववेद, में सेन्टपीटर्सवर्ग कोश के अनुसार 'वाद्यसंगीत' का घोतक है। किन्तु बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों में यह महाव्रत समारोह के समय प्रयुक्त सौ तारों वाली (शत तन्तु) एक प्रकार की वीणा का द्योतक है। ऋग्वेद में इस वाद्य यन्त्र की सात 'धातुओं' का स्पष्ट उल्लेख है, जिन्हें अन्यत्र सात वाणियां कहा गया है।

वैदिक परम्परा के आधार पर वाण का 'वीणा' के अनुरूप मानना अनुचित नहीं होगा। वेद के भाष्यकार सायण इसको 'सप्तन्त्री' वीणा के अर्थ में लेते हैं। पाश्चात्य मनीषी मैक्समूलर के अनुसार इसका अर्थ केवल कण्ठ स्वर से लिया जाना उचित है। कारण यह है कि बीणा वादन अथवा वेणु के पर्यायवाची होने के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष साक्ष्य उपलब्ध नहीं हैं। अतः विभिन्न विचारकों की मान्यता तथा आपस्तम्ब सूत्र में वर्णित वाद्य के रचना-वर्णन को देखकर वाण को तन्तु वाद्य मानने में कोई सन्देह नहीं रह जाता है तथा वादन के सम्बन्ध में यह संकेत मिलता है कि वाण हार्प जाति का वाद्य रहा होगा तथा जिसका वादन वेणुकाण्ड से किया जाता था। ऋग्वेद के 'ऐतरेय आरण्यक' में दैवी तथा मानुषी वीणा का सुन्दर सामंजस्य स्थापित किया गया है । वीणा के शिर से अभिप्राय तुम्ब फल से है; काष्ठ खोह उसका उदर है जो कि ध्वनि में गुंजन उत्पन्न करता है; वीणा की जिह्वा उसकी वादन क्रिया है; वीणा की अनेक तंत्रियां उसकी अंगुलियां हैं; वीणा से उद्भूत होने वाले स्वर उसकी वाणी है, शरीर वीणा में जैसे धमनियां हैं वैसे ही दारवी वीणा में अनेक तन्त्रियां हैं। मानव शरीर की भांति वीणा भी चर्म-आच्छादित की जाती है।

उपर्युक्त वर्णन को देखकर यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वीणा में एक से अधिक तन्त्री प्रचलित हो चुकी थी। वीणा तुम्ब युक्त थी तथा वीणा को

Scanned with OKEN Scanner

भी चर्म से आच्छादित किया जाता था। यजुर्वेद संहिता में वीणा के महत्व का वर्णन है। अश्वमेध यज्ञ के समय वीणा-वादन से युक्त गान का उल्लेख हुआ है।

गोधा वीणा :

शुक्ल कात्यायन सूत्र में गोधा वीणा तथा काण्डवीणा का उल्लेख मिलता है- 'गोधा वीणा का' काण्डवीणाश्च पलयो वादयन्ति।" श्री तार्लेकर के अनुसार व्याख्याकार कात्यायन श्रौत सूत्र ने गोधा नामक प्राणी के चर्म से आच्छादित होने के कारण इसे गोधा वीणा कहा है-

The commentator of Katryayana Srautasutra tell us that Godha Vina was called so, as it was covered by the skin of Godha (an alligator).

वैदिक इन्डेक्स में 'गोधा' का स्पष्टीकरण इस प्रकार मिलता है ।

(अ) इससे 'धनुष की प्रत्यन्चा का आशय ऋग्वेद के एक स्थल पर निश्चित तथा दूसरे स्थल पर सम्भव प्रतीत होता है। रॉथ भी इसका अथर्ववेद के एक मात्र स्थल पर जहां यह शब्द आता है, यही आशय ग्रहण करते हैं।

(ब) 'ऋग्वेद' के एक स्थल पर रॉथ और हिलेब्रान्ट द्वारा इस शब्द का आशय वाद्य यन्त्र' स्वीकार किया गया है।

(स) अन्यत्र इससे एक पशु, सम्भवतः 'मगर' का अर्थ प्रतीत होता है; जैसा कि लुडविग और बेबर का विचार है, अथवा सम्भवतः एक बड़ी 'छिपकली' है जैसा रौथ और ज़िमर मानते हैं। 'अथर्ववेद' में भी कदाचित् एक पशु का आशय है।

काण्ड वीणाः

काण्ड शर अथवा वाण के लिए पर्याय है तथा इन्हीं से निर्मित होने के कारण यह वीणा काण्ड वीणा कहलाती है-

"काण्डः शर इत्युच्यते तन्मध्यो वीणाः।

वैदिक इंडेक्स में काण्ड वीणा का स्पष्टीकरण इस प्रकार मिलता है - यह वाद्य यन्त्र एक प्रकार की वीणा का नाम है, जो नड़ों के जोड़ों से बनाई जाती थी। 'काठक संहिता' में महाव्रत के समारोह के समय इसके उपयोग का उल्लेख है-

"Kanda Veena, the names of a musical instrument, a kind of lute made out of joints of reed, which is mentioned as used at the Mahavrata ceremony in the Kathaka Samhita."

श्री तार्लेकर ने कांड वीणा का इस प्रकार उल्लेख किया है -

"The Kanda Veena appears to be made out of joints of reed. It was to be played with a plectrum."

कर्करि

ऋग्वेद 2/43/3 में 'कर्करि' नामक वाद्य का उल्लेख है-

'यदुत्पन् वदसि कर्करिः यथा'

सायण के अनुसार कर्करि' एक वाद्य विशेष है।

वैदिक इंडेक्स में कर्करि का वीणा के रूप में उल्लेख मिलता है। यह वाद्य यन्त्र सम्भवतः 'वीणा' है जो ऋग्वेद और उसके बाद आता है। मैत्रायणी संहिता' उन मवेशियों का उल्लेख करती है जिनके कान पर वीणा जैसा चिह्न (कर्करि-कर्ण्यः) लगा दिया जाता था। डॉ. परांजपे ने कर्करि का रूप इस प्रकार व्यक्त किया है 'कर्करि कर्ण्य' अर्थात् 'कर्करि के समान कर्ण वाली। गौओं का उल्लेख इस वेद में है जो इस वाद्य के स्वरूप निर्णय में सहायक नहीं है। धर्मावती श्रीवास्तव के अनुसार कर्करि एक ऐसा फल है जो पानी में होता है तथा इसकी पेंदी में छिद्र होता है। सम्भवतः इसी में बनी वीणा कर्करि वीणा कहलाती थी। बी.सी. देव के अनुसार सम्भवतः कर्करि में कर्करि फल अनुनादक के रूप में होता था—

It is supposed that the karkari might have had the Karkari fruit as a resonator.

एस.कृष्णास्वामी ने कर्करि को आधुनिक सरोद के समान तत वाद्य के रूप में माना है। परन्तु सरोद

के रूप में मानने में उनका क्या आधार रहा है- इसका कोई स्पष्टीकरण नहीं मिलता ।

अलाबु वीणा :

वैदिक इंडेक्स में अलाबु का विवरण इस प्रकार मिलता है। वैदिक इंडेक्स में इसका अर्थ लौकी दिया है। अथर्ववेद में इसके बने पात्रों का उल्लेख है-

The bottle-gourd (Lagenaria vulgaris) vessels made of it are referred to in the Atharvaveda:

अलाबु वीणा में दो तार लगाए जाते थे, ऐसा नान्यदेव का कथन है- द्वितन्त्रिका तु विज्ञेया, अलाबूपाङ्.ग-संज्ञिता। श्री तार्लेकर ने अलाबु वीणा के सम्बन्ध में कहा कि श्रौत सूत्र में वीणा के रूप में अलाबु का उल्लेख मिलता है जो कि तुम्ब युक्त थी-

"Alabu Vina mentioned in the Srauta Sutras was a lute with a gourd."

श्री के वासुदेव शास्त्री ने अलाबु वीणा को तुम्बयुक्त माना है। पाणिनी शिक्षा में 'अलाबु' वीणा का निर्देश है जिसमें 'निर्घोष' शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिससे अनुमान कर सकते हैं कि अलाबु वीणा का प्रयोग तानपुरे के समान होता होगा- "लाबु-वीणा-निर्घोष दन्तुमूल्यः स्वरानुगः।"

धर्मावती श्रीवास्तव ने अलाबु वीणा में अलाबु लौकी का तुम्बा का प्रयोग माना है।

नाड़ी

वैदिक काल में सुषिर वाद्यों का भी प्रचलन रहा है। वैदिक इंडेक्समें वंशी के रूप में इस वाद्य का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। 'काठक संहिता में भी यही अर्थ है जहां एक स्थल पर तुणव के साथ-साथ इसका उल्लेख है-

Nadi means a musical instrument a reed flute in the Rigveda as well as the Kathak Samhita where is one passage it is mentioned along with the Tunava.

सायण के शब्दों में 'इयं नाड़ीः वाद्य विशेषों वेणुः धम्यते वाद्यते यद्वा नाडीति वाङ्.नाम इयं स्तुतिरूपा वाक्। एस.कृष्णास्वामी ने नाड़ी का अर्थ साधारण वाद्य संज्ञा के रूप में लिया है जो किसी भी वाद्य के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। नाड़ी शब्द से एक नालिका या नलिका के रूप का आभास होता है, जिससे स्पष्ट होता है कि वह सुषिर वाद्य रहा है, जो फूंक से बजाया जाता था।

तुणव :

'वैदिक इंडेक्स' में तुणव का उल्लेख इस प्रकार मिलता है। तुणव बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों में यह एक वाद्य यंत्र सम्भवतः 'वंशी' का द्योतक है। एक 'वंशीवादक' की पुरुषमेघ के बलि-प्राणियों के अन्तर्गत भी गणना कराई गई है-

"Tunava denotes in the later samhitas and the Brahmanas a musiscal instrument is enumerated among the victims of Purusamedha of 'human sacrifice."

उपर्युक्त वर्णन से मात्र यह ज्ञात होता है कि तुणव एक प्रकार का वंश वाद्य रहा होगा परन्तु इसके अतिरिक्त उसमें छिद्रों की संख्या अथवा वादन प्रध्यिा सम्बन्धी कोई जानकारी नहीं मिलती है। एस.कृष्णास्वामी ने तुणव को लकड़ी से बना वंश के समान सुषिर वाद्य माना है। बी.सी. देव ने भी तुणव को सुषिर वाद्य ही माना है।

बकुरा

'वैदिक इंडेक्स' में बकुरा के सम्बन्ध में इस प्रकार स्पष्टीकरण मिलता है। ऋग्वेद के (IX, 1,8) स्थल पर हवि की उपाधि के रूप में यह प्रयुक्त हुआ है और मिलकर यह दोनों शब्द एक प्रकार के वायु यन्त्र के द्योतक हैं -

Bakura in one passage of the Rigveda (IX, 1,8) is used as an epithet of Drti the combined words denoting a wind instrument of some kind.

कर्टसैक्स ने भी बकुरा को सुषिर वाद्य के रूप में लिया है। शंख को बकुरा का परिवर्तित रूप माना है- Bakura, it is characterized as a loud

Scanned with OKEN Scanner

instrument used in battle to terrify the enemy? Bakura is the name of the shell trumpet. के. कृष्णमूर्ति ने भी बकुरा को सुषिर वाद्य के रूप में माना है। वैदिक ग्रन्थों में वर्णित वर्णन तथा अन्य सभी विद्वानों के दृष्टिकोण के आधार पर बकुरा को सुषिर वाद्य के रूप में मानना उचित होगा।

यजुर्वेद में अवनद्ध वाद्यों के रूप में दुंदुभि तथा भूमि दुंदुभि का उल्लेख मिलता है। भूमि-दुंदुभि से अधिक प्राचीन है। अन्य अवनद्ध वाद्यों में आडम्बर, लम्बरा, वनस्पति आदि का उल्लेख है। परन्तु बी. सी. देव ने इन वाद्यों की संरचना आदि पर प्रकाश नहीं डाला है।

दुंदुभि

शत्रुओं को परास्त करने के लिए दुंदुभि का उल्लेख पाया जाता है। दुंदुभि की गर्जना वीरों के हृदय में उत्साह का संचार करती है तथा शत्रुओं के हृदय में भय का। दुंदुभि का घोष समस्त दिशाओं में परिव्याप्त होने की बात अथर्ववेद में उल्लिखित है। रथों की प्रतियोगिता के साथ दुंदुभि की तुमुल ध्वनि का उल्लेख है। भूपृष्ठ पर बनाई गई दुंदुभि के लिए 'भूमि दुंदुभि संज्ञा का प्रयोग किया जाता है। भाष्यकार भट्टभास्कर के शब्दों में 'चर्मणा आच्छादित मुखं भूगर्भम्। सामान्य दुंदुभि का निर्माण काष्ठ कुहर पर चर्माच्छादन करने से होता है। भूमि दुंदुभि के लिए काष्ठ का उपयोग नहीं होता, केवल भूमि पर गर्त खोदकर उसी को चर्म के आच्छादित किया जाता है तथा 'आहनन' नामक वादनदण्ड से इसका वादन किया जाता है।

'वैदिक इंडेक्स' में भूमि दुंदुभि इस प्रकार वर्णित है। दुंदुभि जो प्रत्यक्षतः एक ध्वन्यानुकरणात्मक शब्द है, युद्ध और शांति दोनों ही समयों में प्रयुक्त 'ढोल' जैसे वाद्य का अर्थ है। ऋग्वेद तथा उसके बाद से इसका उल्लेख मिलता है। एक विशेष प्रकार के ढोल को 'पृथ्वी ढोल' कहते है जिसे भूमि में खुदे हुए एक गड्ढे को चर्म से ढककर बनाया जाता था। मकरसंघंति के समय किए जाने वाले 'महाव्रत' संस्कार में सूर्य के लौटने (उत्तरायण होने) में बाधक प्रभावों को बहिष्कृत करने के लिए इस प्रकार के ढोल का व्यवहार होता था। 'ढोल बजाने वाले' को पुरुषमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में सम्मिलित किया गया है।

Dundubhi apparenlty an onomatopetic word, means 'drum,' as used in both war and peace. It is often mentioned from the Rigveda onwards, A special sort of drum was the earth drum made by digging a hole in the ground and covering it with a hide. This was employed in the Mahavrata a rite performed at the winter solstice, for the purpose of driving away influences hostile to the return of the sun. A 'drum beater' is included in the list of sacrificial victims at the Purusa-medha or human sacrifice.

वाण एवं दुंदुभि के वर्णन को देख कर यह लगता है कि वैदिक काल में वाद्यों की निर्माण-कला का ज्ञान हो चुका था। अवनद्ध वाद्य के लिए चर्म को किस प्रकार रखा जाए, इस बात का पूर्ण ध्यान वैदिक समय में रखा गया है । यजुर्वेद सूत्र वाड्.मय में इसकी निर्माण विधि का विस्तृत वर्णन मिलता है। अग्नीध्रीय मण्डप के पश्चिम में एक गड्ढा खोदा जाता था तथा उसको बैल के नीवन चर्म से आच्छादित किया जाता था। जिसमें केश वाला भाग उपर की ओर होता था । इस चर्म को चारों ओर से खूंटियों के द्वारा भूमि में पक्का कर दिया जाता था। इस प्रकार की दुंदुभि को बजाने के लिए उसी बैल की पूंछ को वादनदण्ड के रूप में काम में लाया जाता था। यहां यह विचारणीय है कि वादन दण्ड के रूप में काष्ठ खण्ड का प्रयोग नहीं किया गया है। बैल की पूंछ तथा काष्ठ द्वारा आघात करने पर नाद की विभिन्नता अवश्यम्भावी है। सम्भव है कि युद्ध आदि अवसरों पर दुंदुभि द्वारा उत्पन्न नाद को अधिक दूर तक व्याप्त करने में पूंछ द्वारा आघात अधिक प्रभावशाली रहा होगा।

Scanned with OKEN Scanner

अथर्वकालीन दुंदुभि काष्ठ से बनाई जाती थी तथा उसका मुख चर्म से आनद्ध होता था-

"वानस्पत्यः सम्भृत उस्रियामि।

इसकी बद्धियों को मृसण रखने के लिए तैल का उपयोग किया जाता था-

"प्रत्नाससमित्रेभ्यो वादज्येनाभिधारितः"।

गर्गर :

वैदिक ग्रन्थों में गर्गर वाद्य का उल्लेख मिलता है। पर इसकी संरचना कैसी हो अथवा किस श्रेणी के अन्तर्गत वह आता है, इसका स्पष्ट संकेत नहीं मिलता है। भाष्यकार सायण के अनुसार गर्गर ऐसा वाद्य है, जिससे गर्गर ध्वनि उत्पन्न होती है। यद्यपि इससे वाद्य के स्वरूप का बोध नहीं होता तथापि कल्पना की जा सकती है कि यह उस समय चर्म वाद्य रहा है-

अथ स्वराति गर्गरी गोधा परि रुनिन्यनत्
पिंगा परि च निष्कद्दिन्द्राय ब्रहनोद्यतम्।।

"वैदिक इंडेक्स' में मात्र एक वाद्य यन्त्र के रूप में इसका विवरण मिलता है-

"Apparently the designation of a musical instrument, is mentioned once in the Rigveda."

कर्टसैक्स ने गर्गर का तत वाद्य के रूप में उल्लेख किया है। परन्तु किस आधार पर इसको तत माना है, इसका कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया है-

Gargara is described as a string instrument therefore it probably was the horizontal arched harp, the only stringed instrument depicted on Indian reliefs before the christian era.

आडम्बर :

एक प्रकार का 'ढोल' था। वाजसनेयी-संहिता की पुरुषमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में ढोल बजाने वाले आडम्बराघात का उल्लेख है-

"Adambara was a kind of 'drum' a drummer' is mentioned in the list of victims at the Purusha-medha (human sacrifice) in the Vajasaneyi Samhita.

चैतन्य देसाई के मतानुसार-'आडम्बर' शब्द वेद में वीणा के लिए प्रयुक्त हुआ है। श्री देसाई ने नान्यभूपाल द्वारा उल्लिखित 'औदुंबरी' को आडंबर शब्द के सदृश माना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक युग में घन-वाद्यों के अतिरिक्त अन्य सभी वर्गों के वाद्यों का विकास हो गया था। गान के साथ वाद्यों की संगत की जाती थी। उस समय एकाकी वादन प्रचलित नहीं हुआ था । दुंदुभि एवं वाण के उल्लेख से यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि उस समय वाद्य की निर्माण-कला से मानव भलीभांति परिचित हो चुका था। वीणा में मूंज की तन्त्रियां तथा आडम्बर काष्ठ के प्रयोग से यह बात और स्पष्ट हो जाती है कि काष्ठ के गुणों से भी वह परिचित था। दुंदुभि में चर्म विशेष का प्रयोग, बुद्धियों को तेल से मृसण करना, उसके ज्ञान की ओर स्पष्ट संकेत है।

सन्दर्भ सूची

1. हिन्दू सभ्यता - राधा कुमुद मुखर्जी, पृ. 28.
2. म्यूजिक ऑफ द साउथ एसियन पुपल - स्वामी प्रज्ञानन्द, पृ. 81.
3. अर्जी इंडस सिविलाइजेशन - अर्नस्ट मैके, पृ. 141.
4. लोथल एण्ड इंडस सिविलाइजेशन - एस.आर.राव, अध्याय 7, पृ. 87.
5. अ हिस्टघि ऑफ इण्डियन म्यूजिक - स्वामी प्रज्ञानानन्द, पृ. 87.

Scanned with OKEN Scanner

तबला वाद्य के इतिहास में एक नया अध्याय

डॉ. गौरांग भावसार

- क्या तबला भारतीय अवनद्ध वाद्य है?
- क्या तबला विदेशी वाद्य है?
- क्या तबला अमीर खुसरो ने बनाया है?
- क्या तबला का उद्‌भव पखावज को काटकर हुआ है?

उपर्युक्त प्रश्न तबला वाद्य के उद्‌भव को लेकर अभी तक चर्चा में रहे हैं और भारतीय शास्त्रीय संगीत के महाविद्वानों ने इन्हें सुलझाने का भरसक प्रयत्न किया है। प्रस्तुत लेख में, मैं भी इसी विषय में कुछ कहने जा रहा हूं।

सबसे पहले मैं यह कहना चाहूंगा कि आज से एक हजार साल पहले भारत में आज के जैसा ही तबला वाद्य था, उसकी वादन शैली भी आज के जैसी ही थी और उसका प्रचार-प्रसार भी पर्याप्त मात्रा में था। लेकिन उस समय उसका नाम क्या रहा होगा और उसका प्रचार-प्रसार कैसे हुआ होगा ऐसे प्रश्नों को सुलझाना आज कठिन है। यह जरूर कहा जा सकता है कि उस समय उसकी एक उन्नत वादन-शैली निश्चित रूप से रही होगी। इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

देवी-देवताओं, ऋषि-मुनियों, राजर्षि-महर्षियों की यह पावन भारत-भूमि अपनी विशाल सांस्कृतिक विशिष्टता के कारण पूरे विश्व में अपना अलग अस्तित्व रखती है। भारत-भूमि का संगीत भी विश्व संगीत में श्रेष्ठ स्थान पर विराजमान है। ऐसे भारतीय संगीत की मुख्य तीन धाराओं-गायन, वादन और नृत्य के क्षेत्र में से मैं वादन-क्षेत्र की एक विशिष्ट शैली-तबला वादन के साथ जुड़ा हुआ हूं। अतः तबले के प्रायोगिक एवं शास्त्रीय दोनों पक्षों के साथ मेरा गहरा नाता है।

वाद्य विभाग, एम.एस. विश्वविद्यालय, बड़ौदा

प्रायोगिक पक्ष भारत में समृद्ध है, परंतु शास्त्रीय पक्ष में हद तक मतभेद जरूर है। जब मैं तबला विषय के साथ स्नातक, स्नातकोत्तर और विशारद की पढ़ाई कर रहा था, तब अनेक बार दूरदर्शन एवं आकाशवाणी पर ही नहीं, अपितु शैक्षिक संगीत-संस्थाओं में भी पढ़ाया जाता था कि तबले का आविष्कार हजरत अमीर खुसरो द्वारा हुआ। ऐसी मान्यता अनेक स्थानों पर आज भी है। एक अन्य प्रचलित मान्यता यह भी है कि पखावज को काटकर ही तबला वाद्य बनाया गया। पर यह सब पढ़ते और सुनते हुए मेरे मन में संशय उत्पन्न हुआ कि जब भारतीय संस्कृति एक महान संस्कृति है और भारतीय संगीत उसका एक अविभाज्य अंग है, भारत के प्राचीन ग्रंथों, हस्तप्रतों एवं वेदों में भी संगीत के महात्म्य, वाद्यों की आवश्यकता वादन-विधि एवं उत्सवों के संगीत का वर्णन किया गया है, तो फिर महान परंपरा में यह गलत फहमी कैसे आ गई कि तबले का जन्म किसी विदेशी व्यक्ति ने किया है? इस रहस्य के तह तक पहुंचने की प्रबल इच्छा हुई।

इसे समझने के लिए सदियों पीछे जाना जरूरी था। उसके लिए भारत के प्राचीन गुफाओं, मंदिरों, स्तूपों और हस्तलिखित प्राचीन पांडुलिपियों का अध्ययन आवश्यक था। फलस्वरूप भारत में भ्रमण करते हुए अनेक प्राचीन शिल्पों का अवलोकन किया, किन्तु मुझे कहीं भी तबला वाद्य का शिल्प नहीं मिला। मेरा विश्वास डगमगाने लगा था कि तभी अपने परिवार के साथ गुजरात राज्य के साबरकांठा जनपद के (प्राचीनकाल में 'इडरदुर्ग' 'इलादुर्ग' और 'इल्वदुर्ग' नामों से प्रसिद्ध) इडर नगर पहुंचा। यह

Scanned with OKEN Scanner

नगर पर्वतों से घिरा हुआ है। यहां का 'इडर गढ़' किसी जमाने में तत्कालीन राजा का किला हुआ करता था। यह किला आज भी खंडहर रूप में मौजूद है। इस स्थल पर अनेक मंदिर एवं जैन देरासर स्थित है। इस ऐतिहासिक किले पर हम 9 नवंबर 1997 को पहुंचे। यहां पर्वतमाला के मध्य भगवान् शान्तिनाथ के प्राचीन जैन श्वेताम्बर देरासर का अवलोकन किया, जिसकी बाहरी दीवार पर आज जैसे तबला वाद्य का वादन करती हुई स्त्री वादिका की प्राचीन मूर्ति द्रष्टव्य है। उस मूर्ति में आज जैसी ही वादन शैली (हाथों का रख-रखाव) देखकर सर्वप्रथम इस प्राचीन धरोहर और इसके निर्माता को साष्टांग प्रणाम किया। तत्पश्चात् देरासर के कार्यालय पहुंचकर जानकारी ली तो पता लगा कि यह शिल्प बाईस सौ साल से भी ज्यादा पुरानी है। इसका संरक्षण सेठ आनंदजी-मंगलजी का ट्रस्ट करता है। देरासर का इतिहास जानने के लिए मुझे वहां 587 (हस्तलिखित) पांडुलिपियों को देखना पड़ा। लगातार पांच दिनों की मशक्कत के बाद 'इडर गढ़ का इतिहास' नामक पुस्तक की पुस्तकालय की पांडुलिपि हस्तगत हुई, जो गुजराती भाषा में थी। विक्रम-संवत् 1938 से 1967 अर्थात् ईसवी सन् 1882 से 1911 तक की अवधि में वर्धमान स्वरूपचंद शाह द्वारा लिखित यह पुस्तक मेरे लिए अत्यंत उपयोगी प्रमाणित हुई। इसके प्रणेता वर्धमान जी उस समय इडर राज्य के मामलतदार (तहसीलदार) थे।

उक्त ऐतिहासिक पांडुलिपि में इडर राज्य के विक्रम-संवत् पूर्व 185 से लेकर विक्रम-संवत् 1967 तक की सभी महत्वपूर्ण घटनाओं एवं राज्यकर्ताओं का विवरण दिया गया है। जैन देरासर (जहां तबला-मुद्रा में स्त्री वादिका का शिल्प है) के इतिहास को 'इडर गढ़ का इतिहास' पुस्तक की हस्तप्रति में प्राचीन संदर्भों के साथ दिया गया है। इसी की सहायता से मुझे ऐसी अन्य हस्तप्रतियों की जानकारी भी मिली, जिनमें विषय से संबंद्ध कुछ-न-कुछ सामग्री उपलब्ध थी।

'इडर गढ़ का इतिहास' के अध्ययन से ज्ञात होता है कि देरासर बाईस सौ साल से भी ज्यादा पुराना है। उसके पृष्ठ 2 पर लिखा है कि 'विक्रम संवत् पूर्व 185 में सामप्रति राजा ने गढ़ पर स्थित देरासर में पुनः शान्तिनाथ भगवान् को स्थापित किया' (ऐसा ही विवरण बम्बई से प्रकाशित वार्षिक पत्रिका 'श्री जैन श्वेताम्बर होरोल्ड' के ई. सन् 1915 के अंक में भी पृष्ठ 335 व 336 पर दिया गया है) इससे पता चलता है कि जब राजा सामप्रति ने देरासर में मूर्ति-प्रतिष्ठा की, तब देरासर था। ये राजा सामप्रति सम्राट अशोक के पश्चाद्वर्ती राजा कृणाल के पुत्र तथा जैन-धर्मावलम्बी थे। इन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि अपने राज्य के हरेक कसबे में कम-से-कम एक जैन-मंदिर अवश्य स्थापित करेंगे।

उक्त हस्त-प्रति में आगे लिखा है कि विक्रम संवत् 1200 से 1230 अर्थात् ई. सन् 1144 से 1174 के मध्य सोलंकी वंश के चौलुक्य नरेश कुमारपाल राजा ने इडर गढ़ के श्वेताम्बर देरासर का जीर्णोद्धार कर वहां आदीश्वर भगवान् की स्थापना की। कुमारपाल राजा गुजरात के सोलंकी वंश के महान् जैन-धर्मी राजा हुए हैं। वे सिद्धराज जयसिंह के उत्तराधिकारी थे। कुमारपाल राजा का जन्म वि. सं. 1149 (ई. सन् 1093) में, मृत्य वि.सं. 1230 (ई. सन् 1174) में तथा राज्याभिषेक ई. सन् 1143 में हुआ। कुमारपाल राजा ने भारत में अनेक जैन देरासर और दुर्गा-शिव-कालिका-मंदिरों का निर्माण तथा पुराने मंदिरों का जीर्णोद्धार किया। इसका उल्लेख 'कुमारपाल-चरित्र-संग्रह' के पृष्ठ 18 पर है। ई. सन् 1833 में बम्बई से प्रकाशित 'गुजरात के ऐतिहासिक लेख' (भाग-1) में तथा 'भारत-दर्शन' (भाग-2) के पृष्ठ 11 पर भी कुमारपाल राजा के संदर्भ में चर्चा की गई है।

तबला-वादिका के शिल्प वाला देरासर भी कुमारपाल राजा ने ही बनवाया था, ऐसा उल्लेख उन्हीं के समय में हुए 'अंतरगछीय' श्री जिनपतिसुरी जी महाराज (वि.सं. 1210-1277 ई. 1154-1221) द्वारा रचित 'तीर्थमाला' की पांडुलिपि में इस प्रकार मिलता है -'ईडरगिरौनिविष्ठं चौलुक्याधिपकरितं जिनं प्रथमम्' अर्थात् इडर गिरि पर चौलुक्य-नरेश पाल राजा ने (अपने बनवाए हुए) देरासर में प्रथम जिनेश्वर को स्थापित किया।

जिनपतिसुरी जी द्वारा लिखित हस्तप्रति का उल्लेख 'जैन तीर्थ सर्वसंग्रह' (भाग-1) के पृष्ठ 84-85

Scanned with OKEN Scanner

पर है। इस पुस्तक में भारत के तमाम श्वेताम्बर देरासरों का इतिहास और महत्वपूर्ण घटनाएं प्राचीन जैन साहित्य एवं पांडुलिपियों के आधार पर दी गई है। क्योंकि प्राचीन हस्त-प्रतियां (पांडुलिपियां) आज जीर्ण-शीर्ण स्थिति में है और समय के साथ उनके नष्ट हो जाने का खतरा लगातार बना हुआ है, अतः उनमें दी हुई महत्वपूर्ण जानकारी सभ्य समाज के सामने आए इस उद्देश्य से जैन संस्थाओं द्वारा पुस्तक रूप में उनका प्रकाशन किया जा रहा है।

'जैन तीर्थ सर्वसंग्रह' में आगे दिया है - 'इडर गढ़ के श्वेताम्बर देरासर की बाहरी दीवर पर जो शिल्प बनाया गया है वह प्राचीन परंपरा की धरोहर है और वहां प्रतिमा के रूप में प्राणियों, देवी-देवताओं को बनाया गया है, वह प्राचीन है।'

देरासर के शिल्प-स्थापत्य का पत्थर एक हजार साल से भी ज्यादा पुराना है और शिल्प की शैली दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दियों की शिल्प स्थापत्य शैली से मिलती है-ऐसा उत्तर गुजरात के साबरकांठा जनपद के पुराण-वास्तुविद् प्रो. डॉ. विनोदकुमार पुरानी से विषयवस्तु की चर्चा समय ज्ञात हुआ।

देरासर के प्रवेश-द्वार की दाईं ओर बाहरी दीवार के उपर प्रथम चार छोटे शिखर, फिर तीन छोटे शिखर, उसके पश्चात् एक बड़ा शिखर और उसके बाद आने वाले छोटे शिखर के नीचे तबला-वादन मुद्रा में स्त्री वादिका का शिल्प हैं इस मूर्ति में स्पष्ट रूप से आज जैसा ही तबला वाद्य दृष्टिगोचर होता है और वादिका के हाथों की रखावट, उंगलियों की मुद्रा व वादन शैली निःसंदेह आज के जैसी ही है। तबला-वादिका तबला-जोड़ी को कमर में बांधे हुए हैं।

अब मैं इडर शहर का वर्णन करते हुए निष्कर्ष पर पहुंचना चाहता हूं कि आज से एक हजार साल पहले भारतवर्ष में आज के जैसा ही तबला वाद्य और वादन-शैली थी।

गुजरात के अहमदाबाद शहर से करीब 112 किमी की दूरी पर इडर शहर और इडर शहर के बस-स्टैंड से दो किमी की दूरी पर इडरगढ़ स्थित है। इडरगढ़ की 150 सीढ़ियां चढ़ने पर गढ़ का किला अपने भव्य इतिहास को समेटे हुए जीर्ण अवस्था में विद्यमान है। किले से निकलने के बाद रास्ते की बाईं ओर जैन दिगम्बर मंदिर स्थित है और उसके बाद 'जैन श्वेताम्बर श्री शान्तिनाथ भगवान का देरासर' दृश्यमान होता है। उसी देरासर की बाहरी दीवार पर तबला-वादिका का शिल्प है। पूरे देरासर की बाहरी दीवार पर तबला-वादिका का शिल्प केवल एक ही है, जबकि अन्य शिल्पों की पुनरावृति हुई है। देरासर की बाहरी दीवार पर चूना लगाया गया है, जिससे मूर्तियों को काफी नुकसान पहुंचा है।

अब मैं उपर्युक्त शोध-प्रमाणों के आधार पर तर्कसंगत रूप में यह कहना चाहता हूं कि तबला वाद्य की उत्पति अमीर खुसरो के द्वारा अथवा पखावज को काटकर नहीं हुई है, बल्कि यह भारत का ही एक उन्नत अवनद्ध वाद्य है, पूर्व में तबले की उत्पति को लेकर अनेक शोध हुए हैं, जिनकी विस्तृत जानकारी मेरे पास है। फिर भी यह भ्रमपूर्ण मत आज भी प्रबल रूप से विद्यमान है कि तबले के आविष्कारक अमीर खुसरो हैं। जबकि खुसरो के जन्म से 300 वर्ष पहले भी भारतवर्ष में तबला वाद्य का अस्तित्व था।

हजहत अमीर खुसरो का जन्म ई. सन् 1253 में और निधन ई. सन् 1325 में हुआ। तबला वाद्य का शिल्प जहां पर है, वह 'देरासर' कुमार पाल राजा ने ई. सन् 1144 से 1174 के मध्य बनाया। खुसरो के जन्म का वर्ष और देरासर को बनाने की अवधि का गणितिक पृथक्करण करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि खुसरो के जन्मे से 90 या 100 साल पहले देरासर बन चुका था। हजरत अमीर खुसरो का जन्म आज (ई. सन् 1253 से 2010) से 757 वर्ष पहले हुआ था। और देरासर को आज से 836 साल पहले बनाया गया है। इससे ज्ञान होता है कि कम से कम आज से 836 साल पहले तबला वाद्य के शिल्प को बनाया गया है। उस समय संगीत जगत में तबला वाद्य का पर्याप्त प्रचार-प्रसार रहा होगा, तभी तो मूर्तिकार ने यह शिल्प बनाया। अतः यह संभावना प्रबलता से व्यक्त की जा सकती है कि देरासर के निर्माण से 200-300 साल पहले से ही भारतवर्ष में तबले का प्रचार-प्रसार रहा होगा।

आज से एक हजार साल पहले तबले की वादन-शैली कैसी रही होगी, यह कहना मुश्किल है।

Scanned with OKEN Scanner

परंतु यह भी सच है कि 'संगीत-रत्नाकर' (अमरावती-संस्करण) के तीसरे खंड के पृष्ठ 394-95 पर मुख्य सोलह वर्णों का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि उन्हीं के आधार पर मुख्य चार वर्णों -'ता, दित्, धुं, ना' का प्रचार हुआ और गजानंद जी ने मृदंग पर इन्हें बजाने की पद्धतियों को 'पार्श्वपाणि', 'अर्धपाणि', 'दंडपाणि' और 'कर्तरी' नाम दिया। इन्हीं चार वर्णों के संयोग-वियोग से मृदंग-वादन हेतु अन्य बोलों का निर्माण हुआ है। अतः कहा जा सकता है कि इन्हीं बोलों का प्रयोग उस समय तबला-वादन में भी होता होगा। यह एक विचारणीय विषय है। लेकिन मूर्ति में तो स्पष्टतः आज के जैसी ही हाथों की स्थिति एवं बंद बाज की वादन-शैली दृष्टिगोचर होती है।

उपर्युक्त सभी तथ्यों पर भली-भांति विचार करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतवर्ष में आज से एक हजार साल पहले भी तबला वाद्य पूर्ण विकसित अवस्था में मौजूद था। यहां मै यह भी कहना चाहता हूं कि तबला वाद्य के जन्मदाता 'स्वाति मुनि' हैं, जिन्होंने भगवान विश्वकर्मा की सहायता से 'त्रिपुष्कर' या 'त्रिपुष्क' वाद्य का निर्माण किया था। यह वाद्य तीन भागों में बंटा हुआ था। गोद में रखकर बजाए जाने वाले भाग को 'आंकिक' कहते थे, जो अंदर से खोखला होता था, जैसे आज की पखावज। दूसरा भाग 'उर्ध्वक' और तीसरा भाग 'आलिंग्य' कहलाता था, जिसे पृथ्वी पर रखा जाता था (यह नीचे से बंद व बीच में खोखला होता था और इसके मुख आकाश की ओर रहता था।) दोनों को जोड़ी में बजाया जाता था। दोनों ही आकार में बड़े और उंचे होते थे। कालान्तर में त्रिपुष्क वाद्य में से 'आंकिक' भाग निकल गया और सिर्फ 'उर्ध्वक' एवं 'आलिंग्य' भाग रह गए। इस जोड़ी-वाद्य को हम छठी शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक के शिल्प-स्थापत्य में देख सकते हैं। जैसे-जैसे समय बीतता गया, 'उर्ध्वक' व 'आलिंग्य' में भी परिवर्तन आता गया और धीरे-धीरे उन्होंने आज के तबले के दाएं-बाएं के जैसा स्वरूप धारण कर लिया, किन्तु उनके आकार व उंचाई में कोई अंतर नहीं आया।

एक अत्यंत महत्वपूर्ण बात का यहां उल्लेख करना चाहता हूं कि 'नाट्यशास्त्र' के 34वें अध्याय में श्लोक सं. 125 से 130 तक मुख-लेपन की बात 'उर्ध्वक' और 'आलिंग्य' के बारे में कही गई है 'द्विलेपं नम। वामोर्ध्वकप्रलेपात्'। वहां कहा गया है कि उर्ध्वक और आलिंग्य में ही मुख-लेपन होता है। यानी आज जो स्थायी रूप में स्याही लगाई जाती है, वह उस समय मुख-लेपन के लिए नदी किनारे की स्वच्छ मिट्टी का प्रयोग होता था।

भरत मुनि के समय में उर्ध्वक और आलिंग्य जैसा कोई दूसरा उन्नत अवनद्ध वाद्य न था। इस जोड़ी-वाद्य को स्वर में मिलाया जाता था और इसका अपना वादन-प्रकार भी था।

जैसे-जैसे उर्ध्वक और आलिंग्य का प्रयोग वादकों के द्वारा होता गया, वैसे-वैसे उनके स्वरूप में भी परिवर्तन आता गया, और इस प्रकार उर्ध्वक और आलिंग्य ही कालान्तर में 'तबला-जोड़ी' के रूप में विकसित हुए। भले ही 'तबला' नाम फारसी-संस्कृति से मिला हो, परंतु तबला वाद्य निःसंदेह उर्ध्वक एवं आलिंग्य का ही परिवर्तित रूप है और उसके जन्मदाता स्वाति मुनि हैं। अंत में मेरा यह भी मानना है कि तबला वाद्य की वादन शैली भी आज से 1000 साल पुरानी है। यह भी हमें प्राचीन धरोहर के तौर पर मिली है।

Scanned with OKEN Scanner

मृदंग, पखावज और मृदंगम् की उत्पत्ति एवम् विकास पर एक ऐतिहासिक दृष्टि

अशोक कुमार

भरतकृत "नाट्यशास्त्र" पाँचवी शती ई॰ पूर्व और पाँचवी ई॰ शती के बीच का ग्रन्थ है। नाट्यशास्त्र संगीत का आदि ग्रन्थ माना जाता है। इसमें भरत ने अतोद्य (वाद्य) के चार प्रकार 28वें अध्याय के पहले श्लोक में किया है।

ततं चैवावनद्धं च घनं सुषिरमेव च ।
चतुर्विधं तु पिज्ञेयमातोधं लक्षणान्वितम् ।।

वाद्य के चार प्रकार है-तत्, अवनद्ध, घन और सुषिर। मृदंग एक अवनद्ध वाद्य है। अवनद्ध वाद्यों की उत्पत्ति इतना प्राचीन है कि इसकी प्राचीनता देखते हुए ही विद्वानों द्वारा इसके जन्म के विषय में अनेक विलक्षण एवं पौराणिक गाथाऐं प्रचलित है। अतः उन प्राचीनतम ग्रन्थों के अनुसार जब महादेव जी ने त्रिपुरासुर राक्षस का संहार कर दिया तो वे प्रसन्नता से नाचने लगे। उसी नृत्य की संगति देने के लिए ब्रह्मा जी ने एक अवनद्ध वाद्य का निर्माण किया, जिसका ढाँचा मिट्टी का था, अतः उसे मृदंग कहा गया।[1]

मृदंग सिन्धु घाटी की सभ्यता और संगीत (ईसा से 5000 शती से 3000 शती) के समय से ही प्राप्त होता है। सिन्धु घाटी की सभ्यता और संगीत से प्राप्त " इन मूर्तियों में एक ऐसी मिट्टी की मूर्ति प्राप्त हुई है, जिसमें गले से लटकता हुआ ढोल जैसा वाद्य है और एक वाद्य आधुनिक मृदंग जैसा भी प्राप्त होता है।"[2] हड़प्पा से प्राप्त एक तावीज प्राप्त हुई है। दो मुद्राओं पर मृदंग जैसी वस्तुयें अंकित है।[3]

"मृदंग समान वाद्य सिन्धु घाटी की सभ्यता के काल में होने का प्रमाण हड़प्पा व मोहनजोदड़ों के उत्खनन से प्राप्त अवशेषों से मिलते है। इन नगरों से प्राप्त अवशेषों के भित्ति चित्रों पर तथा मुद्राओं पर मृदंग समान वाद्य का वादन करते हुए मानव आकृतियाँ प्राप्त हुई है। यह वाद्य गले में टाँगकर दोनों हाथों से बजाये जाते हुए बताये गये हैं। यह कहना है कि उस काल में मृदंग आदि वाद्यों का निर्माण हुआ था या नहीं यह कठिन है।"[4] गीत तथा वाद्यों के साथ उस समय ढोल, दुन्दुभि जैसे वाद्यों से संगति की जाती थी। हड़प्पा में उपलब्ध एक चित्र में एक पुरूष को व्याघ्र के समक्ष ढोल बजाते हुए अंकित किया गया है।

ईसा से लगभग 2000 से 1000 वर्ष पूर्व वेदों के चार प्रकार ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद और सामवेद में से ऋग्वेद में मृदंग, वीणा, वंशी, डमरू आदि वाद्यों का वर्णन पं॰ गोविन्द राम पखावजी ने अपनी पुस्तक " ताल पुष्पांजलि" भाग-3 के पृष्ठ संख्या-12 पर किया है। लेकिन ऋग्वेद में मृदंग शब्द का प्रयोग कहीं नहीं किया गया है। यद्यपि भगवत शरण शर्मा की पुस्तक "भारतीय संगीत के इतिहास" के पृष्ठ संख्या-30 के अनुसार वैदिक काल में "समन नामक एक मेला हुआ, करता था इसमें स्त्रियाँ विशेषकर कुमारियाँ वर की खोज में वहाँ जाती थी। मेला रात में होता था। इस उत्सव का वर्णन जर्मन विद्वान ए॰ वी॰ केणी अपनी पुस्तक 'ऋग्वेद' में पृष्ठ 19 पर किया है। उनके अनुसार "पत्नियाँ और कुमारियाँ प्रसन्नता पूर्वक वसनों से अलंकृत होकर समन की ओर चल पड़ती हैं। जब वन, प्रान्त ओर खेत हरियाली से ढक जाते है तब युवा और युवतियाँ सह नृत्य करती हुई पफैले मैदानों की ओर दौड़ पड़ते हैं। मृदंग धमक उठते हैं।[5]

व्याख्याता, संगीत विभाग, जी.डी.एम., कॉलेज, हरनौत (नालन्दा)

" मृदंग का सर्वप्रथम उल्लेख प्राचीन आणव व कालक "गुहा सूत्र" में ईसा पूर्व 800 वर्ष के लगभग पुराण काल में प्राप्त होता है।[6]

बौद्ध काल (ई॰ पूर्व 550 वर्ष) में मृदंगादि वाद्यों का प्रचार था तथा बाद में रामायण-महाभारत काल में भी मृदंगादि वाद्यों का उल्लेख प्राप्त होता है। "मृदंग एवं पणव भी उस समय मृतिका निर्मित होते थे एवं काल का विशेष महत्व संगीत में था। बौद्धकालीन साहित्य "वैपुल्य सूत्र में विभिन्न लय वाद्यों का उल्लेख है" इसी में उल्लिखित है कि गौतम बुद्ध जब राजकुमार थे तब राजा शुद्धोधन ने उनके मनोरंजन हेतु सहस्त्रों वाद्य यन्त्रों का समावेश किया था जिसमें एक हजार छोटे-छोटे मृदंग थे। साथ ही एक हजार करताल एवं अन्य सहस्त्रों वाद्य थे। जिनका दिन-रात विविध वृन्दवादनों एवं गायन संगीत हेतु प्रयोग होता था, हस्त संचालन द्वारा यह संगीत नियंत्रित किया जाता था"[7]

रामायण काल (ईसा पूर्व 500-200 वर्ष) बाल्मिकी रामायण के सुन्दर काण्ड सर्ग-।। के छठें श्लोक में मृदंग, मुरज तथा चेलिका इन तीन अवनद्ध वाद्यों का एक साथ उल्लेख किया गया है। मृदंग का रामायण में कई बार उल्लेख हुआ है। मृदंग का प्रयोग ताल वाद्यों में अधिक प्रमाण में होता था।[8]

महाभारत काल में भी मृदंग का प्रयोग संगीत में संगति के लिए किया जाने का वर्णन मिलता है। इसके बाद आगे के कालों में 13वीं शताब्दी तक मृदंग का ही संगीत में संगति के लिए उपयोग होता रहा है। शारंगदेव कृत तेरहवी शदी का ग्रंथ "संगीत-रत्नाकर" में भी मृदंग का वर्णन मिलता है। "संगीत रत्नाकर" में पंडित शारंग देव ने मुरज तथा मर्दल को मृदंग का ही पर्याय बताते हुए कहा है कि निगदन्ति मृदंग तं मर्दलं मुरजं तथा। प्रोक्तं मृदंगशब्देन मुनिना पुस्करत्रयम्।। (श्लोक सं॰-1027) (संगीत रत्नाकर के वाद्याध्याय में)

प्राचीन एवं मध्यकालीन संगीत (1200 ई॰ से-1800 ई॰) का प्रमुख ताल वाद्य मृदंग ही था। किन्तु मृदंग के स्थान पर पखावज शब्द का प्रयोग मध्ययुग में प्रारंभ हुआ जो मुगल काल (1526 ई॰ से 1701ई॰) के बाद देखने को मिलता है। पखावज भरतकालीन मृदंग का परिष्कृत रूप है। भाषा की दृष्टि से मृदंग शास्त्रीय शब्द है और पखावज लोक व्यवहार का प्रयुक्त रूप। सूरदास (1556 ई॰-1605 ई॰) अकबर के काल के कवि थे उन्होंने मृदंग और पखावज दोनों शब्दों का प्रयोग किया है।[9]

1. ताल मृदंग, उपंग, चंग, वीणा, डफ बाजे तथा
2. बाजत ताल पखावज आवज ढोलक वीणा झाल

अकबर युगीन कालीन कलाकारों तथा वाद्यों का वर्णन करते हुए आचार्य वृहस्पति ने भी पखावज का उल्लेख "संगीत चिन्तामणि" में किया है।[10]

मध्यकालीन शास्त्रकार पंडित अहोवल (ई॰ 1650) ने "संगीत परिजात" में मर्दल को ही मृदंग कहा है, जिसका वर्णन पखावज से मिलता है। अतः मृदंग, पखावज और मृदंगम् (दक्षिण भारत का अवनद्ध वाद्य) का भरतमूनि के मृदंग तथा शारंगदेव के मर्दल और अकबर युगीन वाद्य पखावज के साथ परंपरागत सम्बन्ध है। मृदंगम् दक्षिण भारत का वाद्य भरतकालीन मृदंग का सच्चा स्वरूप है। मृदंगम् मृदंग क अपेक्षा मुलायम तथा मृदु है। आधुनिक युग में पूरे उत्तर भारत में ध्रुपद-धमार गायकी के साथ मृदंग अथवा पखावज से संगति की जा रही है और दक्षिण भारत में शास्त्रीय संगीत के साथ मृदंगम् के साथ संगति की जा रही है। अतः मृदंग और पखावज दोनों दो अलग-अलग वाद्य नहीं है बल्कि अलग-अलग कालों में इनको अलग-अलग नामों से सम्बोधित किया गया है। प्राचीन काल में मृदंग नाम से और मध्य काल में पखावज नाम से।

अतः मृदंग अथवा पखावज आधुनिक काल में एक ही वाद्य है।

सन्दर्भ सूची

1. पोपले कृत "म्यूजिक ऑफ इण्डिया"
2. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन म्यूजिक -स्वामी प्रज्ञानानन्द प्रथम संस्करण पृष्ठ-87
3. भारतीय संगीत एक ऐतिहासिक विश्लेषण - डॉ॰ स्वतंत्र शर्मा, पृष्ठ सं॰-10-11
4. भारतीय संगीतका इतिहास - भगवत शरण शर्मा, पृष्ठ संख्या 30-31 पर
5. ताल-वाद्य शास्त्र -डॉ॰ मनोहर भालयन्दुराव मराठे, पृष्ठ संख्या-20

Scanned with OKEN Scanner

उप-शास्त्रीय संगीत का लोकप्रिय प्रकार- ठुमरी

प्रो. शारदा चेलेंकर

"ठुमरी गायक के आत्मा की अभिव्यक्ति है और पूर्णतया श्रृंगार और भक्तिरस से परिपूर्ण है।

"A beautiful melody style of semi-classical music at once highly romantic and emotionally appealing."

"An expression of singers soul and temperament, Thumari is purely romantic or devotional.

इस प्रकार विभिन्न विद्वानों, संगीत प्रेमियों द्वारा ठुमरी की परिभाषा दी गई है। ठुमरी का अर्थ है, ठुमका अथवा ठुमकना इत्यादि परिकल्पना के अनुसार साहित्यिक गेय पदों को जिसमें श्रृंगार वात्सल्य, विरह इत्यादि रसों का सन्निवेश होता है, ठुमरी की संज्ञा दी गई है। ठुमरी गायन की उत्पत्ति का मूल स्थान जो भी रहा हो परन्तु प्राचीन सरस कवियों की भक्तिमय रचना, पदों का भावपूर्ण गायन, नर्तन, प्रदर्शन इसका मूल आधार रहा है।

प्रबन्ध के "चाँचरी" शैली से क्रमशः होली (लोक गीत) एवं ठुमरी (बृज शैली) का विकास हुआ है। नाट्यवेद के आधार पर काल क्रमानुसार प्राप्त नाट्य नृत्त, नृत्य, की आधारशिला पर समय के अनुसार परिवर्तित होती हुई अन्त में एक अत्यन्त हृदयस्पर्शी, मनमोहक, चित्ताकर्षक शैली 'ठुमरी' के रूप में आज भारतीय शास्त्रीय संगीत का अभिन्न अंग बनकर संगीत प्रेमियों के बीच एक विशिष्ट स्थान प्राप्त कर चुकी है। ग्रन्थों में यद्यपि ठुमरी को सत्रहवीं शती में गाए जाने का उल्लेख मिलता है, परन्तु ठुमरी का विकास, प्रचार और संगीत क्षेत्र में प्रतिष्ठित होने का अवसर आगे चलकर उन्नीसवीं शती में लखनऊ के नवाब के दरबार में मिला। इस गायन शैली ने नवाबों के दरबार में विशिष्ट गौरव प्राप्त किया। लखनऊ नृत्य घराने के विद्वान ठाकुर प्रसाद ने कई बंदिशों का निर्माण किया।

जहाँ इस गायन शैली ने लखनऊ के संगीत रसिक धरती पर अपना जादू बिखेरा, वहीं पूर्वी उत्तर प्रदेश विशेषतः बनारस, गया, मिर्जापुर, पटना आदि स्थानों को समेट लिया। खासकर बनारस में ये शैली इतनी अधिक प्रचलित हुई कि कालान्तर में उसे 'बनारसी ठुमरी' के नाम से जाना जाने लगा तथा पूर्वी अंग की ठुमरी का एकमात्र प्रतिनिधि माना जाता है। It was in Benaras and Gaya that the folk forms of 'Kajari' and 'Chaiti' were stylized and became a part of Thumari Gayaki.

ठुमरी मुख्य रूप से दो प्रकार की प्रचलित है :- 'पंजाब अंग की ठुमरी तथा पूरब (पूर्वी) अंग की ठुमरी (लखनऊ तथा बनारस की ठुमरी)

ठुमरी पुनः दो प्रकार की प्रचलित है :- (1) बोल बांट की ठुमरी अथवा बंदिश की ठुमरी, (2) बोल बनाव की ठुमरी।

बोल बाँट की ठुमरी गति प्रधान है। गत तथा नृत्य के अधिक निकट है। इनमें लय का काम होता है। बोल बनाव की ठुमरी भाव प्रधान है। इसमें मध्य लय के अतिरिक्त विलम्बित लय में गायन का प्रचार है। स्वर सन्निवेश द्वारा बोलों को सजा कर भावों की अभिव्यक्ति, गम्भीरता, चैनदारी, स्वरों पर ठहराव, मनमोहक उपज इत्यादि पूर्वी अंग की ठुमरी

अध्यक्ष गायन विभाग, संगीत एवं मंचकला विभाग, बी.एच.यू. वाराणसी

Scanned with OKEN Scanner

की विशेषताएँ हैं। ठुमरी में शब्द और स्वर दोनों को साथ लेकर जाना है। दोनों का महत्त्व समझकर पूरी सामर्थ्य के साथ भावदर्शन कराने का कौशल्य इस उपशास्त्रीय संगीत को गाने वाले में अपेक्षित है।

ठुमरी के प्रसिद्ध गायकों में श्री जगदीप मिश्र जी, उस्ताद मौजूद्दीन खाँ, सिद्देश्वरी देवी, रसूलन बाई, गनपत राव जी, बेगम अख्तर, उस्ताद अब्दुल करीम खाँ इत्यादि हैं।

वर्तमान शताब्दी में इस अस्त-व्यस्त जीवन क्रम के बीच अपनी कलात्मकता व स्वाभविक माधुर्य के कारण ठुमरी ने भारतीय जनमानस को अत्यधिक प्रभावित किया है। निःसंदेह कहा जा सकता है कि वर्तमान भारतीय संगीत की लोकप्रिय गीत विधाओं में ठुमरी का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है। आज वर्तमान में केवल ठुमरी गायन की भी महफिलें रसिकों से मान्यता प्राप्त कर रही हैं।

Scanned with OKEN Scanner

भारतीय चलचित्र में पार्श्व संगीत (एक अवलोकन)

-डॉ. शिल्पी नाहर

फिल्म संगीत से अभिप्राय पार्श्व संगीत से ही है, जो मूक आकृतियों की ध्वनि का काम करता है। पार्श्व संगीत वह संवेदनशील धुन होती है जो मूक एवं अमूर्त चीजों को भी सवाक् बना कर उनकी अभिव्यक्तियों को स्पष्ट करती है। पार्श्व संगीत चलचित्र के किसी भी दृश्य को और अधिक प्रभावशाली बना देता है जिस कारण मूक दृश्य बोलने लगते है। भारतीय चलचित्रों का संगीत एक ओर जहाँ मेलॉडी रिद्म, और बोलो से युक्त होकर गीतों का रूप लेता है वहीं दूसरी ओर प्रभावशाली पार्श्व संगीत का भी कार्य करता है। इस कारण फिल्मों के संगीत को हम दो भागों में बाँट सकते हैं। एक गीत युक्त संगीत और दूसरा पार्श्व संगीत। जब गीत या कविता इत्यादि को सुन्दर धुनों में पिरोया जाता है तो वह संगीत 'गीत संगीत' कहलाता है। वही दूसरी ओर जब पूरे चलचित्र में कहानी की जरूरत के अनुसार, परिस्थिति एवं भाव के अनुरूप जो संगीत होता है वह पार्श्व संगीत कहलाता है। कभी कभी फिल्मों में जो बात संवादों से व्यक्त नही की जा सकती है वह छोटी सी स्वरलहरी द्वारा पार्श्व संगीत के माध्यम से व्यक्त कर दी जाती है।

फिल्मों में पार्श्व संगीत अभिनय और दृश्य को प्रभावशाली बनाने में एक बड़ा योगदान देता है। अतः यह फिल्म का अभिन्न एवं आवश्यक अंग होता है। पार्श्व संगीत की सशक्त भूमिका का एहसास दर्शकों और श्रोताओं को बहुत नही हो पाता परन्तु उसका प्रभाव अव्यक्त रूप से उनकी चेतना को स्पर्श करता है। पार्श्व संगीत या नेपथ्य संगीत अंग्रेजी में बैकग्राउण्ड म्युज़िक (Back ground Music) कहलाता हैं। इसके अन्तर्गत फिल्म के विभिन्न दृश्यों में विशेष प्रभाव उत्पन्न करने वाली प्रत्येक ध्वनि आ जाती है जैसे पक्षियों की चहचहाहट, बादलों की गर्जना, लहरों की ध्वनि आदि प्राकृतिक ध्वनियों के अतिरिक्त स्कूल का घंटा, बरतनों की खट-पट, कार के ब्रेक इत्यादि सभी प्रकार की ध्वनियों द्वारा चलचित्र के दृश्यों के प्रभावोत्पादन के लिए दिया गया संगीत पार्श्व संगीत के ही अंग हैं। संगीतकार फिल्मों के दृश्यों के प्रकृति के अनकूल संगीत का चयन करता है। जैसे संवेदनशील प्रसंगों के लिए जहाँ कोमल भाव प्रधान एवं धीमी गति का संगीत होता है वहीं दूसरी ओर संघर्षपूर्ण प्रसंगों के लिए उत्तेजक एवं द्रुत लय प्रधान संगीत होता है। इसे और प्रभावशाली बनाने में वाद्यों के चयन में विशेष ध्यान दिया जाता है जैसे करूण रस के प्रसंगों में सारंगी, सितार रोमानी क्षणों में गिटार, भक्ति भावना के लिए बाँसुरी, प्राकृतिक सौन्दर्य में सन्तूर व जलतरंग वाद्यों के स्वरों का उपयोग किया जाता है जो अपना एक विशेष प्रभाव छोड़ते है। इसके अतिरिक्त फिल्मों के प्रारंभ में ही नामावली के साथ चलने वाले अर्थात् टाइटिल म्यूजिक का भी प्रभावशाली होना आवश्यक होता है ताकि दर्शकों की रूचि एवं उत्साह जागृत हो।

प्रायः फिल्म के पूरी होने के पश्चात, पार्श्व संगीत तैयार करने के लिए संगीत निर्देशक पूरी फिल्म को पर्दे पर देखते है और चिंतन करता है कि किस दृश्य में किस तरह के संगीत की आवश्यकता है और फिर पार्श्व संगीत का निर्माण फिर रिकार्डिंग कराते है। थियेटर में उन दृश्यों को दिखाकर उनको

असिस्टेंट प्रोफेसर, संगीत विभाग, बनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान

Scanned with OKEN Scanner

लम्बाई और उतार-चढ़ाव के अनुसार वाद्यकारों को आवश्यक निर्देश देता है। आजकल एक ऐसा इलेक्ट्रॉनिक वाद्ययंत्र उपलब्ध है जिसमें लगभग सभी वाद्यो की ध्वनियाँ निकलती है। पार्श्व संगीत के रिकार्डिंग के लिए भी पहले पार्श्व संगीतज्ञों को बुलाना पड़ता था। परन्तु आजकल कुछ संगीत निर्देशक स्वयं ही पार्श्व संगीत तैयार करते है। जबकि कुछ निर्माता और फिल्म संपादक विभिन्न प्रकार के प्री-रिकार्डेड अंशों को प्रयोग अपनी फिल्मों में करते है। आजकल बड़े बजट की फिल्मों के निर्माता निर्देशक अपनी फिल्मों के लिए मौलिक पार्श्व संगीत तैयार करवाते है। वहीं कम बजट के फिल्मों में किसी पुरानी फिल्मों का संगीत या विदेशी फिल्मों के संगीत का ट्रैक भी उपयोग में ले लिया जाता है जिन्हे यथोचित दृश्यों के साथ तालमेल करके फिल्मों के लिए खरीद लिया जाता है। सभी कार्य पूरे होने के बाद एडिटिंग तथा मिक्सिंग (मिश्रण) की प्रक्रिया द्वारा चलचित्रों के दृश्य और श्रव्य दृश्यों को मिलाकर एक सूत्र में पिरोया जाता है अर्थात् संवाद, गीत पार्श्व संगीत ध्वनि के अलग अलग प्रभावों वाले समस्त साउण्ड ट्रैकों को मिलाकर एक ही पाजिटिव या मूल फिल्म ट्रैक पर उतारा जाता है जो फाइनल प्रिंट (मूल प्रति) कहलाती है। अतः फिल्मों में उपयुक्त एवं प्रभावशाली संगीत देने के लिए एक संगीत निर्देशक के अंदर पटकथा, संवाद तथा पात्रों के मनोभावों को गहराई से समझने की दक्षता तथा संगीत का उपयुक्त स्थान पर सफल प्रयोग करने हेतु विशेष कल्पनाशीलता आदि गुणों का होना अति आवश्यक होता है।

फिल्मों में परिस्थिति के आधार पर पार्श्व संगीत मुख्यतः निम्नलिखित प्रकार के होते हैं।

1. हेवी म्यूजिक - नाटकीय दृश्यों के लिए
2. लाईट म्यूजिक - कोमल भावनाओं एवं प्रेम पूर्ण दृश्यों के लिए
3. कामेडी म्यूजिक - हास्य दृश्यों के लिए
4. ट्रैजडी म्यूजिक - करूण दृश्यों के लिए
5. चेंज म्यूज़िक - गति वर्धक दृश्यों के लिए
6. टाइटिल म्यूजिक - मूल चलचित्र के प्रारंभ होने से पूर्व का संगीत

भारतीय चलचित्र में पार्श्व संगीत की शुरूआत को लेकर अलग-अलग मत है। सिने पत्रकार रजत राय के अनुसार फिल्मों में पार्श्व संगीत 1934 में बनी चंडीदास (बांग्ला) से शुरू हुआ जबकि पत्रकार फिरोज रगूंनवाला के अनुसार 1933 में बनी 'पूरन भगत' में रायचन्द्र बोराल ने पहली बार आर्केस्ट्रा दिया था। संवादों के साथ-साथ पार्श्व संगीत का प्रयोग 1934 में बनी फिल्म अमृत मंथन से शुरू हुआ जिसके निर्देशक वी. शांताराम (प्रभात फिल्मस्) तथा संगीतकार के. भोंसले थे।

भारतीय फिल्मों में रिकार्डिंग का दौर 1901 से शुरू हुआ। सबसे पहली रिकार्डिंग 5 नवम्वर 1902 को हुई जिसमें कलकता की मशहूर नर्तकी गौहरजान की आवाज को रिकार्ड किया गया। साथ ही इसमें हारमोनियम, सारंगी और तबला तीन वाद्यों का भी प्रयोग किया गया। बाद में रिकार्डिंग का काम कलकत्ता के स्थान पर बम्बई में होने लगा। सन् 1935 में पार्श्व गायन का दौर शुरू होने के कारण रिकार्डिंग और चलचित्रीकरण दोनों ही एक दूसरे के पूरक हो गये और फिल्मों को सफल बनाने में संगीत ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

रिकार्डिंग की मशीनों और उत्पादन शैली के विकास के फलस्वरूप ऐसे रिकार्ड बनने लगे जिनमें आवाज पहले से अधिक साफ होने लगी। इसके अतिरिक्त अब वृन्द वादकों के बीच कई माइक्रोफोन के उपयोग होने के कारण यह सुविधा हुई कि इच्छानुसार वाद्यों की आवाज को कम या अधिक कर लिया जाता था। सन् 1945 के बाद ग्रामोफोन कंपनी द्वारा बनाए गए रिकार्ड में साजों और कलाकारों की आवाज को अलग अलग पहचान मिली।

बीसवीं शताब्दी में भारतीय चलचित्र के क्षेत्र में भी क्रान्तिकारी प्रगति हुई। मूक फिल्मों की अपेक्षा सवाक् फिल्मों ने भी विकास में अपना पूरा योगदान दिया। सवाक् फिल्मों में संगीत के प्रयोग का जादुई असर हुआ। पार्श्व गायन के कारण ऐसे कलाकारों को विशेष नाम और उन्नति मिली जो अभिनय कला के साथ गायन कला में भी निपुण थे। और इस कला को और भी उत्कृष्ट बनाने में बाधवृन्द का भी पूरा सहयोग रहा।

Scanned with OKEN Scanner

इस प्रकार हम देखते है कि मेलाडी, हारमनी रिद्म आदि के नये प्रयोग इतनी तेजी से हुये कि सन् 1940 के बाद भारतीय फिल्म जगत का कायाकल्प ही हो गया। स्वतंत्रता के समय के आस पास तक चलचित्र के हर क्षेत्र एवं सभी दिशाओं में इतनी क्रान्तिकारी प्रगति हुई जो आज के फिल्म जगत के विकास की नींव साबित हुई। इसी नींव पर आज का आधुनिक फिल्म जगत विद्यमान है और वह निरन्तर प्रगति एवं विकास की ओर उन्मुख होता हुआ प्रतिदिन नई ऊँचाई की ओर बढ़ रहा है।

सन्दर्भ सूची

1. गुलजार : ए सांग ट्रेवेल्स, लिरिक्स 1903-1960 एनालिसिक ऑफ द मिडियम पृ. 279
2. ओंकार नाथ माहेश्वरी : हिन्दी चित्रपट का गीति साहित्य : विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा-1978
3. बच्चन श्रीवास्तव : भारतीय फिल्मों की कहानी
4. हरमिंदर सिंह हमराज : हिन्दी फिल्म गीतकोश खण्ड 1, 2 : सुमेर सिंह सचदेव, कानपुर 1988
5. महेंद्र मित्तल : भारतीय चलचित्र

Scanned with OKEN Scanner

संगीत में सारंगी वाद्य की उपयोगिता

निहारिका

संगीत एक उच्च कोटि की कला है जो, हमें ईश्वरीय देन के रूप में प्राप्त हुई है। ऋषियों ने इस कला के माध्यम से नाद-ब्रह्म को प्राप्त किया है। उन्होंने इसे भगवान की प्राप्ति का सरलतम उपाय माना है। नाद के दो रूपों-अनाहत तथा आहत से संगीत की उत्पत्ति होती है। अनाहत नाद का श्रवण केवल ऋषि-मुनि ही कर सकते हैं, जो स्वयं में एक साधना है। नाद के दूसरे प्रकार आहत नाद से लौकिक संगीत की प्राप्ति होती है। विद्वानों द्वारा संगीत की परिभाषा में, गायन, वादन तथा नृत्य का सम्मिश्रण माना गया है। ये तीनों एक दूसरे के पूरक माने जाते हैं।

गायन को इन तीनों में विशिष्ट स्थान प्राप्त है। मानव जीवन के हर एक पहलू में गायन किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है। संगीत को अभिव्यक्ति का माध्यम माना गया है और संगीतज्ञ अपनी अभिव्यक्ति गायन एवं वादन के माध्यम से करते हैं। संगीत का आनंद और सौन्दर्य गायन-वादन के पारस्परिकता में निहित रहता है। डॉ॰ प्रेमलता शर्मा के अनुसार-कभी गीत वाद्य को प्रभावित करता है, कभी वाद्य गीत को प्रभावित करता है। वादक गायक से सदैव प्रेरणा लेता है परन्तु कभी-कभी वादक से गायक प्रभावित हो जाता है। गायन एवं वादन का तात्विक अन्तः संबंध है, जिससे वह एक दूसरे के अति निकट आ जाते हैं। दोनों में श्रुति, स्वर, ग्राम, मूर्च्छना, अलंकार आलाप, तान, लय, आदि तत्व समान हैं। अपनी सामान्य स्थिति में दोनों स्वतंत्र हैं किन्तु विकास की स्थिति में इनके परस्पर प्रभाव बढ़ जाते हैं।

गायन के साथ-साथ जब वादन किया जाता है तो यह संगत कहलाता है। गायन के संगत में प्रयोग के किए जाने वाले तत् वाद्यों में सारंगी का अपना एक विशिष्ट स्थान रहा है। प्राचीन काल से ही संगतवाद्य के रूप में तानपुरा एवं सारंगी का प्रयोग होता रहा है। इसी कारण गायक विशेष श्रुति युक्त स्वरों का राग गायन में प्रयोग करते थे।

गायन की संगति के लिए यह साज़ सबसे अधिक उपयोगी माना गया है। इसका विशेष प्रचार ख्याल तथा ठुमरी गायन के साथ हुआ है। कुछ विचारकों की सम्मति में पं॰ शारंगदेव के द्वारा आविष्कृत शारंग देवी वीण ने ही आगे चलकर सारंगी का रूप ले लिया। जबकि, अन्य विद्वानों के मत में 'श्रृंगी' ऋषि को इस वाद्य का आविष्कारक माना गया है। ई॰ 16 में लिखी गई ' संगीतनारायण' ग्रन्थ में इस वाद्य का विवरण दिया गया है। यह वाद्य साल या पनस जैसी ठोस लकड़ी से बनाया जाता है। यद्यपि, देखने में यह मोटा, चौड़ा, भारी और बदसूरत सा है तथापि इसकी आवाज मधुर और मानव कण्ठ से मिलती जुलती है।

सुशील कुमार चौबे के अनुसार-गले की सच्ची नकल यदि कोई साज करता है, तो उसका नाम है-सांरगी। इसे सौरंगी भी कहा जाता है। गले के लिए इससे स्वाभाविक और सच्चा कोई भी और साज़ नहीं है।

लोकसंगीत और शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में सारंगी बहुत प्रचलित तंतु वाद्य है। गायकी और नृत्य की संगति तथा स्वतंत्र वादन के लिए भी यह प्रसिद्ध है। देश, काल और परिस्थिति के अनुसार

शोधछात्रा, स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल॰ ना॰ मि॰ वि॰, दरभंगा

Scanned with OKEN Scanner

इस वाद्य के स्वरूप, आकार, वादन शैली तथा उपयोगिता में परिवर्तन होता रहा है। आधुनिक युग में यह अपने पूर्ण स्वरूप में, संपूर्ण तंत्री वाद्यों में सबसे कठिन किन्तु मानवकंठ की अंतिम सीमा तक समान रूप से संगति करने में सबसे अधिक सक्षम एवं प्रमुख सहयोगी वाद्य के रूप में निर्विवाद रूप से विद्यमान है।

भिन्न-भिन्न घरानों के पुरोधा ने भी अपनी गायन से पहले सारंगी की विधिवत् शिक्षा प्राप्त की तब उन्होंने गायन की ओर रूख किया। जैसे-किराना घराना के अब्दुल करीम खां, इन्दौर घराना के उस्ताद अमीर खां इत्यादि। माना जाता है कि, उन घरानों में सारंगी पहले बजी और गाना बाद में गाया गया। जिससे इनकी गायकी को भी बहुत लाभ पहुंचा और वह सुर की तरफ अधिक झुक गई। जब भी कोई सारंगी वादक के घरानों का कलाकार किसी और साज़ का शौक करता है, तो उसे वह बहुत ही अच्छा बजाता है। इसी तरह जब वह गाने की तरफ जाता है, तो उसमें भी वह बहुत ही कुशलता दिखलाता है। यह एक मानी हुई तथा जांची हुई बात हैं।

सारंगी की शिक्षा और अभ्यास का अपना एक अलग तरीका है। किन्तु, सारंगी नवाजों को संगत उन गायकों की करनी पड़ती है, जो अपनी शिक्षा गृहीत गायकी का वर्षों अभ्यास करके मंच-प्रदर्शन करने आते हैं। इस प्रदर्शन में राग, ताल, बन्दिश, लय आदि सब कुछ गायक की इच्छा पर निर्भर करता है, जिसकी संगत तत्काल संगतकार को करनी पड़ती है। जो कि, अति कठिन कार्य है। दिल्ली घराने के उस्ताद चांद खां का कथन है कि- गाने वाले से सारंगी वादकों में कला की दृष्टि से दुगुनी जानकारी होती है। गायक जिस अंग को वर्षों परिश्रम करके तैयार करता है, उसे ज्यों का त्यों नापतौल कर एक सारंगी वादक अपनी सारंगी पर रख देता है। कई बार इन्हीं संगतकारों को सम्मेलनों में एक के बाद दूसरे घराने के गायकों की संगत करनी पड़ती है। एक घराने की गायकी तथा प्रत्येक गायकों का व्यक्तित्व अलग-अलग होता है। किन्तु, सुयोग्य संगतकार एक के बाद दूसरे गायक की संगत उसकी गायकी के अनुरूप कर लेता है। संगतकार का व्यक्तित्व जल की भांति होता है, जिसे जिस पात्र में रख दिया जाए, वह उसी का रूप धारण कर लेता है।

आधुनिक युग के संगीत के उत्थान और उद्धार में जब संगीत में ऐसी जागृति हो रही है और जब गायन और वादन की भिन्न-भिन्न शैलियों को उचित प्रोत्साहन देकर हम उनको सुरक्षित रखने का प्रयास कर रहे हैं तो यह भी आवश्यक है कि हम सारंगी के भिन्न-भिन्न शैलियों को भी सुरक्षित रखें। सारंगी ही एक ऐसी साज़ है जो प्राचीन गायन परम्परा और आधुनिक गायन परम्परा के बीच में एक सम्बन्ध जोड़ सकती हैं। प्रतिभाशाली, अनुभवी सारंगिए अभी भी पुराने गवैयों की याद दिलवा सकते हैं। इसलिए, सारंगी जैसे साज़ को जीवित और सुरक्षित रखना हर तरह से अनिवार्य है।

सन्दर्भ सूची

1. चौबे सुशील कुमार, हमारा आधुनिक संगीत, पृ. 124
2. परांजपे डॉ. शरतचन्द्र श्रीधर, संगीत बोध, पृ. 122

Scanned with OKEN Scanner

बीसवीं शताब्दी में संगीत में आये परिवर्तन एवं उसके सुदूरगामी प्रभाव ''सांगीतिक पत्रिकाएं एवं स्मारिकाएं - मध्यप्रदेश के संदर्भ में''

डॉ॰ रवि कुमार पंडोले

यह हमारा दुर्भाग्य है कि बीसवीं सदी से पहले का संगीत हमारे सामने नहीं है। ऐसी स्थिति में पूरी सहस्त्राब्दी के संगीत को समझने के लिए बाहरी सबूतों को जांचने परखने के अलावा अन्य कोई रास्ता हमारे आगे नहीं बचता। इन बहिर्साक्ष्यों से हम उस युग के संगीत की कल्पना व अंदाजा भर ही लगा पाते हैं। हमारा यह सौभाग्य है कि बीती शताब्दी के ग्रंथों के मामले में हम बहुत समृद्ध रहे। संगीत संबंधी साहित्य इन हजार वर्षों में अपेक्षाकृत बड़ी मात्रा में रचा गया। जिसने पिछली सहस्त्रब्दी के संगीत को जानने और समझने में हमें भारी मदद पहुंचाई है।

बीसवीं शताब्दी हिन्दुस्तानी संगीत के लिए क्रांतिकारी उपलब्धियां लेकर आई। माईक्रोफोन आवागमन के लिए साधनों तथा संचार माध्यमों ने पूरी परंपरा पर नये सिरे से कार्य किया। संगीत का व्यापक प्रचार हुआ किन्तु जिस गति से प्रचार-प्रसार होना था वह नहीं हुआ। प्रचार-प्रसार व संचार माध्यमों, संगीत के विशेष संदर्भ में उत्तरोत्तर विकास नहीं हुआ है अन्यथा यह आज संगीत की स्थिति/दुर्दशा न होती। संगीत की वर्तमान स्थिति और भविष्य के लिए कौन उत्तरदायी है। प्रचार-प्रसार माध्यमों या मीडिया से अभिप्राय क्या है? व्यक्ति/व्यक्तियों और व्यापक जन समाज के मध्य संपर्क और संवाद की स्थापना का क्या उद्देश्य है? इनकी भूमिका का आदर्श-स्वरूप संगीत के परिप्रेक्ष्य में क्या रही और क्या होनी चाहिए? क्या योग्य कलाकारों व सांस्कृतिक कार्यक्रमों को प्रोत्साहन देना मात्र है। शास्त्रीय संगीत के गुणात्मक विकास और लोकप्रियता के परिप्रेक्ष्य में क्या प्रयत्न होने चाहिए तथा अभी तक क्या प्रयत्न किये गए?

1. सांगीतिक पत्रकारिता का उद्गम-विकास– जिज्ञासा मानव के विकास का मूल्य है और यदि यह कहा जाए कि कंदरा युग से अंतरिक्ष युग तक मानवीय सभ्यता की छलांग मानव मन के नित्य नूतन अन्वेषण की जिज्ञासा के कारण ही संभव हो सका है तो अतिशयोक्ति न होगी। जिज्ञासा मानव मन की प्रकृति का मूल तत्व है जो उसे अपने आसपास घट रही घटनाओं, गतिविधियों, परिवर्तनों के बारे में अद्यतन जानकारी प्राप्त करने को प्रेरित करती है। यह जिज्ञासा मानव को विवश करती है कि अपने अतीत में झांकने के लिए और अपने वर्तमान से साक्षात्कार करते हुए अपने भविष्य की संभावनाओं का अनुमान करने के लिए। जिज्ञासा मानव में अदम्य जिजीविषा और अज्ञान की परतों को उघाड़ने की दुर्दम्य आकांक्षा जगाती है। हजारों साल पहले जब न तो मुद्रण प्रौद्योगिकी का उद्भव और विकास हुआ था और न ही प्रचार-प्रसार माध्यमों का आविर्भाव हो पाया था, तब भी सूचनाओं के संचार एवं आदान-प्रदान के साधन तत्कालीन मानव सभ्यता ने रच रखे थे।

सहायक प्राध्यापक (संगीत), शास. महारानी लक्ष्मीबाई स्नातकोत्तर कन्या महाविद्यालय, भोपाल

Scanned with OKEN Scanner

महर्षि नारद इस मान से पत्रकारिता के आदि पुरूष कहे जा सकते हैं। जो एक महान संगीतज्ञ, गंधर्व थे। जिन्होंने संवाद संकलन एवं उनके प्रेषण का पत्रकार कर्म पहले पहल किया था। महर्षि नारद जहां पत्रकारिता के प्रथम पुरूष हैं, तब संजय ऐसे पहले संवाददाता ठहरते हैं जिन्होंने महाभारत का आंखों देखा हाल धृतराष्ट्र को सुना कर पत्रकारिता की इस जीवन्त विधा का आविर्भाव किया था। इस प्रकार नारद का संवाद स ंकलन एवं त्वरित प्रेषण, जहां आज भी पत्रकारों के लिए एक आदर्श चुनौती बना हुआ है। वहीं संजय का पत्रकार क्रम, आनेवाले युगों तक, युद्ध संवाददाताओं के लिए एक आदर्श उदाहरण बना रहेगा।[1]

पौराणिक कथाओं, राजाओं की कहानियों, किवदंतियों और लोकोक्तियों में प्राचीन भारत में विभिन्न राजाओं के स्वयं वेश बदलकर नागरिकों की प्रतिक्रियाएं एवं समस्याएं जानने के उपक्रम का जो उल्लेख किया जाता है, वह समाचार संकलन के अलावा और क्या था? प्रायः सभी राजाओं का अपना सूचना तंत्र होता था।[2] इन्हीं सूत्रों द्वारा प्रदत्त जानकारी के आधार पर तत्कालीन राजा-महाराजा अपने प्रशासनिक निर्णय लेते थे और प्रजा के प्रति समर्पित राजा तो ऐसी सूचनाओं के आधार पर अपने राज्य की आचरण नीति का निर्धारण किया करते थे। अन्य राजाओं के प्रति संबंधों का निर्धारण इन्हीं सूचनाओं पर आधारित हुआ करता था।

प्राचीन भारत में सौदागरों के काफिले, तीर्थ यात्रियों के समूह और धूमंतू जातियों के जत्थे अपने निजी कार्य व्यवहार के अलावा जन संचार माध्यम के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे।[3] किसी राज्य की आर्थिक स्थिति क्या है? वहां के नागरिकों का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन कैसा है? शांति और व्यवस्था की स्थिति क्या है? राजा का प्रजा एवं प्रजा का राजा के साथ रिश्ता कैसा है। धार्मिक साहित्यिक, सांस्कृतिक परंपराएं क्या है? कला एवं कलाकारों के प्रति राज्य एवं नागरिकजन की मान्यताएं क्या है? इन सारी सूचनाओं का आदान-प्रदान एवं संचारण तब इन्हीं के द्वारा हुआ करता था।

नगाड़ों की ध्वनि के माध्यम से सूचना संकेतों के प्रसारण की भी अपनी एक व्यवस्था रही है जो आज भी दुर्गम अंचलों की आदिम जाति-जनजातियों के बीच परिलक्षित होती है।[4] ध्वनि के माध्यम से सूचना संकेत का एक आदर्श उदाहरण अभी हाल तक कुछ जिलों में विद्यमान रहा है। रियासतों में रात्रि में भोजन ग्रहण करने के पूर्व राजा नगाड़े को बजवाता था और नगाड़े की ध्वनि की गूंज अपने अंचल में यह संदेश फैलाती थी कि मेरी रियासत में कोई भूखा-प्यासा न सोये, जिसे भोजन न मिले वह मेरे साथ आये, और मेरे साथ भोजन करे। राज्य की ओर से डौंडी पीटकर महत्वपूर्ण सूचनाओं की उद्घोषणा ग्रामीण अंचलों में आज भी प्रसारण का एक माध्यम बनी हुई है। भारत में पक्षियों, विशेषकर कबूतरों का उपयोग, संदेशवाहक के रूप में किया जाता रहा है। स्थाई सूचना संकेतों के रूप में शिलालेख लगवाना भी आनेवाली पीढ़ियों के लिए सूचना सुरक्षित करने का एक उपक्रम हो रहा है। मध्ययुगीन भारत में पत्रों के माध्यम से सूचनाओं का आदान-प्रदान होने लगा था। मुगलकाल में पहले पहल वाकिया नवीस नियुक्त होने लगे। बादशाह अकबर के शासनतंत्र में उन्हें बाकायदा नियुक्तियां दी जाने लगीं और एक विभाग के रूप में उन्हें संगठित किया गया था।

2. पत्रिकाएं - ये पत्रिकाएं पाक्षिक, मासिक और द्वैमासिक होती है। इन पत्रिकाओं में प्रसिद्ध साहित्यकारों, संगीतकारों के साक्षात्कार, उनके विचारों को प्रकाशित किया जाता है। सम-सामयिक विषय पर व्याख्यान, शोध-संगोष्ठी, परिचर्चा, सांस्कृतिक कार्यक्रमों की रिपोर्ट, किसी एक विषय पर विशेषांक, लेख कई कड़ियों में प्रकाशित किये जाते हैं। क्षेत्र के प्रसिद्ध साहित्यकारों का, संगीतज्ञों का जीवनवृत्त, सांगीतिक अनुदान आदि प्रकाशित किये जाते हैं। अभिनन्दन, स्मृति, प्रेरक-प्रसंग, संवाद, शोध लेख, गजलें, कविताएं, प्रेरक कहानियां, नाटकों पर आधारित रंग प्रसंग आदि प्रकाशित किये जाते है। पत्रिकाओं में सांगीतिक समारोहों, सम्मेलनों पर विशेषांक प्रकाशित किये जाते हैं। इसमें किसी विशेष समारोह की विस्तृत रिपोर्ट प्रकाशित की जाती है।

Scanned with OKEN Scanner

3. स्मारिकाएं - सांगीतिक स्मारिकाएं वे होती है जिनमें संगीत संस्था का इतिहास, स्थापना, उसके कार्य आदि का विवरण, संस्थापक का परिचय, उनका जीवन संघर्ष, संस्था को मान्यता प्रदान करने के साक्षी, साथियों के उद्‌गारों को प्रकाशित किया जाता है।

सम्मान पर आधारित स्मारिकाओं में सम्मान की स्थापना, उद्‌देश्य कलाकारों की चयन प्रक्रिया, चयन समिति के सदस्यों का संक्षिप्त परिचय, उनके सांगीतिक योगदान, सम्मान के लिए चयनित कलाकारों का जीवनवृत तथा सम्मान समारोह में सहभागी कलाकारों का जीवन परिचय आदि प्रकाशित किये जाते हैं। सम्मान की स्थापना से लेकर प्रतिवर्ष सम्मानित कलाकारों का परिचय सम्मान, राशि की सूची प्रतिवर्ष प्रकाशित की जाती है। प्रतिवर्ष सम्मान समारोह में सम्मिलित कलाकारों की सूची का प्रकाशन भी किया जाता है। सम्मानों पर आधारित स्मारिकाएं व समारोहों पर आधारित स्मारिकाएं कुछ भिन्न होती है। समारोह पर आधारित स्मारिकाएं व्यक्ति विशेष पर आधारित होती है। इसमे संगीतज्ञ का सांगीतिक, योगदानों को प्रकाशित किया जाता है। इस समारोह की स्थापना, उसमें प्रतिभागी कलाकार, कार्यक्रमों की रूपरेखा, मुख्य व संगत कलाकारों का जीवनवृत आदि प्रकाशित किया जाता है। संगीतज्ञ विशेष को रेखांकित करते लेख, शोध पत्र आदि प्रकाशित किये जाते हैं।

4. मध्यप्रदेश में सांगीतिक पत्रिकाएं - 1. पूर्वग्रह 2. कलावार्ता 3. कलासमय 4. साक्षात्कार 5. चौमासा 6. रचना आदि प्रमुख सांगीतिक पत्रिकाएं हैं। जो वर्तमान में प्रकाशित हो रही है।

मध्यप्रदेश कला परिषद्, मध्यप्रदेश में विभिन्न ललित कलाओं के विकास के लिए कटिबद्ध है। अतः कला के क्षेत्र में, विशेषकर मध्यप्रदेश में होनेवाले सभी कार्यक्रमों की विवेचना वार्ताएं तथा अन्य लेखन सामग्री यथा संभव म.प्र. कला परिषद के अपने प्रकाशन कला वार्ता में प्रकाशित की है।

1 सितंबर 1974 में म.प्र. कलापरिषद ने आलोचना के मासिक पत्र "पूर्वाग्रह" का प्रकाशन आरंभ किया था। इस अंक में प्रियदर्शी की एक टिप्पणी थी - "आलोचना की नई संभावना"

पूर्वग्रह - उत्सव 73 से कला के क्षेत्र में सक्रियता बढ़ने से यह जरूरत महसूस की गयी कि गंभीर और रचनात्मक आलोचना समीक्षा का प्रकाशन हो। इसी जरूरत के मुताबिक परिषद ने श्री अशोक वाजपेयी एवं अन्य सहयोगियों के संपादन में पूर्वग्रह मासिक का प्रकाशन शुरू किया। बाद में यह पत्रिका श्री वाजपेयी के ही अकेले संपादन में द्विमासिक हो गई।[29]

कलावार्ता - सन् 1981 के आते आते तक शासन के सहयोग से म.प्र. में कलाओं का तेजी से विस्तार करने की कार्यवाही स्वरूप लेने लगी और कला गतिविधियां सामान्य जीवन के साथ सरलता से जुड़ने लगी। इस बढ़ती सक्रियता के प्रति लोगो की रूचि को और अधिक बढ़ाने के लिहाज से म.प्र. कला परिषद ने समकालीन सृजनकर्म के रेखांकन के रूप में 'कलावार्ता' का प्रकाशन मार्च 1981 में करना शुरू किया। श्री श्रीराम तिवारी इस पत्रिका के संपादक हैं कलावार्ता ने न सिर्फ म.प्र. वरन अन्य जगहों पर चल रही गतिविधियों पर उत्तेजक सामग्री प्रकाशित करने का सिलसिला चलाया है।

साक्षात्कार - इन दो आलोचना पत्रिकाओं के अलावा म.प्र. साहित्य परिषद द्वारा रचनात्मक साहित्य की पत्रिका "साक्षात्कार" का प्रकाशन भी किया जा रहा है।

चौमासा - मध्यप्रदेश लोककला परिषद भी एक पत्रिका चौमासा का प्रकाशन कर रहा है। यह उल्लेख करना भी जरूरी होगा कि कलापरिषद्, उस्ताद अलाउद्‌दीन खां संगीत अकादमी और साहित्य परिषद ने समय-समय पर विभिन्न आयोजनों के अवसर पर विशिष्ट सामग्री भी प्रकाशित की है। चित्रकारों, संगीतकारों, रंगकर्मियों आदि की उपलब्धियों के संबंध में किये गए ये प्रकाशन, सामग्री और मुद्रण की दृष्टि से उल्लेखनीय है। उत्सव 73 के आयोजन के अवसर पर प्रकाशित स्मारिका और पुस्तिका विशेष उल्लेखनीय है। वास्तव में उसी स्मारिका और पुस्तिका के विचार श्रोत से साहित्य-कला आलोचना की पत्रकारिता और प्रकाशन का सिलसिला चल पड़ा है।[30]

कलासमय - माधव राव सप्रे समाचार पत्र संग्रहालय एवं शोध संस्थान, भोपाल द्वारा पुरस्कृत

Scanned with OKEN Scanner

द्वैमासिक सांस्कृतिक पत्रिका, कलावार्ता के बाद दूसरी नियमित पत्रिका है। यह मध्यप्रदेश के समस्त सांगीतिक, सांस्कृतिक आयोजनों की समीक्षात्मक पत्रिका है। इसमें भारतीय शास्त्रीय कलाएं, रंगमंच, लोक संस्कृति और उनके उन्नायकों के साक्षात्कार, लेख, चिंतन आदि प्रकाशित किये जाते हैं।[31]

5. मध्यप्रदेश में सांगीतिक पत्रिका -

1. सन् 1939 में ग्वालियर में मासिक पत्र 'संगीत कला' का प्रकाशन श्री नंदलाल शर्मा के संपादन में शुरू हुआ।[16]
2. 'भारतीय संगीत' का प्रकाशन सागर से 1949 में हुआ यह हिन्दी मासिक पत्रिका थी।[17]
3. 'आर्ट ओ कल्चर' एम. इरफान के संपादन में 1954 में एक उर्दू साप्ताहिक पत्र भोपाल से प्रकाशित होता था।[18]
4. 'कला सौरभ' इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़ से प्रकाशित पत्रिका हिन्दी मासिक थी यह 1972 में प्रकाशित हुई थी।[19]
5. 1977 में भोपाल में कला एवं साहित्य समीक्षक श्री अनिल कुमार के संपादन में कला पत्रिका 'रंग साधन' का प्रकाशन हुआ।[20]
6. मार्च 1981 में कला परिषद भोपाल की ओर से 'कलावार्ता' का प्रकाशन श्री राम तिवारी के संपादन में हुआ।[21]
7. 'मृदंग' सिद्धगोपाल पुरोहित के संपादन में ग्वालियर से हिन्दी साप्ताहिक पत्र प्रकाशित 1982 में हुआ।[22]

संगीत की विभिन्न धाराओं पर यहीं के विचारकों चिंतको ने प्रचुर मात्रा में लेखन कार्य किया है। बीसवीं शताब्दी में प्रस्थापित संगीत शिक्षा व्यवस्था के कारण शालेय स्तर के तथा उच्च स्तरीय छात्रों के लिए प्रचुर पाठ्य सामग्री का प्रकाशन हुआ जिसमें भारतीय संगीत के ऐतिहासिक पक्ष पर प्रकाश करने वाले ग्रन्थ, स्फुट लेख, निबंध मालाएं, संगीत के वैज्ञानिक पक्ष संबंधी जैसे ध्वनि, श्रुतिस्वर व्यवस्था इत्यादि सभी बातें सम्मिलित हैं। ऐसी पुस्तकों में मानसिंह और मानकुतूहल, ग्वालियर के तोमर, भारतीय संगीत का इतिहास, भारतीय रागों का शास्त्रीय विवेचन इत्यादि कई पुस्तकें सम्मिलित है।

विभिन्न संगीतज्ञों संबंधी, उनकी जीवनी, व्यक्तित्व और कृतित्व को समूचे रूप में पाठकों और संगीत प्रेमियों के सम्मुख रखनेवाले लेखन सामग्री ग्रन्थरूप में प्रकाशित होने लगी। ऐसी पुस्तकों में संगीत सम्राट तानसेन, उ. अल्लाउद्दीन खां, उ. रज्जब खां, कुमार गंधर्व, राजा भैया पूछवाले, मध्यप्रदेश के संगीतज्ञ, मालव-माधव, मध्यवर्ती इत्यादि पुस्तकें विशेष उल्लेखनीय है।

डॉ॰ अरूण कुमार सेन, डॉ॰ अनिता सेन, तुलसीराम देवांगन, वेदमणि सिंह ठाकुर प्रो. सिंघोरे, श्री प्यारेलाल श्रीमाल इत्यादि अध्ययनरत विद्वानों ने समय-समय पर अपने उद्घोपक लेखों द्वारा संगीत के शिक्षा क्षेत्र में सहयोग दिया है।

प्रायोगिक पक्ष पर भी अनेक पुस्तकें लिखी गई जिनमें पाठ्यक्रमों के राग, रागभेद, बंदिशें, स्वरलिपियां इत्यादि सामग्री सम्मिलित हैं। इनमें, ख्याल-ध्रुपद-धमार, ठुमरी गायकी, वेला वादन शिक्षा, तानमालिका, संगीतोपासना, ठुमरी तरंगिणी, ध्रुपद-धमार, गायन इत्यादि विशेष उल्लेखनीय है।

मध्यप्रदेश से संबंधित कलाकारों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व संबंधी साहित्य प्रकाशित करने के लिए यहां उ. अल्लाउद्दीन खां संगीत अकादमी अत्यंत सक्रिय है। जिन्होंने गत कुछ वर्षों से 6-7 ग्रन्थों का प्रकाशन किया है तथा और ग्रन्थ प्रकाशनाधीन है।

6. सांगीतिक पत्रिकाएं व स्मारिकाओं का महत्व - ये पत्रिकाएं व स्मारिकाएं संगीत के क्रमशः उन्नति की परिचायक होती है। इसमे प्रतिमाह होनेवाली सांगीतिक घटनाओं, नूतन शोध-संदर्भों, नूतन रागों की स्वरलिपि, सम-सामयिक सांगीतिक चिंतन आदि की महत्वपूर्ण जानकारी प्रकाशित की जाती है। संगीत के शोधार्थियों, चिंतकों, आलोचकों को विस्तृत सामग्री इन पत्रिकाओं से प्राप्त हो जाती है। नई प्रतिभाओं को उठने का अवसर भी इन्हीं पत्रिकाओं के माध्यम से प्राप्त होती है। शोधार्थियों को शोध-सामग्री भी इन्हीं पत्रिकाओं, स्मारिकाओं से प्राप्त हो जाती है जो कई बार ग्रंथों, पुस्तकों में खोलने पर भी नहीं मिल पाती है। इस तरह से पत्रिकाएं-स्मारिकाएं सांगीतिक विकास की अमूल्य

Scanned with OKEN Scanner

धारोहर होती है। म.प्र. में सांगीतिक स्मारिकाओं का पत्रिकाओं का प्रकाशन केन्द्र है।

7. मध्यप्रदेश में प्रकाशित सांगीतिक पत्रिकाओ का इतिहास -

1. संगीत कला - जगन्नाथ प्रसाद मिलिंद - ग्वालियर - हिन्दी साप्ताहिक - 1939
2. तानसेन - शलील हाशमी, ग्वालियर - उर्दू मासिक - 1940
3. भारतीय संगीत - युसुफ कुरैशी, के.एन. प्रधान - सागर - हिन्दी मासिक - 1949
4. सत्संग - गजानन सोनी - सागर - हिन्दी मासिक - 1950
5. सिनेमा एक्सप्रेस - मायाराम सुरजन - इंदौर - हिन्दी साप्ताहिक - 1959
6. सागरिका - कुन्दनलाल - सागर - संस्कृत - मासिक - 1967
7. पूर्वग्रह - अशोक वाजपेयी - भोपाल - हिन्दी द्विमासिक - 1971
8. कला सौरभ - इंदिरा कला संगीत वि.वि. खैरागढ़ - हिन्दी मासिक - 1972
9. कला सौरभ - शालेय पत्रिका - राजनांदगांव हिन्दी - 1972
10. साक्षात्कार - प्रो. हनुमान वर्मा - भोपाल - हिन्दी त्रैमासिक - 1976
11. रंग संधान - अनिल कुमार - भोपाल - हिन्दी साप्ताहिक - 1977
12. कलावार्ता - श्रीराम तिवारी - भोपाल - हिन्दी मासिक - 1981
13. अक्षरा - डॉ. प्रभाकर क्षोत्रिय - भोपाल - हिन्दी त्रैमासिक - 1982
14. मृदंग - प्रेमलता गुप्ता - ग्वालियर - हिन्दी साप्ताहिक - 1982
15. रंग संधान - मनोहर आशी - भोपाल - हिन्दी मासिक - 1986
16. पूर्वा - संस्कृत अकादमी - म.प्र. भोपाल - संस्कृत मासिक - 1986
17. पटकथा - श्रीराम तिवारी - भोपाल - हिन्दी द्वैमासिक - 1986
18. अंत्यजा - शासकीय प्रकाशन - भोपाल - हिन्दी त्रैमासिक - 1987
19. नाग संस्कृति - कला मरमट - उज्जैन - हिन्दी साप्ताहिक - 1987
20. आचार्य वृहस्पति - प्रेमनारायण पंडित - उज्जैन - हिन्दी साप्ताहिक - 1987
21. कला समय - विनय उपाध्याय - भोपाल - द्वैमासिक
22. चौमासा - लोककला आदिवासी अकादमी भोपाल - चौमासिक

मध्यप्रदेश में प्रकाशित सांगीतिक स्मारिकाएं-

1. तानसेन सम्मान समारोह स्मारिका - भोपाल - हिन्दी वार्षिक - 1980
2. अमीर खां समारोह स्मारिका - इंदौर - वार्षिक
3. कालीदास सम्मान समारोह स्मारिका - उज्जैन - वार्षिक
4. उस्ताद अलाउद्दीन खां संगीत समारोह स्मारिका - मैहर - वार्षिक
5. सारंगी समारोह स्मारिका - खजुराहो
7. ध्रुपद समारोह स्मारिका - भोपाल
8. मांडू उत्सव - मांडू
9. मधुकली वृन्द गान समारोह स्मारिका - भोपाल
10. अभिनव कला परिषद स्मारिका - भोपाल
11. संस्कृति - देवेन्द्र दीपक - भोपाल
12. मृदंगाचार्य नाना साहेब पानसे स्मृति संगीत समारोह - दमोह
13. रंग दर्पण - भोपाल
14. उत्तराधिकार समारोह - भोपाल
15. म्युजिक सर्कल महाराष्ट्र समाज - भोपाल
16. शिखर सम्मान समारोह - भोपाल
17. पं0 कुमार गंधर्व समारोह - देवास
18. नर्मदा उत्सव - जबलपुर
19. मध्यप्रदेश संगीत समारोह - भोपाल
20. आसपास, अनुश्रुति, श्रृंखला, घुंघरू, कथक, प्रसंग, दुर्लभ वाद्य-विनोद, पूनम, प्रथमा, स्मरण, रंग शिविर कार्यक्रमों की स्मारिकाएं आदि।

Scanned with OKEN Scanner

गुरू शिष्य परम्परा एवं वर्तमान संगीत शिक्षण

डॉ. रोजी श्रीवास्तव

भारतीय कला संस्कृति का अपना एक इतिहास रहा हैं। हमारी कलाएं सदा से ही "सत्यम् शिवम् सुन्दरम्" से प्रेरित रही है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में संगीत को सर्वोत्तम उत्कृष्ट कला के रूप में जाना जाता हैं। प्रत्येक काल में संगीत की अपनी एक भूमिका रही हैं। आदिकाल से वर्तमान तक भारतीय संगीत ने एक बहुत लम्बा सफर तय किया हैं। हमारा संगीत कई पड़ावों से होकर गुजरा हैं तब उसका यह प्रतिष्ठित स्वरूप हमारे समाने आया हैं। संगीत के शास्त्रीय स्वरूप को बनाये रखने में संगीत के शैक्षिक पक्ष को नहीं नकारा जा सकता हैं। शिक्षा की प्रक्रिया युग साक्षेप होती हैं। युग की गति एवं उसके नये-नये परिवर्तन के आधार पर प्रत्येक युग में शिक्षा के साथ-साथ शिक्षण का प्रयोजन एवं दृष्टिकोण भी बदलता रहता हैं। मानव विकास के लिए खुलते नित नये आयाम शिक्षा एवं शिक्षाविदों के लिए चुनौती का कार्य करते हैं। शिक्षा किसी भी स्तर की हो, किसी भी विषय की हो, कुछ उद्देश्यों को अपने में समाहित किए रहती हैं।

यदि हम संगीत शिक्षण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात करें तो यूं तो संगीत शिक्षा की परम्परा वैदिक युग से ही रही हैं। यह बात अलग हैं कि वैदिक युग में संगीत शिक्षा "गुरू शिष्य परम्परा" द्वारा तो मुगलकाल में "घराना" के माध्यम से दी जाती थी तथा वर्तमान में विद्यालय, महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय स्तर पर दी जा रही है। आज शिक्षाविदों एवं संगीतज्ञों ने संगीत की तीनों विधाओं यथा गायन, वादन, नर्तन को पृथक-पृथक विषय के रूप में रखा हैं। इसके अतिरिक्त संगीत को अन्य विषयों से भी जोड़ा हैं। जैसे दर्शन, इतिहास, मनोविज्ञान, चिकित्सा एवं योग आदि। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय कला संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखने तथा उसके चहुंमुखी विकास में सरकार ने कई प्रयास किए हैं। फलस्वरूप संगीत प्रेमियों, श्रोताओं एवं छात्राओं की गुणात्मक संख्या में बढ़ोतरी अवश्य हुई हैं। किन्तु इसकी गुणवत्ता में निरन्तर गिरावट आई हैं। आज विश्वविद्यालय का कोई भी विद्यार्थी घराने या गुरू शिष्य परम्परा के शिष्यों की गायकी या प्रस्तुति के सामने टिक नहीं पाते। जिसे वर्तमान शिक्षण प्रणाली की उपलब्धि स्वरूप कहा जा सके। इस समस्या को हमारे शिक्षाविदों एवं संगीत शास्त्रियों ने प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकारा भी हैं। ऐसी स्थिति में यदि "गुरू शिष्य परम्परा" की अवधारणा पर विचार करें तो प्रश्न उठता हैं कि गुरू शिष्य परम्परा के ऐसे कौनसे आधार बिन्दु हैं जो संगीत को "विशेष" या कहें कि "उच्चतर" की श्रेणी तक ले जाते हैं। जो संगीत को सम्पन्न एवं सुदृढ़ बनाने में सहायक सिद्ध हुए हैं। संगीत की शैक्षिक प्रक्रिया जो गुरू शिष्य परम्परा में विकसित हुई और आगे चलकर "घराने" के रूप प्रतिष्ठित हुई, इस परम्परा में एक बात उभरकर सामने आई कि गुरू शिष्य की कार्यक्षमता, बुद्धि, रूचि आदि को ध्यान में रखकर मार्गनिर्देशन किया करते थे। इसमें वंशानुक्रम, वातावरण, परिपक्वता तथा प्रशिक्षण इन चारों पहलुओं का कहीं ना कहीं योगदान अवश्य रहा हैं। संगीत के क्षेत्र में वंशानुगत गुण जो बच्चे को मिलते हैं, उसे नकारा नहीं जा सकता हैं। इन्हीं पैतृक गुणों के कारण बच्चे को

राजकीय महारानी सुदर्शना महाविद्यालय, बीकानेर(राजस्थान)

Scanned with OKEN Scanner

लय एवं स्वर का ज्ञान स्वतः ही होता हैं। इन्हीं गुणों को यदि वातावरण मिल जाए या कहे कि अच्छे गुरू का सानिध्य मिल जाए तो उसकी कला निखर कर सामने आती हैं। यानि वातावरण एवं प्रशिक्षण दोनों ही संगीत कला को सीखने में, पारंगत होने में सहायक सिद्ध हुए हैं। यह प्रशिक्षण लम्बे समय तक चलता हैं। इसमें धैर्य, संयम एवं समर्पण के साथ-साथ संगीत की निरन्तर कठोर साधना आवश्यक हैं। तभी संगीत में परिपक्वता जैसा गुण शिष्य को प्राप्त होता हैं। संगीत में परिपक्वता का अर्थ हैं गुरू की छत्रछाया में अभ्यास करने से उसकी समझ इतनी सूक्ष्म एवं गहरी हो जाती हैं कि वह संगीत की हर हरकत, स्वरों के लगाव, कण, खटका, मुरकी तथा गायन शैली आदि को अपनी गायकी में उतार सकता हैं। क्योंकि संगीत एक रंगमंचीय कला हैं बिना प्रशिक्षण या परिपक्वता के उसकी प्रस्तुति सफल नहीं हो सकती हैं। किसी भी विषय का विकसित स्वरूप, विषय की गुणवत्ता एवं गुणात्मक संख्या दोनों ही पक्ष से जुड़ा होता हैं। इन दोनों ही पहलुओं के विकास से विषय की महत्ता एवं लोकप्रियता परिलक्षित होती हैं। परन्तु इन सभी बिन्दुओं के पीछे विषय का शैक्षिक स्वरूप क्या हैं? यह अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं तथा इसी के आधार पर आंकलन संभव हैं। यदि हम वर्तमान संदर्भ में संगीत को इन पैमानों में आंके तो संगीत शिक्षा से जुड़े कुछ पहलु हमारे सामने आते हैं। वर्तमान समय में संस्थागत संगीत शिक्षण का प्रचलन हैं, जिसके चार मुख्य अंग हैं- शिक्षक, शिक्षार्थी, शिक्षण पद्धति एवं मूल्यांकन। हमारी संगीत शिक्षा का सबसे बड़ा दुर्भाग्य ही कहा जा सकता हैं कि प्राथमिक एवं माध्यमिक स्तर पर इसे ज्यादा महत्व नहीं दिया गया। कला शिक्षा के नाम पर एक व्यवस्था तो हैं किन्तु संगीत शिक्षण हेतु कोई स्पष्ट एवं ठोस प्रयास नहीं हुए। उच्चतर माध्यमिक स्तर पर संगीत को ऐच्छिक विषय के रूप में अवश्यक पढ़ाया जा रहा हैं किन्तु अध्ययन एवं अध्यापन बहुत ही शिथिलता लिए हुए हैं। वास्तव में संगीत एक साधना हैं, तत्व हैं जिसका "वजूद" या कहे कि "आत्मा" रियाज हैं, अभ्यास हैं। चाहे फिर वो शास्त्रीय संगीत या सुगम संगीत। प्राचीन समय में गुरूजन एक ही राग को लम्बे समय तक रियाज कराते थे। मंद्र सप्तक एवं तार सप्तक का रियाज, "सबक" का रियाज आवश्यक होता था। जहां कोई समय सीमा या पाठ्यक्रम का बंधन नहीं होता था। जबकि वर्तमान शिक्षण पद्धति में एक निश्चित समय में निश्चित पाठ्यक्रम को पूरा करना आवश्यक होता हैं। इसके अतिरिक्त गुरू शिष्य दोनों में ही समर्पण, धैर्य एवं संयम कम दिखाई देता हैं। वर्तमान में जो संगीत की स्थिति हैं। उसके लिए हम किसी एक को दोषी नहीं ठहरा सकते बल्कि दोनों ही पक्ष एक सीमा तक उत्तरदायी हैं। ऐसा नहीं कि स्थिति को सुधारने की दिशा में प्रयास नहीं हुए। पर कुछ ठोस परिणाम सामने नहीं आए। ऐसी हमारी स्थिति क्यों हुई हमें अध्ययन या अध्यापन जैसे शब्दों को पुनः परिभाषित क्यों करना पड़ रहा है। इनके अर्थो को बार-बार क्यों दोहराना पड़ रहा हैं। इसकी महत्ता क्यों स्थापित करनी पड़ रही हैं। हमें अपने अतीत में झांकना होगा। इसका कारण खोजना होगा- कारण यह है कि हमारे विचारों का मंथन ठहर सा गया हैं। चिन्तन प्रक्रिया धीमी हो गई हैं। आज अध्ययन एवं अध्यापन हमारी संस्कृति के घटक मात्र रह गये हैं।

आज के इस भौतिकवादी प्रोद्यौगिक युग में जीवन इतना संघर्षमय एवं गतिशील हो गया हैं कि कला साधना में जीवन बिताया जाए ऐसा संभव नहीं। व्यवसायिकरण की लम्बी दौड़ में आज प्रत्येक विद्यार्थी "जॉब ऑरियेन्टेड कोर्स" करना चाहता हैं। स्वयं स्वावलम्बी बनना चाहता हैं। जीवकोपार्जन ही उसकी शिक्षा का लक्ष्य हैं, ध्येय हैं। यदि हम गहराई से विचार करें तो वर्तमान में संगीत शिक्षण का सबसे बड़ा नकारात्मक बिन्दु यह हैं कि यह रोजगार परक नहीं हैं। पिछले कुछ वर्षों में संगीतज्ञों ने इस और ध्यान आकृष्ट किया हैं कि संगीत का क्षेत्र इतना व्यापक एवं विशाल हैं जहां उच्च स्तर पर अनेकों संभावनाए निहित हैं। जैसे संगीत शिक्षक, रंगमंचीय कलाकार, शास्त्रकार एवं समीक्षक वाद्यों के निर्माता एवं टेक्निशियन, कार्यक्रम प्रबंधक एवं संयोजक, निर्देशक, विज्ञापन व्यवसाय, केसेट्स एवं रिकोर्डिग कम्पनी, संगीत ग्रंथों का प्रकाशन एवं क्रय-विक्रय, संगीत पत्रकारिता आदि आवश्यकता हैं इससे संबधित पाठ्यक्रम चलाए जाए। जिससे

Scanned with OKEN Scanner

विद्यार्थी को रोजगार मिल सकें। उच्च शिक्षा को अर्थहीन होने से बचाने के लिए इसका लक्ष्य निश्चित कर लेना आवश्यक हैं।

जहां आज सम्पूर्ण विश्व "ग्लोबलाइजेशन" के दौर से गुजर रहा हैं। ऐसे समय में यदि एकजुट होकर प्रयास ना किया गया, यदि परिवर्तन या बदलाव नहीं आया तो प्रगति रूक जाएगी। परिवर्तन समय की मांग हैं। समय अनुसार कला एवं शिक्षा के प्रयोजन बदलते रहे हैं। इतिहास इस बात का साक्षी हैं। आवश्यक हैं कि हम संगीत शिक्षण को, पाठ्यक्रम को परिवेश के अनुसार उसी सीमा तक परिवर्तित करें जिससे मूल स्वरूप नष्ट ना हो, अन्यथा वर्तमान संदर्भ में उसका कोई महत्व ही नहीं रह जाएगा। वर्तमान संगीत शिक्षण में कुछ इस प्रकार का सामंजस्य हो कि संस्थागत शिक्षण गुरूकुल घराना पद्धति की नींव पर पल्लवित हो सके। आधुनिक युग की परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के अनुरूप एक सुसंगठित पद्धति का आवश्यकता हैं जो गुरूकुल एवं घराने की विशिष्टताओं पर आधारित हो।

संगीत के बढ़ते प्रचार-प्रसार में, वर्तमान युगीन कोलाहल में कहीं हम अपनी दिशा ना खो दें, दिशाहीनता की इस स्थिति में किसी दोराहे-चौराहे पर ना आ खड़े हो। यही सोच, यही चिन्ता प्रस्तुत लेख में बताई गई हैं। हमारी संस्कृति ही इस मार्ग में हमारा दीपक हैं, पाथेय हैं और है हमारा ध्रुव ध्येय। यद्यपि यह सच हैं कि हमारी संस्कृति में सबकुछ अपने में समा लेने की अपार क्षमता रही है लेकिन अपने में समाना या स्वयं किसी में समाहित हो जाना दो भिन्न-भिन्न बातें हैं। आज आशंका दूसरे विकल्प को लेकर हैं, प्रथम विकल्प तो हमारा गौरव रहा हैं।

संगीत शिक्षा द्वारा मूल्य शिक्षा

रजनीश विश्वकर्मा

सरस ब्रह्म की रसवत्ता ही संगीत है संगीत ईश्वरी वरदान है, संगीत एक ललित कला है अर्थात सुन्दर और मनोहर " संगीत कं न मोहयेतु "अर्थात संगीत से कौन मोहित नहीं होता ! पांचों ललित कलाओं में से संगीत ही एक ऐसी कला है जिसे किसी ब्रह्म साधनों एवं उपकरणों की आवश्यकता नहीं रहती! इसीलिए संगीत द्वारा प्राप्त आनन्द अन्य सभी से उच्च स्थान पर माना गया है ! गायन वादन और नृत्य की समन्वयात्मक संज्ञा "संगीत है अत हम कह सकते हैं कि जहॉ संगीत है वहॉ ईश्वर है!

मूल्य आधारित भारतीय शास्त्रीय संगीत की जब हम चर्चा करते हैं तो सर्वप्रथम हमें भारतीय संगीत में मूल्य खोजने होंगे। क्या कारण है कि सामवेद से प्रारम्भ होकर आधुनिक समय तक हमारा भारतीय शास्त्रीय संगीत अपनी दिव्यता के साथ प्रतिष्ठित है। इसका एक मात्र कारण है इसके मूल्य ;टंसनमद्ध या महत्ता। भारतीय संगीत के मूल्य हैं- प्राचीनता, आध्यात्मिकता, सौंदर्य, दीर्घजीविता, सम्प्रेषणता परस्पर सम्वादिता और वैयक्तिकता आदि।

हमारी भारतीय शास्त्रीय संगीत कला प्राचीन समय से है। गुरू शिष्य परंपरा के अन्तर्गत एक से दूसरे को हस्तान्तरित होती आयी है। गुरू शिष्य परम्परा अनुशासित सुदृढ थी। यही परम्परा एक पीढी से दूसरी पीढी तक ग्रहण करते हुए आज तक पहुँची है। संगीतज्ञ गुरू व उनके योग्य शिष्यों की धरोहर आज हमारे पास है। हम उनके कृतज्ञ हैं।

भारतीय शास्त्रीय संगीत का पतन हुआ है लेकिन वर्तमान समय में संगीत का शास्त्रीय पक्ष जहॉ एक ओर काफी प्रबल हुआ इसके कियात्मक पक्ष में वहीं तीव्रता से गिरावट आयी। आज प्रतिभाओं की कमी नहीं अपितु अभ्यास का है। घराना संगीत ने जिस तरह अभ्यास परम्परा पर बल दिया था, विद्यालय, संगीत शिक्षण संस्थानों और आज की चकाचौंध वातावरण ने इसकी कमर ही तोड़ दिया है।

संगीत की निश्चय ही एक अटूट परम्परा है लेकिन उसके अन्दर लगातार परिवर्तन होते रहे है संगीत परिवर्तनशील था और रहेगा क्योंकि समय का प्रभाव तो हर व्यक्ति, कलाकार, संगीत संस्था पर हमेशा से पड़ता रहा है। स्वाभाविक हैं कि संगीत घरानों में संगीत तथा संगीत शिक्षा के प्रति जो समर्पण भाव पूर्व में था, उसमें अब वो प्रबलता नहीं है।

बाहर के देशों में हमारे शास्त्रीय संगीत का बोलबाला है। इंडियन क्लासिकल म्युजिक कलाकारों को दूर देशों में बेइन्तहा प्यार मिल रहा है पर अपने देश में "जहॉ शास्त्रीय संगीत एक धरोहर मानी जाती है शास्त्रीय संगीत का वर्तमान दौर बेहद दुखद है विडम्बना यह है कि तमाम अकादमियों व संगीत संस्थाओं के रहते और करोडों रूपया बहाने के बाद भी हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत का स्तर लगातार गिर रहा है !

आज संगीत की सबसे बडी समस्या व्यावसायिकरण है जो हमारे शास्त्रीय संगीत की महत्ता के पतन का सबसे बडा कारण है बाजार मे तगड़ी प्रतिस्पर्धा के कारण यह और बढ गया है जहॉ आज फिल्मी संगीत का जादू हर नए संगीत

शोध छात्र, बी.आर.अंबेदकर बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

Scanned with OKEN Scanner

साधक पर पड़ रहा है जिसकी ग्लैमरस भरी दुनिया उनके मन मस्तिष्क पर छाया हुआ है जिसके कारण हमारे भारतीय शास्त्रीय संगीत की मूल्य शिक्षा की वास्तविकता पर गहरी काली छाया पड रही हे जिससे हमारे भारतीय शास्त्रीय संगीतकारों तथा संगीत को सच्चा और गहरा होने से रोक दिया है !

कला का लक्ष्य आनन्द प्राप्ति तो है ही, समाज को शिक्षित करना (समाज में संगीत को सही ढंग से प्रस्तुत करना) भी एक महत्वपूर्ण लक्ष्य है, क्योकि आज के समय में संगीत के क्षेत्र में मीडिया व ग्लैमर के चक्व्यूह में युवा प्रतिभा फंसती जा रही है। कहने का तात्पर्य है कि सफलता का कोई शॉर्टकट नहीं है। इसे दीर्घ साधना से ही पाया जा सकता है। इस कारण कला को मूल्यविहीन करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। विशेषतः युवा वर्ग, छात्रों, शोधार्थियों को इस हेतु विशेष चिंतन व प्रयास करना होगा। क्योंकि आज के युवा संगीतकारों पर ही कल का भारतीय संगीत टिका हुआ है। अतः कुछ अपने विचार प्रस्तुत कर रहा हूँ।

- भारतीय संगीत का सही मूल्यांकन करना होगा, इसकी प्राचीनता, सुन्दरता व प्रविध उद्देश्य की रक्षा करनी होगी।
- शोधार्थी *'शोध'* को औपचारिकता न समझे, इस हेतु से शास्त्रध्ययन कर विभिन्न बिन्दुओं पर चर्चा, चिंतन, मनन करें।
- अधिक से अधिक विद्या प्राप्त कर अर्न्तराष्ट्रीय स्तर पर भारतीय संगीत को प्रतिष्ठित करने का प्रयास करें।
- संगीत को बढाने के लिए परम्परा और प्रयोगो का सृजनात्मक मेल करना होगा
- सृजनात्मक चुनौतियों से लड़ने की क्षमता छात्रों में पैदा करना होगा न कि सुविधाजनक रूप से यश और धन कमाना!

तभी भारतीय संगीत का सच्चा विकास होगा।

Scanned with OKEN Scanner

संगीत में गुरूशिष्य परम्परा

*डॉ. रवि पंडोले
**डॉ. बाबूलाल सिंह

संगीत में गुरू शिष्य परम्परा का अर्थ है किसी संगीत "गुरू" (विद्वान) द्वारा विशेष शैली में प्रवर्तित कला का उसी शैली या रीति से अपने विद्यार्थियो के माध्यम से उसका विकास प्रचार एवं प्रसार।

सांगीतिक अर्थ में कलाकारों की उस परम्परा का यह द्योतक जिसमें किसी गुरू के शिष्यों-पट्शिष्यों में उसके कलागत वैशिष्ट्य शैली स्वरोच्चार आदि तत्व परिलक्षित होते हैं। भारतीय संगीत में घरानेदार कलाकारों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। राग एवं ताल के स्वरूपों का व्यवहार ये कलाकार अपने गुरूओं की मान्यताओं के अनुसार करते हैं।

सन् 1857 के विप्लव के उपरांत भारत शासन व्यवस्था अंग्रेजों के हाथ में आ गई। इससे भारतीय राज्यों के राजाओं और नवाबों में स्वशासन की भावना जागृत हुई। इसके परिणामस्वरूप आगरा, जयपुर, किराना, बनारस, लखनउ, दिल्ली, पटियाला, ग्वालियर, रीवा, मैहर आदि के शासकों ने विशिष्ट संगीतकारों को प्रशिक्षण देना आरंभ किया। इसी प्रकार कुछ जमींदारों तथा धनाढ्य व्यापारियों ने कलाकारों को काम दिया। इस प्रकार के कलाकार तथा संगीतकार उन नगरों तथा राज्यों में स्थायी रूप से बस गये और उन्होंने उन नगरों तथा राज्यों के अपने शिष्यों तथा आगामी संतति के लिये संगीत के जो विद्यालय कायम किये उनका नाम घराना रखा गया। संगीत शिक्षा प्रणाली चार मठों की पद्धति पर निर्भर थी, यह चार मठ थे - शामेश्वर मठ, भरत मठ, काशीनाथ मठ और हनुमान मठ।

जब कोई गायक, वादक एवं नर्तक, श्रेष्ठ गुरू के संरक्षण में रहकर निरन्तर रीति के साथ संगीत की साधना करता है और उसकी साधना परिपक्वता को प्राप्त होती है तो उसमें एक नवीन एवं स्वतंत्र संगीत का निर्माण होता है उसकी कला पर उसके अपने व्यक्तित्व की छाप पड़ती है। यह परम्परा निरन्तर शिष्यानुरूप चलती रहती है। गायन, वादन एवं नृत्य निर्माण की इस पद्धति को "घराना" नाम से जाना जाता है।

संगीत की विशेषता है कि तालों, रागों के स्वर सब घरानों में समान होने पर भी उन स्वरों के प्रयोग करने की विधि, आवाज लगाने का तरीका, राग को बढ़त करने का तरीका, ताल-वाद्य बजाने का तरीका, नृत्य करने का तरीका अलग-अलग है।

संगीत के घराने

ग्वालियर, आगरा, दिल्ली, जयपुर, किराना, पटियाला, बनारस, मैहर, रीवा,।

ग्वालियर घराने के जन्मदाता शास्त्रों के अनुसार नत्थन पीरबख्श माने गये थे। इस घराने की विशेषता–

1. जोरदार तथा खुली आवाज का गायन,
2. ध्रुपद अंग के ख्याल,
3. ख्याल गायकी का प्रयोग,
4. सीधी-सपाट तानें,
5. बोल तानों में लयकारी आदि।

* सहायक प्राध्यापक, संगीत विभाग, शासकीय एम.एल.बी. महाविद्यालय, भोपाल
** अतिथि व्याख्याता, संगीत विभाग, शासकीय एम.एल.बी. महाविद्यालय, भोपाल

Scanned with OKEN Scanner

आगरा घराने के जन्मदाता हाजी सुजान साहब थे, तथा अलखदास मलूकदास इस घराने के प्रवर्तक माने जाते थे। विशेषता -

1. नोम-तोम में आलाप,
2. खुली और जोरदार आवाज,
3. बोलतानों पर अधिकार,
4. ख्याल गायकी के साथ-साथ ध्रुपद धमार गायन।

दिल्ली घराना के जन्मदाता तानरस खाँ शास्त्रों के अनुसार माने जाते थे। विशेषता -

1. ख्यालों की कलापूर्ण बंदिश,
2. जोड़-तोड़ की तान, झूला की तान,
3. द्रुतलय में तानों का प्रयोग,
4. ताल और लय पर अधिकार।

जयपुर घराने की विशेषताएं -

1. आवाज बनाने की स्वतंत्र शैली,
2. खुली आवाज में गायन,
3. गीत की संक्षिप्त बंदिश,
4. ख्याल गायन की विशेष बंदिश,
5. वक्रतानों तथा आलाप व छोटी तानों से बढ़त।

प्राचीन काल में गुरूकुल शिक्षा की परम्परा थी। गुरू अपने शिष्य को प्रत्यक्ष रूप से शिक्षा देते थे। शिष्य को गुरूकुल में रहकर किसी विषय की शिक्षा के साथ-साथ आचार-विचार, रीति, नियम आदि के अनुशासनात्मक शिक्षा दी जाती थी। वैदिक काल में जब शिक्षा केवल मौखिक रूप में दी जाती थी। एक-एक गुरू के पास निश्चित संख्या में शिष्य शिक्षा प्राप्त करते थे। उन शिष्यों में से सर्वश्रेष्ठ शिष्य को गुरू के पास उस आश्रम या गुरूकुल में रहकर उसी परम्परा के अनुसार अपने शिष्यों को पढ़ना पड़ता था।

400 वर्ष ईसा पूर्व के काल में लिखे गये ऋषि प्रतिशाख्य के शिक्षा ग्रंथों में संगीत की प्रत्यक्ष प्रायोगिक शिक्षा का गुरू शिष्य परम्परा के आधार पर दिये जाने का उल्लेख है।

भरत का ग्रंथ नाट्य शास्त्र हमारी प्राचीन संगीत की जानकारी का साधन है। नारद, तंडु, स्वाती (पुराण व महाभारत में उल्लेखित) तुम्बरू आदि को भरत के पूर्व आचार्य के रूप में माना जाता है। भरत के ब्रह्म-मत एवं सदाशिवमत परम्परा से स्पष्ट होता है कि उस काल में भी गुरू शिष्य परम्परा के आधार पर संगीत का विकास हुआ होगा। नाट्य शास्त्र के 23-28 अध्यायों में संगीत के गायन, वादन और नृत्य में गुरू शिष्य परम्परा का उल्लेख है। 13-14 वीं सदी के लगभग दक्षिण भारत में भी शिष्य परम्परा अनुसार गीत, वाद्य, नृत्य की शिक्षा प्रचलित थी।

प्राचीन एवं मध्य काल में भी गुरू शिष्य परम्परा संगीत का विकास मत, परम्परा, सम्प्रदाय आदि के रूप में होता रहा।

संगीत के गुरू शिष्य परम्परा वंश परम्परागत शिक्षा का प्रचार-प्रसार 14 वीं सदी के बाद मुस्लिम काल में हुआ होगा। मुस्लिम एवं मुगल बादशाहों के दरबारों एवं राजाओं के दरबारों में संगीत द्वारा बादशाहों के मनोरंजन के लिये गायन, वादन एवं नृत्य करने वाले कलाकारों को आश्रय मिलता था। आश्रय प्राप्त कलाकारों के परिवार की जीविका इसी से चलती थी। इस प्रकार के रागों का जो श्रृंगार युक्त गीत वादन एवं नृत्य करके राजाओं को अपनी कला से संतुष्ट कर सम्मान पाते थे।

राजदरबारों में स्थान पाने के लिये कलाकार लोगों में प्रतिस्पर्धा की भावना उत्पन्न हुई। इस कारण विशेष स्थान प्राप्त कलाकार अपने बाद में उस स्थान पर अपने वंशजों को आसीन कराना चाहते थे। ऐसे विशिष्ट लोगों द्वारा अपने वंश के लोगों को ही वंश परम्परागत शिक्षा देना प्रारम्भ किया गया तथा इस प्रकार ऐसी शिक्षा को राजघरानेदार शिक्षा कहा जाने लगा।

मोहम्मद शाह रंगीले (1719 से 1740) मुगल वंश के अंतिम बादशाह हुये। बादशाह स्वयं संगीत के ज्ञाता होकर संगीत के प्रेमी थे। इनके दरबार में हिन्दू एवं मुस्लिम कलाकारों को आश्रय प्राप्त हुआ। इसी काल में अन्य राजे-महाराजाओं ने भी कलाकारों को अपने-अपने दरबारों में राजाश्रय देना प्रारम्भ किया। इस प्रकार पुनः गुरू-शिष्य परम्परा के द्वारा

संगीत का विकास प्रारम्भ हुआ। रीवा नरेश महाराजाधिराज जूदेव रामचन्द्र सिंह जी संगीत के पारखी थे।

तानसेन जैसे महान संगीतज्ञ को अपने दरबार में आश्रय व विशेष ओहदा देकर रीवा दरबार में संगीत को सम्मान दिया। इसी तरह आधुनिक युग में मैहर में उस्ताद बाबा "अलाउद्दीन खाँ" विश्व में गुरू-शिष्य परम्परा का एक उदाहरण है, उनके शिष्यों में भारत रत्न उपाधि से सम्मानित पं. रविशंकर, उस्ताद अली अकबर खां आदि अनेक शिष्यों ने मिसाल कायम किया है। इसी श्रृंखला में स्व. डॉ. अनत कुमार बनर्जी, श्री निखिल बनर्जी, डॉ. रणजीत कुमार बनर्जी तथा डॉ. शोमकार्तिक शर्मा आदि अनेक शिष्य हैं।

गुरू शिष्य परम्परा पर आधारित शिक्षा प्रचार में आई। इसी काल में गुरू शिष्य परम्परा द्वारा दी जाने वाली शिक्षा में वंशज, हिन्दू, मुसलमान, उच्च वर्ग, निम्न वर्ग आदि भेद नहीं रह गया था। तबला वाद्य के घरानों में दिल्ली, अजराड़ा, लखनऊ, फरूखाबाद, बनारस, पंजाब, पटियाला, आगरा, किराना घराने प्रमुख हैं। पखावज के घरानों में जावली, घराना, कुदऊ सिंह घराना, नाना पानसे घराना, नाथ द्वार घराना, मंगल वेढेकर घराना, पंजाब घराना है। कत्थक नृत्य के रायगढ़, बनारस घराना, लखनऊ घराना, जयपुर घराना है।

गुरू शिष्य परम्परा में जिस प्रकार समाज में कोई व्यक्ति अपने वंश या खानदान का नाम ऊँचा उठाने का प्रयास करता है, उसी अनुसार किसी घराने के गुरू एवं शिष्य उस घराने की विशेष शैली में अभ्यास करने गुरू एवं घराने का नाम ऊँचा रखने का प्रयास करते हैं।

गुरू शिष्य से कठिन साधना करवाते थे। शिक्षा इसलिये दी जाती थी कि कहीं भी कोई कमी न रह पाये। शिष्य को अनुशासनबद्ध होकर रहना पड़ता था, एवं गुरू के कथनानुसार ही अभ्यास करना पड़ता था। अपने विशेष प्रकार के शैली में शिष्य पारंगत हो जाते थे।

"गुरू" अपने साथ कला प्रदर्शन के समय शिष्यों को अपने साथ बिठाता था एवं बीच-बीच में उन्हें कला प्रस्तुत करने का मौका देता था। इस समय गुरू को ज्ञान हो जाता था कि शिष्य स्वतंत्र रूप से कला प्रदर्शन करने में सक्षम है या नहीं।

भारतीय शास्त्रीय संगीत पद्धति की अपनी विशेषता है, उस पद्धति पर भी आज की संस्थागत शिक्षण प्रणाली का प्रभाव पड़ा है। वह संगीत शिक्षा प्राप्त करने की श्रृंखला जो कि परम्परागत रूप से चली आ रही थी, महाविद्यालयों में संगीत शिक्षा में प्रवेश से उसमें कुछ परिवर्तन आया है। इसके अतिरिक्त तकनीकी पद्धति के साथ ही शिक्षा पद्धति की इस प्रणाली पर कुछ प्रभाव पड़ा। जहां हम एक ओर अच्छा मान सकते हैं, वहीं दूसरी ओर इससे घरानेदार पद्धति का ह्रास भी हुआ।

अन्त में कहा जा सकता है कि गुरू-शिष्य परम्परा में गुरू शिष्य अथवा उस्ताद, शागिर्द संबंध शुद्ध और पवित्र होता था, उससे कोई व्यक्तिगत लाभ या स्वार्थ का कोई भी भाव नहीं होता था। गण्डा बाँधने और बँधवाने की रस्म में भी एक शुद्ध धार्मिक भावना होती थी। गुरू बाध्य था अपनी विद्या को स्वीकार और ग्रहण कराने के लिए शिष्य स्वयं एक सुपात्र बने। इस पवित्र पारस्परिक सम्बन्ध में प्राचीन आश्रय की शिक्षा की पवित्र भावना का अंश भी था। दर्शन, धर्म, आध्यात्म, ध्यान साधना, कला ज्ञान, गूढ़ विद्या, इन सबकी शिक्षा इस प्रकार गुरू शिष्य को देता था और शिष्य उसका अध्ययन और मनन करता था, यही थी प्राचीन काल की शिक्षा-पद्धति।

लेकिन आजकल गुरू शिष्य परम्परा का महत्व न देते हुए पहले जैसे कठिन साधना, सात्विक भावना से गुरू-शिष्य का रिश्ता जुड़ता है, उसका आज के परिवेश में उपहास जैसा हो गया है और शिष्य कम समय में अपनी प्रतिभा दिखाने के लिए भटकने लगता है और अपना आगे का रास्ता अवरूद्ध कर देता है और यह संगीत समाज में जहर के रूप में फैलता जा रहा है और गुरू शिष्य परम्परा कलंकित करने में योगदान दे रहा है।

Scanned with OKEN Scanner

संस्थागत संगीत शिक्षा की सार्थकता : एक आलोचात्मक अध्ययन

रंजना गिरि

हमारा भारतीय शास्त्रीय संगीत हमारे सांस्कृतिक धरोहर का प्रमुख आधार रहा है। जिसका पालन-पोषण सर्वदा से ही 'गुरू-शिष्य परंपरा' के अधीन होता रहा है। कारण, यह एक क्रियात्मक विषय है, जिसमें प्रस्तुतिकरण का विशेष महत्व है। कहने को तो हमारे यहां मात्र सात स्वर ही है लेकिन इन सप्त स्वरों पर ही संगीत का विशाल साम्राज्य आधारित है और इस विशाल संगीत रूपी सम्राज्य में प्रवेश कराने व मार्ग निर्देशित करने का महत्वपूर्ण कार्य गुरू का ही होता है।

संगीत पूर्ण रूप से गुरूमुखी विद्या रही है, जिसमें एक योग्य गुरू अपने सम्यक ज्ञान, कड़ी साधना एवं उचित मार्गदर्शन के द्वारा इस अमूलय सांगीतिक धरोहर को योग्य शिष्य को सौंपतें आ रहे हैं, जिसके फलस्वरूप यह संगीत की निर्मल धारा अविरल रूप से बहती आ रही है और दिनोंदिन उसका विकास होता रहा है।

सामवेद से मुखरित इस अनूठी विद्या का विकास प्रत्येक कालखण्ड में होता रहा है परंतु इसका वर्तमान स्वरूप मध्यकाल में संगीत के चतुर्मुखी विकास एवं उन्नति का प्रतिरूप है क्योंकि मध्यकाल में मुसलमानों के आगमन एवं शासन-काल में संगीत और अधिक परिमार्जित एवं परिष्कृत होकर सामने आया। किन्तु इसके अंतिम चरण में अंग्रेजों के आगमन एवं उनके शासनकाल में अंतिम चरण तक संगीत मुख्यतः पतनोन्मुखी हो गया और इसका मुख्य कारण था, भारतीय संस्कृति एवं कलाओं को अपेक्षित प्रोत्साहन एवं संरक्षण न मिला। जिसके फलस्वरूप यह दैवीय विद्या आमजन से दूर होती गयी और समाज के उस तबके तक सीमित हो गयी, जिसको समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता था, और जो थोड़ा बहुत बचा था वो घरानों की मिल्कियत बन चुकी थी। और जहां आम लोगों की पहुंच नहीं थी। संगीत को घराने के संकुचित दायरे से मुक्त कराना था जन-जन को सुलभ करना ही संगीत की संस्थागत शिक्षण प्रणाली का मूल उद्देश्य था। इस उद्देश्य से प्रेरित हो, महान कला प्रेमी एवं संरक्षक श्रीमन्त सर सयाजी गायकवाड़ बड़ौदा ने इस देश में संगीत के प्रथम विद्यालय की स्थापना बड़ौदा नगर में फरवरी 1886 में की।[1]

इसके पश्चात् लाहौर में गान्धर्व महाविद्यालय (सन 1913) ग्वालियर का माधव संगीत महाविद्यालय (सन 1918) लखनऊ का मैरिस कालेज ऑफ म्यूजिक (सन 1925) तथा पुणे का "भारत गायन समाज" अस्तित्व में आया जहां पर संगीत शिक्षा का आरंभ हुआ। किन्तु पं॰ विष्णु दिगम्बर पलुस्कर एवं विष्णुनारायण भातखण्डे जी के सराहनीय प्रयास एवं अमूल्य योगदान ने संगीत को शिक्षा के क्षेत्र में एक नई दशा एवं दिशा प्रदान की। इन विष्णुद्वय के अथक प्रयासों से संगीत की संस्थागत शिक्षा पद्धति के अंतर्गत सामूहिक रीति से संगीत की शिक्षा प्रदान की जाने लगी।

आधुनिक युग में संगीत का व्यापक रूप से प्रचार एवं प्रसार हुआ है। वर्तमान समय में विद्यालयों एवं महाविद्यालयों में अन्य विषयों के साथ संगीत की सामूहिक शिक्षा सर्वसुलभ हुई जो कि लोकतंत्र

शोध छात्रा, गायन विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

Scanned with OKEN Scanner

की मांग थी। आज विद्यालयों एवं महाविद्यालयों में संगीत की तीनों विधायें-गायन, वादन एवं नृत्य पृथक विषयों के रूप में सम्मिलित है जहां सुचारू से संगीत की कक्षाओं का संचालन होता है।

संस्थागत संगीत शिक्षा से सबसे मुख्य लाभ जो हुआ इसके फलस्वरूप आज किसी विद्यार्थी को संगीत सीखने के लिए गुरू के घर रहकर उनकी सेवा करने की बाध्यता नहीं है प्रत्येक विद्यार्थी अपनी रूचि एवं क्षमता के अनुसार विद्यालय अथवा संस्था का चयन कर सकता है और एक निश्चित फीस भरकर संगीत की शिक्षा प्राप्त करता है।

परंतु साथ ही यह भी स्पष्टतः देखा जा सकता है कि संस्थागत संगीत शिक्षा का वर्तमान स्तर दिनोंदिन गिरता जा रहा है जो कि एक गहन चिन्ता का विषय है।

मैं अपने शोध पत्र के माध्यम से लोगों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करना चाहूंगी कि इतनी सुविधाओं के बावजूद आखिर संगीत के स्तर में दिनोंदिन गिरावट क्यों आ रहा है? इतनी बड़ी संख्या में संगीत के विद्यार्थी होने के बाद भी उत्कृष्ट कलाकारों की कमी दिनोंदिन क्यों होती जा रही है? जिस महान उद्देश्य के लिए हमारे संगीतज्ञ पूर्वजों ने संस्थागत संगीत शिक्षण प्रणाली की नींव डाली थी जो आज कुछ कमजोर सी पड़ने लगी है।

आगे शोधपत्र में इन्हीं बिन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है।

आज देश में सगीत शिक्षण की तीन विधियां प्रचलित है-

1. प्राचीन गुरू शिष्य परंपरा (घराना पद्धति)
2. संगीत की एकमात्र शिक्षा प्रदान करने हेतु विद्यालय
3. सामान्य शिक्षण संस्थाओं में विभिन्न विषयों के पाठ्यक्रम में विषय की भांति संगीत शिक्षा।

जैसा कि यह सर्वविदित है कि गुरू शिष्य परंपरा की अपेक्षा संस्थागत शिक्षण पद्धति वर्तमान युग में विशेषता बन गयी है। आज संगीत की एकमेव शिक्षा हेतु जहां देश के लगभग हर नगर के संगीत विद्यालय प्रारंभ हो चुके हैं, विश्वविद्यालयों में संगीत संकाय अथवा विभाग कार्यरत हैं, वहीं लगभग सभी प्रांतों में माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में भी संगीत को एक विषय के रूप में समाविष्ट होने से संगीत के विद्यार्थियों की संख्या में काफी बढ़ोत्तरी हुई है, तथापि उनमें मंच पर गायन प्रस्तुति करण की क्षमता नही आ पाती। अधिक से अधिक वे इस प्रणाली के अनुकूल शिक्षक बन जाते हैं। इस शिक्षा प्रणाली में व्याप्त कमियों के मूल में जाने पर कुछ विशेष बातों की जानकारी प्राप्त होती है।

1. वर्तमान संस्थागत संगीत शिक्षा के कार्यरूप का यदि पूर्ण अवलोकन करें तो ज्ञात होगा कि शिक्षा कार्यक्रमों में संगीत विषय को सामान्य शिक्षा के पाठ्यक्रमों में स्थान नहीं दिया गया है। अनेक शिक्षाविदो की दृष्टि में संगीत विषय आज भी एक ऐसा विषय है, जिसे सामान्य शिक्षा अन्य विषयों की भांति शिक्षा के अभिन्न अंग के रूप में स्वीकार नही किया गया है। जब कभी भी किसी भी कारण से सामान्य शिक्षा के पाठ्यक्रम से किसी विषय को कम करने का प्रश्न उठता है तो सबसे पहले संगीत विषय को फालतू विषय समझकर छोड्य दिया जाता है।

2. सेकेण्डरी स्कूलों में संगीत के विद्यार्थियों की संख्या अन्य विषयों के विद्यार्थियों की अपेक्षा काफी कम होती है क्योंकि ऐसी धारणा है कि जो विद्यार्थी साइंस, अंग्रेजी गणित इत्यादि विषयों में कमजोर है वहीं संगीत ले सकता है क्योकि संगीत में मेहनत की जरूरत नहीं होती है।

3. संगीत का श्रुटिपूर्ण पाठ्यक्रम भी संस्थागत संगीत शिक्षा के गिरते स्वर का प्रमुख कारण है। प्रथम वर्ष में ही जहां विद्यार्थियों को स्वरों का ठीक से ज्ञान भी नहीं होता उनके समक्ष 5-6 रागों को सीखने की चुनौती होती है। जिसमें कि विद्यार्थी रागों को भली भांति सीखना तो दूर एक राग भी ठीक से नहीं गा पाते।

4. कुछ संगीत शिक्षक भी संस्थागत पद्धति के गिरते स्तर का कारण है। माध्यमिक या उच्चतर माध्यमिक विद्यालय में कार्यरत अधिकतर शिक्षकों की शैक्षणिक योग्यता हाईस्कूल या इंटर के समकक्ष होती है वे बस किसी तरह से लचीले चयन प्रणाली के कारण शिक्षक तो बन गए हैं, किन्तु संगीत के

Scanned with OKEN Scanner

प्रति अपनी जिम्मेदारियों से विमुख होते दिखाई पड़ते हैं।

5. पं॰ विष्णु दिगम्बर जी ने छात्रों के पाठन के लिए सन 1901 ई॰ में पाठ्यक्रम तैयार किया। उस पाठ्यक्रम में उन्होंने इस बात पर बल दिया कि छात्रों को स्वरलिपि के अनुसार पढ़ाया जाए। पं. भातखण्डे जी ने भी संगीत के छात्रों के लिए विशिष्ट घरानों में प्रचलित गीतों को स्वरलिपि बद्ध किया। किन्तु अब स्कूल तथा कॉलेजों में स्वरलिपि के अनुसार नहीं सिखाया जाता। स्वरलिपि वाली पुस्तकें प्राप्त है किन्तु फिर भी पुरानी चली आ रही परंपरा और उदाहरण के द्वारा से काम चलाया जा रहा है। यदि कोई स्वरलिपि होती भी है तो उसका संक्षेपीकरण उन्हें नहीं बताया जाता है और ना ही उनका आभास कराया जाता है।2

6. मा॰शि॰प॰ ने माध्यमिक विद्यालयों में संगीत की परीक्षा के अंतर्गत क्रियात्मक परीक्षा को समाप्त कर, संगीत की संस्थागत शिक्षा प्रणाली को गर्त में ढकेलने में अपनी अहम भूमिका निभाई है क्योंकि बोर्ड की परीक्षा में क्रियात्मक प्रदर्शन के न होने से विद्यार्थी गायन से प्रति उदासीन होते गए। वे संगीत संबंधी शब्दावली एवं स्वरलिपि को बाकी विषयों की तरह से रट कर पास होने लगे। कभी-कभी तो खराब गानेवाला ही रटकर अच्छे नंबर प्राप्त कर लेते हैं जिससे संगीत के स्तर में गिरावट आनी शुरू हो गयी।

7. संस्थागत पद्धति के अंतर्गत माध्यमिक विद्यालयों में संगीत के संसाधनों का अभाव देखा जाता है। कहीं संगीत कक्ष नहीं है अगर है भी तो हारमोनियम तानपूरा और तबला नहीं है और है भी तो इस अवस्था में नहीं होते कि उनका सदुपयोग किया जा सके।

8. कहीं-कहीं तो चकित कर देनेवाली बात ये दिखती है कि जहां पर गायन का विषय और विद्यार्थी है वहां पर तबला से संबंधित शिक्षक गायन पढ़ा रहा है ऐसे विद्यालय और विद्यार्थियों का क्या हश्र होता है इसे आसानी से समझा जा सकता है।

मेरे विचार से (जो कि विभिन्न संस्थाओं के शिक्षको एवं कलाकारों से विचार विमर्श के बाद) संगीत की संस्थागत शिक्षक प्रणाली का प्रथम पड़ाव माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक विद्यालय है, जहां से उतीर्ण होकर छात्र-छात्राएं महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में आते है जहां पर कि उन्हें काफी कठिनाई का सामना करना पड़ता है क्योंकि उनकी प्रारंभिक शिक्षा उस ढंग से नहीं होती है जिसके वे अपेक्षित होते है।

अतः इस माध्यमिक विद्यालयों में सुझावों के तौर पर कुछ बिन्दुओं की चर्चा करना चाहूंगी।

1. माध्यमिक विद्यालय में संगीत के पाठ्यक्रम के अंतर्गत एक वर्ष में दो या तीन ही राग होने चाहिए। विद्यार्थियों को ज्यादा से ज्यादा आलापचारी, रियाज करने का ढंग और बंदिश को ठीक ढंग से गाना ही बताना चाहिए जिससे कि वे एक वर्ष में एक या दो राग भली भांति गा सके।

2. संगीत शिक्षक का दायित्व है कि वह संगत वाद्यों के साथ ही कक्षा का संचालन करें। बिना संगत वाद्यों के संगीत के विद्यार्थियों को शिक्षा में पूर्णता नहीं आ पाती वह लय से तालमेल करने में सदा असफल रहते हैं।

3. आज जो सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि आज हर कोई भौतिकता की अंधी दौड़ में शामिल होना चाहता है लेकिन एक संगीत शिक्षक की यह भूमिका होती है कि जिस उद्देश्य की पूर्ति के तहत वह पद पर आसीन है उसे अपने लक्ष्य से भटकना उचित नहीं है।

4. आज हर कोई फिल्म संगीत एवं पाश्चात्य संगीत के पीछे पागल हो रहा है। संगीत के विद्यार्थी भी कोर्स से हटकर फिल्म एवं पाश्चात्य गीतों को गाना अधिक पसंद कर रहे है। अतः एक संगीत शिक्षक का परम कर्तव्य है कि वे इस बदलाव को इसके प्रति प्रेरित करे जिससे कि उनके मन में अपने संगीत के प्रति रूचि पैदा हो और वे पूरी लगन के साथ सीखे और गाये।

5. जैसी की आज ये धारणा बन गयी है कि संख्यागत संगीत शिक्षण पद्धति को अपनाकर कोई मंच कलाकार नहीं बन सकता इस धारणा को बदलने में संगीत शिक्षक अपनी अहम भूमिका निभा सकते है। विद्यालय में समय समय पर आयोजित होनेवाले सांस्कृतिक कार्यक्रमों में शास्त्रीय

Scanned with OKEN Scanner

संगीत के कार्यक्रम का आयोजन किया जा सकता है जिसमें संगीत के विद्यार्थियों द्वारा किसी राग की रंजकपूर्ण प्रस्तुति करायी जाए इससे एक तो विद्यार्थी की रियाज के प्रति रूचि बढ़ेगी और लोगों को इस कला के प्रति रूझान बढ़ेगा।

इस प्रकार से अगर इन बिन्दुओं पर अमल किया जाए तो निःसंदेह आज नहीं तो कल इस दिशा में जरूर से सार्थक परिणाम सामने आयेंगे। तभी ये संस्थागत संगीत शिक्षण पद्धति अपनी प्रभावपूर्ण कार्यशैली के द्वारा संगीत के विकास व संरक्षण में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभायेगी।

सन्दर्भ सूची

1. कॉलेज ऑफ इंडियन म्यूजिक, बड़ौदा द्वारा सन 1956 में प्रकाशित स्मारिका से उद्धरित - द्वारा 'संगीत की संस्थागत शिक्षण प्रणाली' - अमरेश चन्द्र चौबे, पृ. 24
2. भारतीय संगीत भाग द्वितीय (1901ई. से 1986 ई. तक) रामअवतार वीर संगीताचार्य पृ. 260
3. हमारा आधुनिक संगीत - डॉ. सुशील चौबे।
4. संगीत - मासिक पत्रिका का अभिन्न अंक।

Scanned with OKEN Scanner

समायोजन एवं संगीत : एक अध्ययन

दीनानाथ मिश्र

आज के इस तनावपूर्ण परिवेश में सभी लोग तनावमुक्त रहना चाहते हैं, और उनकी यह कोशिश भी जायज है, क्योंकि बिना उपयुक्त समायोजन के व्यक्ति, घर, समाज, पेशा, किसी भी जगह सफलता नहीं प्राप्त कर सकता है। इस अभूतपूर्व समायोजन में संगीत का भी महत्वपूर्ण योगदान प्रतीत होता है।

समायोजन जिसे अंग्रेजी में Adjustment कहा जाता है। जिसका शाब्दिक अर्थ है - उपयुक्त होना, उचित होना, अनुकूल बनाना, व्यवस्थित करना, सुधारना तथा अनुरूप होना।

समायोजन उपयुक्त, दुरूस्त, हितकारी अथवा स्वास्थकर उस हद तक होगा, जब तक वह अपनी अवस्थाओं, परिस्थितियों और व्यक्तियों के बीच समन्वित संबंध स्थापित करता है, जो उसका भौतिक और सामाजिक वातावरण होता है। (An individual's adjustment is adequate, wholesome or healthful to the extent that he has established harmonious relationship between himself and the Conditions, sitituation, and Persons who comprise his physical and social environment.)

वातावरण के साथ प्रभावी ढंग से व्यवहार करना ही समायोजन कहलाता है। मनुष्य अत्यधिक विवेकशील प्राणी है, जिसका निर्धारण बुद्धि से होता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार बुद्धि, व्यक्तित्व तथा सीखना इन महत्वपूर्ण घटकों में भी समायोजन का महत्वपूर्ण भूमिका होता है। इन कारकों के अभाव में व्यक्ति निष्क्रिय हो जाता है। इन कारकों के कारण व्यक्ति अपने जीवन के कठिन से कठिन चुनौतियों का सरलतापूर्वक संपादन कर पाता है। मनोविज्ञान का विषय वस्तु प्राणी है, और प्राणी का प्रमुख कुशलता समायोजन है और समायोजन में संगीत का भी काफी महत्व है।

संगीत जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सभी व्यक्तियों को पसंद लगता है, कोई इसे व्यक्त करता है तो कोई अव्यक्त स्वरूप में ही आनंद लेता है। आज के इस सूचना प्रौद्योगिकी के परिप्रेक्ष्य में संगीत का व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ है। फिल्म, चित्रहार, सांस्कृतिक कार्यक्रम, भजन संध्या, महोत्सव, नाटक, सेमिनार में सेगीत का उपयोग काफी होता है। जिस कारण संगीत का व्यापक प्रचार-प्रसार हो चुका है। अक्सर लोग जब तनाव में होते हैं तो सिनेमा, टीवी, या संगीत के कार्यक्रम को देखकर अपना तनाव दूर करने का सफल कोशिश करते हैं। संगीत मानव को भाषा देने के साथ-साथ अनुभूतियों के विनियम में भी मदद करता है। प्राणी की उत्पत्ति सांगितिक परिवेश एवं सांगितिक तत्वों से परिपूर्ण होता है।

संगीत तथा समायोजन में अनुरूप संबंध है। जो व्यक्ति संगीत को जल्द समझ ले, या संगीत की क्षमता उसमें हो तो वह व्यक्ति समायोजन भी अच्छे ढंग से कर सकता है। जैसे एक सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ के बातों को सुनकर अनियंत्रित भीड़ भी नियंत्रित हो जाता है। जिस भीड़ को बहुतेरे पुलिस बल भी नहीं नियंत्रित या शांत कर पाते हैं, उस भीड़ को एक अच्छा कलाकार अपने निष्पादन से शांत कर देता है। इस तरह का समायोजनशीलता सिर्फ संगीत में ही संभव है।

शोधार्थी, मनोविज्ञान विभाग, ल.ना.मि.वि., दरभंगा

Scanned with OKEN Scanner

समाज में बढ़ती प्रतियोगिता की भावना, कम लगावों एवं आत्मकेन्द्रिता की प्रवृति के कारण लोगों में तनाव की समस्याएं देखी जाती है। इसका सामना करने के लिए समायोजन का होना अतिआवश्यक है। समायोजन में संगीत का स्वर संजीविनी का कार्य करता है।

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली, माता-पिता की अवास्तविक आकांक्षाएं के कारण भी बच्चे अपने जीवन में सफलतापूर्ण समायोजन नहीं कर पाते हैं। फलतः मानसिक रोग से ग्रस्त हो जाते हैं। परंतु संगीत का अभ्यास करने से मानसिक तनाव में काफी कमी होती है। इस तथ्य की पुष्टि अध्ययनों से होती है।

नर्तकों का शारीरिक संतुलन काफी उच्चकोटि का होता है, फलस्वरूप उनमें मोटापा, हृदय विकृति, मधुमेह होने की संभावना कम रहती है। शरीर संतुलित रहने से व्यक्ति अपना शैक्षिक कार्य, पेशेवर कार्य अच्छे ढंग से करता है, फलस्वरूप व्यक्तिगत जीवन में तथा संबंधित पेशा में उन्हें आशातीत सफलता प्राप्त होती है।

वहीं दूसरी ओर जिन लोगों का शरीर संतुलित या समायोजित नहीं रहता है, उन्हें घर, पेशा तथा सार्वजनिक स्थलों में काफी कठिनाई उठाना पड़ता है, फलस्वरूप उनका समायोजन खराब हो जाता है।

समायोजन में संगीत का प्रभाव किस तरह का पड़ता है, इसके लिए एक अध्ययन किया गया। दो समूह का चयन किया गया पहले समूह में 30 संगीत के कलाकार का चयन किया गया, तथा दूसरे समूह में विभिन्न पेशा से संबंधित 30 व्यक्तियों का चयन कर दोनों समूह के व्यक्तियों के समायोजन क्षमता को मापा गया। समायोजन के मापन हेतु बेल समायोजन आविष्कारिका का हिन्दी रूपांतरण मोहसिन शमशाद अभियोजन आविष्कारिका (1987) का संशोधित संस्करण (2001) के मदद से आंकड़ा प्राप्त किया गया, जिसमें चार वीमाओं में समायोजन क्षमता का मापन किया जाता है।

(A) पारिवारिक
(B) स्वास्थ्य
(C) सामाजिक
(D) संवेगात्मक

जिसें क्रमशः 31, 29, 32 तथा 32 प्रश्न के साथ कुल 124 प्रश्न होते हैं।

परिणाम से ज्ञात हुआ कि संगीत के कलाकारों का विभिन्न वीमाओं में समायोजन दूसरे पेशाओं के व्यक्ति से काफी अच्छा रहा। जिससे निष्कर्ष निकलता है कि समायोजन के क्षमता में संगीत का महत्व काफी अहम है। इस तरह उपरोक्त विश्लेषणों के आलोक में कहा जा सकता है कि समायोजनशीलता को विकसित करने में संगीत की भूमिका काफी महत्वपूर्ण है।

संदर्भ सूची

1. राज राजेश्वरी प्रसाद सिन्हा, प्रारंभिक मनोविज्ञान भाग-2,
2. पंडित विजय शंकर मिश्र, अंतर्नाद-सुर और साज,
3. पंडित विजय शंकर मिश्र, तबला पुराण,
4. मोहसिन समशाद, बेल व्यक्तित्व-अभियोजन आविष्कारिका (हिन्दी रूपांतरण),

Scanned with OKEN Scanner

काशी की नाट्य परंपरा

-महेन्द्र मिश्र

काशी में नाट्यकला के अस्तित्व का प्रमाण जातक युग से ही मिलने लगता है।[1] उस समय एक प्रकार के लोक रंगमंच का भी अस्तित्व था, जिसे "समज्ज मंडल" कहा जाता था। इसमें पेशेवर नट मुख्यतः संगीत मूल अभिनय करते थे। प्राचीन काल में शौकिया अभिनय की भी कुछ प्रथा थी, जिसका संकेत पुराणों से भी प्राप्त होता है। पेशेवर रंगकर्मियों के संरक्षकों के तीन वर्ग काशी में विद्यमान रहे है। धार्मिक, शैक्षिक एवं व्यापारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण नगर होने के कारण काशी के साथ राजन्य-वर्ग का सम्बन्ध निरन्तर बना ही रहा और कुछ आश्चर्य नहीं कि यहाँ के अनेक कलावंतों का उनको संरक्षण भी प्राप्त था।

काशी तीन प्रमुख धर्मों का केन्द्र रहा है-शैव, बौद्ध एवं जैन। बौद्ध और जैन धर्मों ने प्रचार की दृष्टि से नाट्य-आयोजनों को माध्यम बनाया था। शैव-मन्दिरों में भी उत्सवों पर नृत्य-नाट्य के आयोजन प्रायः होते रहे। व्यापार का केन्द्र होने के कारण काशी में बड़े-बड़े सेठ,महाजन भी रहा करते थे, ये लोग नृत्य,नाटक इत्यादि का आयोजन प्रायः करते रहते थे। गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद राजनीतिक अस्थिरता तेजी से बढ़ने लगी और स्थापित राज्य-सत्ता के उखड़ने के साथ कला-सौन्दर्य का राजकीय परिवेश भी टूटने लगा। फलस्वरूप रंगजीवियों को संरक्षण मिलना कम होने लगा, दूसरी ओर जनभाषा भी क्रमशः परिवर्तित होने लगी। राज्य-सत्ता के विकेन्द्रीकरण के कारण छोटे-छोटे राजा ओर सामन्तों ने दरबारों में जनभाषाओं को संरक्षण प्रदान किया। इस प्रकार बदलते हुए परिवेश ने भारतीय रंग जगत् में काफी हलचल पैदा की। कुछ रंगजीवियों ने परावर्तन की इस चुनौती को अस्वीकार भी किया और नये परिवेश में समायोजन द्वारा अपने अस्तित्व की रक्षा का प्रयत्न भी किया। उन्होंने अभिनय का सरलीकरण करने का प्रयास भी किया और जन-भाषाओं का प्रयोग भी शुरू कर दिया था।

12वीं शती की काशी में अनेक प्रकार के रंगजीवी थे।[2] जो मुख्यतः मनोरंजन द्वारा जीविकोपार्जन करते थे। इनलोंगो ने किसी न किसी रूप में नाटको में जनभाषा का प्रयोग आरम्भ कर दिया था, किन्तु इस्लामी आक्रमण ने इसे एकदम से बदलकर रख दिया था। बहुत से रंगजीवी सुदूर ग्रामीण अंचलों में चले गये और पहले से चली आ रही लोक नाट्यों की परम्परा में धुलमिल कर उसी प्रकार के रंग-प्रयोगो से अपने को सम्बद्ध कर लिया था। सभा श्रृंगार में इस तरह की इन जातियों का उल्लेख मिलता हैं स्वांग, तमाशा, भगत आदि जिन परम्परागत जन नाट्यों का वर्णन प्राप्त होता हैं, उनका अभिनय इन्हीं जातियों के रंगजीवी ही किया करते थे। काशी में इन जातियों की एक बड़ी संख्या निवास करती थी। अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए बहुत से रंगजीवी मुसलमान भी हो गये। इस समय 'भांड' नामक एक पारम्परिक अभिनय प्रणाली प्रचार में आई, उसे शासकों का प्रोत्साहन मिलने के कारण इसका विशेष विकास हुआ। विद्या के आधार पर इसके प्रदर्शनकारी रंगजीवी भी भांड या भाँड कहलाये, ये अधिकतर मुसलमान हो गये थे। धीरे -धीरे दरबारों में इनको काफी महत्व भी मिला था। काशी

शोध छात्रा, गायन विभाग, का.हि.वि.वि, वाराणसी,

में इन भाँडो की परम्परा मध्यकाल से आज तक चली आ रही हैं यद्यपि आज इसमें बहुत परिवर्तन हो गये है। प्रसिद्ध श्वेतांबर जैनाचार्य जिनप्रभु सूरि ने 14वीं शती में काशी की तीर्थयात्रा की थी। उस समय अन्य विद्याओं के साथ ही नाटक के भी उच्चकोटि के पण्डित इस नगर में निवास करते थे। चौदहवीं-पंद्रहवीं शती रामानंद, कबीर और रैदास की थी। इनमें 'विक्रांत कौरवम' नाटक में काशी का विशद वर्णन किया गया है। 15वीं शताब्दी में राघव भट्ट ने अभिज्ञान शाकुंतल की प्रसिद्ध अर्थद्योतनिका टीका काशी में ही लिखी। इस टीका में व्याख्या के साथ अभिनय-निर्देशन के संकेत भी दिये गये हैं।[3] इससे ज्ञात होता है कि उस समय भी परम्परागत शास्त्रीय अभिनय की प्रणाली काशी में सजीव थी।

16वीं शती काशी में रामलीला, कृष्णलीला, ध्रुवलीला, वामनलीला, नृसिंहलीला आदि का आरम्भ हुआ। तुलसीदास ने संसार को एक अनूठा मंच दिया। इसी युग में गणपति ने 'माधवानल कामकंदकला' की रचना की। इस समय शेषकृष्ण नामक एक श्रेष्ठ विद्वान काशी में रहते थे। इन्होंनें चार नाटकों की रचना भी की थीः-कंसवध, सत्यभामा विलास, मुरारि विजय, सत्यभामा परिणय। सन् 1585-89 ई॰ के बीच विश्वेश्वर पूजा के अवसर पर 'कंसवध' का नाट्याभिनय भी हुआ था। इसमें राजा टोडरमल के पुत्र गोवर्धन भी उपस्थित थे। इन युगों के नाटक पौराणिक कथाओं पर आधारित रहते थे और मानस में तुलसी 'हनुमत-अभिनय', रघुनायक लीला का उल्लेख करते है। ये नाट्य रूप आज भी भारतीय जनजीवन में लोकप्रिय है, मुख्यतः भक्ति आंदोलन की ही देन हैं मंदिरों में देव-प्रतिमाओं की अर्चना-पद्धति भी इसीलिये नाट्य मूलक ही रखी गई थी। इसके साथ ही नाट्य-रूपों को प्रचार-प्रसार के माध्यम के रूप में ग्रहण करने की दृष्टि भी थी। काशी के रंगबोध को विकसित कर तथा काशी के रंग-परिवेश के निर्माण में रामलीलाओं ने महत्वपूर्ण योगदान किया है। नगर के अनेकों मुहल्लों में होने वाली दर्जनों रामलीलाएँ नाट्य का जीवन्त प्रमाण देते है।

17वीं शती में रची गयी सर्वाधिक महत्वपूर्ण नाट्य-रचना "काशी-कुतूहल" नामक प्रहसन है जिसे पं॰ रामानन्द जी ने लिखा था, ये दाराशिकोह के गुरू थे। औरंगजेब की आज्ञा से जब काशी के मन्दिर इत्यादि नष्ट किये जा रहे थे तो इन्होंने इसका चित्रण अपने इस नाटक में किया है। काशी में नाटक की यह परम्परा कभी भी निःशेष नही हुई जो आज तक किसी न किसी रूप में विद्यमान है।

काशी ने नाट्य जगत को अनेक नाटककार दिये है। रंगमंच पर नाटक की सफलता देखकर व्यापारी वर्ग के लोगों ने व्यावसायिक नाटक कंपनियाँ बनाई। सन् 1870 में फ्रामजी ने 'ओरिएण्टल कम्पनी' इसके नाटककार ने "रौनक बनारसी", 1882 ई॰ में इनका "इंसाफ महमूद शाह" नाटक प्रकाशित हुआ, इसके बाद खुरशेदगी बालीवाली की 'विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी' इसके नाटककार मुंशी तालिब बनारसी तथा कावस जी खटाऊ की 'अलफ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी' इसके नाटककार पं॰ नारायण प्रसाद 'बेताब' थे, किन्तु नाटक के क्षेत्र में जिस नाटककार ने तहलका मचा दिया था उसका नाम आगा हश्र काश्मीरी था। आगा हश्र ने न्यू अलफ्रेड, एलफिस्टन, कोरंथियन एवं मदन थियेटर्स के लिए नाटक लिखे थे।[4]

19वीं शदी में शीतला प्रसाद त्रिपाठी के 'जानकी-मंगल' का मंचन हुआ जिसमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अभिनय किया था। भारतेन्दु ने अनेको नाटक का अनुवाद किया था। भारतेन्दु के बाद अमृतलाल नायक के निर्देशन में काशी में नाटक होते रहते थे। सन् 1903 में जैन नाटक मंडली और 1908 में भारतेन्दु तथा नागरी नाटक मंडलियों की स्थापना हुई। इन मंडलियों का शानदार इतिहास रहा। नागरी नाटक मंडली आज भी सक्रिय है। इसी क्रम को आगे बढ़ाते हुए जयशंकर प्रसाद का नाम आता है। प्रसाद को 20वीं सदी का महानतम नाटककार कहा जाता है। स्वतन्त्रता के बाद बनारस में अनेक नाट्य संस्थाएँ ओर नाटककार आये। अनेक सफल नाटकों का मंचन, नाट्य-उत्सव इत्यादि सम्पन्न हुए, बनारस के रंगकर्मियों ने काशी के बाहर भी अपनी कीर्ति के झंडे फहराये तथा काशी के रंगमंच को गौरवान्वित किया है।

Scanned with OKEN Scanner

उन्नीसवीं शती के अंत तक पहुँचते-पहुँचते बंगाली लोगों ने भी अपनी नाट्याभिनय का शुभारंभ यात्रा के रूप में किया। उस समय पौराणिक नाटकों के ही अभिनय होते थे। कुछ लोगों ने 'ब्यायज क्लब' नामक एक संस्था बनाई थी। प्रतिष्ठित धनी और अभिजात बंगालियों ने मिलकर 'बांधव समिति' नामक एक थिएटर की स्थापना द्वारा नियमित अभिनय की व्यवस्था की इसके अलावा ये नाट्य संस्थाएँ अपने वार्षिकोत्सवों पर समारोहपूर्वक नाटक करती। रंगमंच मदन थिएटर का होता जिसका वर्तमान नाम दीपक टाकीज है। सन् 1948 ई॰ में 'ललित चक्र' की स्थापना हुई।

बंगला नाटकों के चुनाव में भी एक स्पष्ट प्रगति की धरा निरंतर प्रवाहित होती दिखाई पड़ती है। जहाँ यात्रा पौराणिक नाटकों से शुरू हुई वहाँ नई मंचीय प्रस्तुतियाँ ऐतिहासिक नाटकों से शुरू हुई।उस समय अंग्रेजी शासन के नागपाश से मुक्त होने के लिये छटपटा रहा था। उस समय वाराणसी के बंगाली रंगकर्मी ऐतिहासिक नाटकों का अभिनय करके जन समुदाय में देश बोध जगा रहे थे। उसके बाद शुरू हुआ सामाजिक नाटकों का अभिनय। कौलिन्य, दहेज, बालविवाह, साहबीपन आदि कुप्रथाओं और सामाजिक कुसंस्कारों के विरूद्ध अभियान सामाजिक नाटकों के अभिनय द्वारा चलाया गया। अभिनय में नवीनता और प्रगति लाने का श्रेय ललितचक्र को हैं उसने ही सबसे पहले सभी संस्कार-रूढ़ियों को तोड़कर 1954 ई॰ में विसर्जन नाटक में नारी-चरित्र का अभिनय महिला द्वारा कराया। ललितचक्र ने ही सबसे पहले एक प्रगतिशील नाटक 'पथिक' का प्रस्तुतीकरण किया। रवींद्रनाथ के नाट्याभिनय को काशी में प्रचलित करने तथा उनकी कहानियों का एकांकी नाट्यरूपांतर कर अभिनीत करने का श्रेय भी ललितचक्र को ही मिला।[5]

सन् 1908 में 'नूतन बालक गणेशोत्सव की स्थापना हुई थी जिसके अंतर्गत गणशोत्सव के अवसर पर, कार्यक्रमों के अलावा एक मराठी नाटक का भी मंचन होता था। नूतन बालक में प्रतिवर्ष होने वाले इन नाटकों को देखकर कालांतर में शारदोत्सव समिति की स्थापना कर डाली। सन् 40 से लेकर सन् 50 मेंजीजीचा,एकलव्य,पन्हाळगढाचा किल्लेदार तथा इनका मंचन भी हुआ। सन् 1951 से काशी के मराठी नाट्य मंच में एक क्रातिकारी परिवर्तन हुआ जब ऐतिहासिक एवं पौराणिक नाटकों के गूढ-जाल से निकलकर सामाजिक नाटकों का मंचन प्रारंभ हुआ। सन् 1961 में काशी की मराठी रंगभूमि में एक और महत्वपूर्ण क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ जब स्त्री भूमिकाएँ स्त्रियों द्वारा ही अभिनीत की जाने लगी।

अतः यह कहा जा सकता है कि बनारस में प्राचीन काल से ही नाट्य परंपरा विद्यमान रही है और तमाम समस्याओं से निकलती हुई आज भी यह अपना अस्तित्व एवं स्थान बनाये रखा हैं एवं भविष्य में भी यह नाट्य-परंपरा इसी तरह प्रगति पथ पर प्रवाहित रहेगी।

सन्दर्भ सूची

1. भगवत शरण शर्मा-भारतीय इतिहास में संगीत, पृ.-14
2. विश्वनाथ मुखर्जी- यह बनारस है, पृ.-21
3. छायानट, अंक-44, जनवरी,1988, पृ.-80
4. डा. भानु शंकर मेहता- सो काशी सेइअ कस न, पृ.-115,136,138
5. कुँवरजी अग्रवाल-काशी का रंग परिवेश, पृ.-89-92

Scanned with OKEN Scanner

पं. सीताराम हरि दाण्डेकर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

डॉ. डोली

संगीत जगत में ऐसे अनेक व्यक्ति हुए है जिन्होंने अपनी लगन और साधना से संगीत के क्षेत्र में अनेक नई उपलब्धियां प्राप्त की है। परंतु उन उपलब्धियों का प्रभाव एक सीमित क्षेत्र तक ही रह गया। इसका परिणाम यह हुआ कि उस व्यक्ति विशेष के दिवंगत होने के साथ ही कठिन साधना और लगन से प्राप्त अनुभव भी उन्हीं के साथ समाप्त हो गई। फलस्वरूप उनकी देन से लोग लाभान्वित न हो सके। अतः आने वाले पीढ़ी के लिए संगीत के इतिहास में नया अध्याय जुड़ता, वह समाप्त हो गया। ऐसा ही एक उदाहरण पं. श्री सीताराम हरि दाण्डेकर जी का है जो बहुगामी प्रतिभा के धनी रहते हुए भी एक क्षेत्र विशेष के होकर रह गए।

पं. सीताराम हरि दाण्डेकर ग्वालियर धराने के अच्छे गायकों में से एक थे, जिनका जन्म महाराष्ट्र के कोंकण नामक प्रान्त के एक छोटे से गांव मुरूड़ (रत्नागिरि) में 9 मार्च 1923 ई. को हुआ था।[1] उनके पिता का नाम श्री हरि वासुदेव दाण्डेकर था जो वहीं के एक पाठशाला में शिक्षक थे। उनकी माता का नाम लक्ष्मीबाई हरि दाण्डेकर था। वह एक बेहद सीधी-साधी और धर्मपरायण महिला थी। उनकी आठ संतानें थी। जिसमें पांच लड़के और तीन लड़कियां थीं।[2] पं. सीताराम जी उनके दूसरे लड़के थे। उनके सबसे बड़े भाई का नाम पं. माधवराम हरि दाण्डेकर तीसरे भाई का नाम गजानन हरि दाण्डेकर तथा चौथे, पांचवें भाई का नाम राजाराम हरि दाण्डेकर एवं माधव हरि दाण्डेकर है पं. सीताराम दाण्डेकर जी के पिता की आर्थिक स्थिति अत्यंत दयनीय थी, फिर भी साहसपूर्वक उन्होंने पूना के प्रख्यात नूतन मराठी विद्यालय में उनका नामांकन करवा दिया था। जहां उन्होनें केवल नौवीं, दसवीं कक्षा तक ही विधिवत शिक्षा प्राप्त की। परंतु इतना कम पढ़े-लिखे होने के बावजूद भी वे अपने स्वध्याय के बल पर काफी ज्ञान अर्जित किये थे।

पं. सीताराम दाण्डेकर जी बचपन से ही सुरीले थे। उनकी आवाज की मिठास परख कर उनके पिता जी ने उन्हें संगीत सीखाने के उद्देश्य से स्वनाम धन्य पं. विनायक बुआ पटवर्धन के गन्धर्व महाविद्यालय में दाखिला करवा दिया। पूना में ही उनका लिखना-पढ़ना और संगीत सीखने का कार्य साथ-साथ चलता रहा। उनका शिक्षण एवं परिक्षण सन् 1935 से 1942 ई. तक लगातार चलता रहा।[3]

मुजफ्फरपुर में दाण्डेकर जी का आगमन सन् 1941 ई. में हुआ।[4] उन दिनों मुजफ्फरपुर उत्तर बिहार का कला तीर्थ हुआ करता था। श्री मान बाबू उमाशंकर प्रसाद के आग्रह पर पं. विनायक बुआ पटवर्धन जी ने दाण्डेकर जी को मुजफ्फरपुर में संगीत के प्रचार प्रसार के लिए भेजा था। इस प्रकार रोजी रोटी के चक्कर एवं संगीत के प्रचार प्रसार के उद्देश्य से पं. सीताराम दाण्डेकर जी 18 वर्ष की अवस्था में पूना से मुजफ्फरपुर खीचें चले आये। वे यहां आये तो थे रोटियों की तलाश में उन्हें रोटियां तो मिली ही थी सोना चांदी भी मिली साथ ही साथ यश और सम्मान भी मिला। उन्होने अपनी जिंदगी यूं ही नहीं गवाई संगीत जगत के लिए उन्होंने बहुत से अविस्मरणीय कार्य किये जिसमे सबसे महत्वपूर्ण कार्य था इस क्षेत्र में ख्याल का प्रसार। श्री दाण्डेकर

(एम. फिल.) बी.एच.यू. वाराणसी, (पी.एच.डी.) बी. आर. ए. बी. यू., मुजफ्फरपुर

जी के कारण ही इस क्षेत्र में ख्याल गायकी प्रचलित हुई। उनके पहले यहां ध्रुपद, धमार का ही मुख्य रूप से प्रचार-प्रसार था। कुछ एक गायक ही थे जो थोड़ा बहुत ख्याल गायकी को गाते थे। उस पर भी ध्रुपद अंग का ही प्रभाव रहता था। दाण्डेकर जी के आगमन के पश्चात् उत्तर बिहार में ख्याल गायकी का काफी प्रचार हुआ। जो कलाकार अपनी सृजनात्मक कल्पना शक्ति के द्वारा राग की मौलिक व्याख्या करता है वहीं एक नए संगीत का निर्माण करता है। पं. सीताराम हरि दाण्डेकर जी के गायन में भाव प्रदर्शन होता था। एक ओर उनके हृदय में अनोखी भावुकता थी तो दूसरी ओर स्वरों की गुदगुदाहट इसलिए उनका गायन रोचक और भावुक होता था। जब वे गाते थे तो ऐसा लगता था कि मानों किसी संगीत तपस्वी ने स्वर समाधि लगा ली हो। उनके संगीत प्रेमी मंत्र मुग्ध होकर दाण्डेकर जी द्वारा निर्मित स्वर स ंसार में अपने आप को लीन कर बैठते थे।[5] उनके गायन से श्रोताओं को आध्यात्मिक आनंद की चरम अनुभूति होती थी। उनकी वाणी के सम्मोहन में नीरस व्यक्ति भी रससिक्त होकर अपना आपा खो बैठता था। उनकी अनवरत संगीत साधना ने शास्त्रीय संगीत को उसका वास्तविक आकार दिया था। वे रागों का गंभीर तथा एक चित चिन्तन करके स्वरों की शुद्धता का ध्यान रखते हुए राग की बारीकी को रागानुरूप स्वर समुदायों एवं सुबड़ अलंकारों के प्रयोग द्वारा अत्यंत हृदयग्राही एवं मर्मस्पर्शी बना दिया करते थे। उनके गायन में अद्वितीय सौन्दर्य, गहराई एवं शुद्धता थी। जब वे गाते थे तो उनके गायन में लय दोष या उच्चारण में यति-दोष तथा तान में गति-दोष कभी नहीं आ पाता था। पं. दाण्डेकर जी स्वर, राग और रस के एकनिष्ट साधक, भारतीय शास्त्रीय संगीत के लोकप्रिय कलाकार, संगीत के विचारक एवं उच्चकोटि के संगीत शिक्षक थे। इससे स्पष्ट होता है कि वह बहुमुखी प्रतिभा के धनी व्यक्ति थे। संगीत को साक्षात् परब्रह्म मानने वाले दाण्डेकर जी बहुत ही सरल तथा सुहृदय व्यक्ति थे। वे विरासत में मिली परंपरागत शैली का पूरा निर्वाह करनेवाले कलाकार थे दाण्डेकर जी उत्तम कोटि के वाग्येकार भी थे। उन्होंने बहुत सारी ख्याल की बन्दिशों की रचना की। ऐसे तो उनकी सारी बंदिशें काव्य और संयोजन के दृष्टि से उच्चतम स्थान रखता है। उदाहरण स्वरूप -

राग हमीर - 6

स्थायी - गुरू पद महिमा जानो मनुवा।
यह पद ज्ञान की गंगा जमुना।
यहि पावन तीरथ है मनुवा।।

अंतरा :- हरि रूठे गुरू होत आधारा।
गुरू रूठे नहीं कोउं सहारा।
बलिहारी ऐसे गुरू पद की।
बिगड़ी देत बनाये मनुवा।।

राग हमीर

स्थायी-

		प म प ध	म प ग म
		गु रू प द	म हि मा ऽ
ध धनि सारे	नि सां ध प	प प प प	ध - प प
जाऽ नोऽ ऽऽ	म नु वा ऽ	य ह प द	ज्ञा ऽ न की
ग म गम धप	रे रे सा -	सा सा म ग	प प ग म
गंऽ गाऽ ऽऽ	य मु ना ऽ	य ही पा ऽ	व न ती ऽ
ध-धनि सारे	नि सां ध प		
रथ हैऽ ऽऽ	म नु वा ऽ		
x	2	0	3

अंतरा-

		प प सां -	सां - रें सा
		ह रि रू ऽ	ठे ऽ गु ह
ध नि सां रे	(नि)सां ध प	म म प ध	म प ग म
हो ऽ त अ	धा ऽ रा ऽ	गु रू रू ऽ	ठे ऽ न ही
ध - नि सां	ध - प -	सां सां गं मं	रें - सां सां
को ऽ उं स	हा ऽ रा ऽ	ब लि हा ऽ	री ऽ ए ऽ
ध नि सा रे	नि सां ध प	सा सा म ग	प - ग म
से ऽ गु रू	प द की ऽ	बि ग ड़ी ऽ	दे ऽ त ब
ध- धनि सारें	नी सां ध प		
नाऽ थेऽ ऽऽ	म नू वा ऽ		
x	2	0	3

राग - मारू बिहाग
ताल - तीन ताल

स्थायी

रसना राम नाम जप ले।
मनुष जनम सारथ करू ले।।

अन्तरा

भव भय हारन सब सुख कारण।
नाम पतित पावन भज लें।।

संगीत के प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से उन्होंने बहुत सारे शिष्य-शिष्याओं को भी तैयार किया था जो आज भी उनकी गायन शैली की मर्यादा को बरकरार रखते हुए उसके प्रचार-प्रसार में सतत प्रयत्नशील है। जिनमें कुछ प्रमुख नाम निम्न है। पं. सत्यनारायण पाठक, श्रीमती बाबली भट्टाचार्या, श्रीकान्त पोद्धार, स्व. पं. श्याम लाल मिश्र, श्री संत लाल दास पद्मश्री शारदा सिन्हा इत्यादि।

निष्कर्ष :- उत्तर बिहार में ख्याल गायकी के प्रचार-प्रसार का श्रेय पूर्ण रूप से पं. सीताराम हरि दाण्डेकर जी को ही जाता है। क्योंकि उनके आगमन से पूर्व इस क्षेत्र में ध्रुपद एवं धमार की ही गायकी मुख्य रूप से प्रचलित थी। कुछ ही थे जो ख्याल गायकी को गाते थे उस पर भी ध्रुपद अंग का प्रभाव रहता था। उनके बिहार आगमन के पश्चात् ही इस क्षेत्र में ख्याल गायकी प्रचलित हुई। इन्होंने इस शैली के प्रचार-प्रसार के लिए तीन महत्वपूर्ण कार्य किये थे जो निम्न है।

1. ख्याल शैली के बन्दिशों का निर्माण किया।
2. बहुत सारे शिष्य-शिष्याओं को तैयार किया जो आज भी उनके गायन शैली को आगे-बढ़ा रहे हैं।
3. विभिन्न संगीत समारोहों का आयोजन किया जिसमें देश के बड़े-बड़े संगीतज्ञ भाग लेते थे जिनमें मुख्य नाम हैं, पं. ओंमकार नाथ ठाकुर, पं. डी वी पलुस्कर पं. विनायक राव पटवर्धन, पं. नारायण राव व्यास इत्यादि इन सब महत्वपूर्ण कार्यों के कारण ख्याल शैली इस क्षेत्र के आम जनों में लोकप्रिय हुई।

सन्दर्भ सूची

1. संपादक - शास्त्री आचार्य जानकी वल्लभ, बेला जून 1987, पृ. 11
2. वही, पृ. 12
3. वही, पृ. 13
4. वही, पृ. 14
5. डॉ. कमला कनौडिया के साथ वार्ता पर आधारित
6. पं. सत्यनारायण पाठक (संगीत विभाग एम. डी. डी. एम. कॉलेज मुज. से प्राप्त)
7. डॉ. बाबली भट्टाचार्य से प्राप्त।

Scanned with OKEN Scanner

मैथिली लोकनाट्य 'नाच' का उद्भव : एक अवलोकन

चन्द्रशेखर प्रसाद

कला का कोई भी रूप एक प्रक्रिया से गुजरते हुए, अपना विशेष शैलीगत स्वरूप ग्रहण करता है। स्वरूप ग्रहण करने के क्रम में एक समय ऐसा आता है जब मानवीय समाज में प्रवाहित तत्कालिन रीति-रिवाज, संस्कार, मनोरंजन के साधन आदि - (जो किसी कला के स्वरूपित होने में सहायक की भूमिका निभाती है।) की अलग-अलग धाराएँ किसी काल विशेष में एक दूसरे से मिल जाती है। वहीं एक कला अपना स्वतंत्र शैलीगत स्वरूप ग्रहण करता है। और वही काल उस कला विशेष के ऐतिहासिक उद्गम का काल होता है।

इस शोध पत्र का उद्येश्य मैथिली लोकनाट्य 'नाच' के उद्भव का ऐतिहासिक तथा सामाजिक परिवेश का अवलोकन करना है।

'नाच' बिहार और नेपाल के मैथिली भाषी क्षेत्र का प्राचीन लोकनाट्य है। इसमें विभिन्न लोकगाथाओं को प्रदर्शित किया जाता है। डॉ. ओमप्रकाश भारती ने इसे 'नटुवा नाच' से संज्ञापित किया है। उनका तर्क है कि " नटुवा नाच दो शब्द मिलकर बना है, जहाँ नटुवा का अर्थ अभिनेता या नर्तक और नाच का नृत्य है। लेकिन यहाँ नाच से अभिप्रेत नाट्य है न कि नृत्य। नट, नर्त्तक और अभिनेता पुरूषवाचक संबोधन है। अतः पुरूषों द्वारा अभिनीत नाट्य रूपों को नटुवा नाच कहा गया है।"[1]

डॉ. भारती का ये तथ्य बहुत ज्यादा तर्क संगत नहीं लगता है। हाँ ये सच है कि आज गाथा नाच के कलाकारों को सार्वजनिक रूप से नटुवा कहा जाता है। लेकिन इसका कारण ये है कि गाथा नाच के उद्भव में नटुवा जाति का विशेष योगदान रहा है। जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे। दूसरी बात डॉ. भारती का कहना है कि पुरूषों द्वारा अभिनीत नाट्य रूपों को नटुवा नाच कहा जाता है। यहाँ मैं कहना चाहूँगा कि हिन्दुस्तान के लगभग लोकनाट्य पुरूष अभिनेताओं द्वारा ही अभिनीत किया जाता रहा है। लेकिन उसे नटुवा नाच से संबोधित नहीं किया जाता है और न किया जा सकता है।

इस संबंध में डॉ. प्रफुल्ल कुमार सिंह 'मौन' मिथिलांचल के विभिन्न लोकनाट्यों का जिक्र करते हुए इस नाट्य रूप को गाथा नाच से संज्ञापित किया है।[2] चूँकि इस नाच में लोकगाथा प्रदर्शित किया जाता है। इसलिए उन्होंने इसे गाथा नाच कहा है। उल्लेखनीय है कि नौटंकी, स्वांग, आल्हा-उदल आदि अन्य लोकनाट्यों में भी लोकगाथा प्रस्तुत किये जाते है। ऐसी स्थिति में इसे गाथा नाच कहना कितना समीचीन होगा, यह पुनः विचार की मॉग करता है।

मैथिल समाज में नाच के प्रचलित होने का संकेत हमें 13वीं शताब्दी में मिथिला के प्रसिद्ध विद्वान ज्येतिरीश्वर ठाकुर द्वारा विरचित ग्रंथ 'वर्णरत्नाकर' से मिलता है। ज्योतिरीश्वर ने इस ग्रंथ में तत्कालिन समाज में प्रचलित कला रूपों का भी वर्णन किया है। जिसके अंतर्गत 'लोरिक नाच' का जिक्र हुआ है। नाच शब्द को लेकर विद्वानों में मतभेद रहा हैं। कुछ लोग इसे नृत्य मानते रहे और कुछ लोग नाटक। मैथिली के प्रसिद्ध नाटककार एवं निर्देशक श्री महेन्द्र मलंगिया के अनुसार "मिथिला के जन सामान्य में नाटक को नाच के नाम से ही

शोध छात्र, नाट्य विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़

Scanned with OKEN Scanner

जाता है। आज भी यही है जैसे- लोरिक नाच, सलहेस नाच, बुढ़िया-गोढ़िन नाच आदि। ये सभी विशुद्ध रूप से लोकनाट्य है पर, नाच के नाम से ही जाने जाते है। लोरिक, सलहेस, बुढ़िया-गोढ़िन आदि नाच के कथानक है''[3].

नाच स्थानीय जन-समूह के बीच अंकुरित और पल्लवित हुआ है। इसके स्वरूप को देखने से यह स्पष्ट होता है कि इसकी कल्पना जन समूहों ने की है। इन कथानकों में मिथिला के आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक छाप स्पष्ट देखे जा सकते है। डॉ. धीरेश्वर झा 'धीरेन्द्र' के अनुसार ये समाज के द्विजेतर (untouchable) वर्ग की वस्तु है और उसी वर्ग के नायकों का चरित्र-चित्रण किया गया है।''[4]

नाच की प्रस्तुति तथा इसके दलों का संचालन इन्हीं द्विजेतर वर्गो द्वारा किया जाता रहा है। ये वर्ग जो सालों तक मैथिल समाज में अस्पृश्य समझे जाते रहे हैं, इनके द्वारा प्रदर्शित कला को समाज के सभी वर्गों ने सहज ही आत्मसात किया है। क्योंकि नाच में मिथिला के सामाजिक, धर्मिक तथा सांस्कृतिक परिवेश को दर्शाया गया है। इसमें वर्णित चरित्र-चित्रण तथा घटना स्थल पूर्णतः स्थानीय है। इसमें मैथिल समाज में प्रचलित लोकविश्वास, लोकरूढ़, चमत्कार, जादू-टोना, श्राप आदि का संयोजन है।

13वीं शताब्दी में मिथिला के प्रसिद्ध विद्वान ज्योतिरीश्वर द्वारा रचित ग्रंथ वर्णरत्नाकर में ''लोरिक नाच'' का जिक्र हुआ है। लोरिक मिथिलांचल तथा भोजपुर क्षेत्र का प्रसिद्ध लोक गाथा है। इसका मतलब ज्येतिरीश्वर के समय में नाच तत्कालिन समाज में प्रचलित था। इसका मतलब ये भी है कि नाच का उद्गम 13 वीं शताब्दी से पहले हुआ है।

अतः नाच के ऐतिहासिक उद्गम को सुनिश्चित करने के लिए उन तत्वों की खोज बीन करनी होगी जिनमें नाच के स्वतंत्र शैलीगत स्वरूप ग्रहण करने के आसार मौजूद थे।

पूर्ववर्ती मध्यकाल के साक्ष्य ग्रंथों से पता चलता है कि बिहार के मिथिलांचल, भोजपुर, नेपाल का तराई हिस्सा, मोरंग तथा पूर्वी उत्तर-प्रदेश में विभिन्न गीत-संगीत-नृत्य तथा अभिनयात्मक कला के लिए नाच शब्द ही रूढ़ था। इनमें से कुछ धर्मिक अनुष्ठान तथा कुछ संस्कारिक रीति-रिवाज से जुड़े थे जो कमोवेश आज भी है।

वर्णरत्नाकर में 'विरहा', 'मएना' तथा 'बड़ती' का भी जिक्र हुआ है। मिथिला के प्रसिद्ध रंगचिन्तक महेन्द्र मलंगिया के अनुसार -''ये तीनों लोकनाट्य हैं। विरहा को वर्तमान में धोबी-धोबिनियां नाच कहा जाता है। मएना को मएना-गोबिना नाच कहा जाता है। इसकी प्रस्तुति मिथिलांचल में अभी भी खूब देखा जा सकता है और बड़ती के सम्बन्ध में कहते हैं कि आज से करीब सत्तर-पचहत्तर वर्ष पहले बभनगामा, धनुषा, नेपाल में एक पार्टी था, जो बंडिलो नाच करता था। इसे 'बड़डिलो' नाच भी कहा जाता था। अभी भी कहीं-कहीं इसको बंडिलो तथा कहीं-कहीं बड़डिलो नाच कहा जाता है। इन लोकनाटयों में गीत, नृत्य तथा वाद्य की प्रधानता रहती है।''[5]

''नेपाल उपत्यका में कार्तिक नाच प्रचलित है। इसका दूसरा नाम नृसिंह नाच है। कार्तिक महीने में इस नाच के प्रदर्शन होने के कारण इसे कार्तिक नाच कहा जाता है। साथ ही इसमें नृसिंह भगवान की लीला की प्रमुखता होने के कारण इसे नृसिंह नाच भी कहा जाता है।''[6]

उत्तर प्रदेश के बुन्देलखंड क्षेत्र में धींवर (कहार) समुदाय के लोगों के द्वारा विभिन्न अवसरों पर नाच-गाना प्रस्तुत करने का कार्य किया जाता है। इनका नाच संस्कारिक रीति-रिवाजों से जुड़ा है।

''धीवरों के गीत-नृत्य, बुन्देलखण्ड की विभिन्न अवसरों की मूल प्रथाओं के अनुकरण रूप में, उन्हें अभिनटन द्वारा रूपायित किए जाते है। विभिन्न सामाजिक अवसरों से जुड़े हुए किसी प्रसंग को ये अपने नृत्य के लिए चुन लेते है। तथा उसी अवसर विशेष पर या अन्य अवसरों पर भी गीत, नृत्य तथा अभिनय के माध्यम से प्रस्तुत करते है। इस प्रकार के नृत्यों में, सगाई, विवाह, नववधु द्वारा देवी-पूजन और शिशु जन्म के पश्चात प्रथानुसार कुँआ पूजने के नृत्यों को एक श्रृंखला में रखा जाता है।''[7]

इसी तरह उत्तर प्रदेश में, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, जौनपुर आदि पूर्वी क्षेत्रों में पासी अथवा पासवान जाति के लोगों में पासी नाच प्रचलित है।[8]

यहाँ तक ये समझने में कोई मुश्किल नहीं है कि बिहार के मिथिलांचल, भोजपुर, नेपाल का तराई क्षेत्र, पूर्वी उत्तर प्रदेश के क्षेत्रों में धार्मिक अनुष्ठानों तथा संस्कारिक रीति-रिवाजों से जुड़े विभिन्न

Scanned with OKEN Scanner

अभिनयात्मक कला के लिए नाच शब्द ही प्रचलित था। यहाँ हम ये भी कह सकते है कि 13वीं शताब्दी से पहले इन क्षेत्रों के लोगों के पास विभिन्न विषयों को प्रस्तुत करने का एक माध्यम ज्ञात था, जिसे नाच कहा जाता था। उपर्युक्त विभिन्न नाचों को देखने से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि इनके विषय वस्तु निश्चित ही भिन्न थे परन्तु प्रस्तुति विधान में करीब-करीब सभी समान थे। कहने का तात्पर्य ये है कि इन सभी क्षेत्रों के लोगों के पास नृत्य, गीत तथा अभिनय से युक्त एक प्रदर्शन शैली मौजूद था। और निश्चय ही यही प्रस्तुति विधान गाथा नाच का आधार स्वरूप बना होगा क्योंकि गाथा नाच के प्रदर्शन में भी यही तीनों तत्व मुख्य रूप से विद्यमान है। खास बात ये है कि यह प्रस्तुति विधान समाज के द्विजेतर वर्ग के पास थी । आज नाच के कलाकारों में प्रमुखता द्विजेतर वर्ग की ही है। इसका मतलब निश्चय ही समाज के इन्हीं द्विजेतर वर्गो ने जिनके पास एक प्रस्तुति विधान मौजूद था यहीं इसी मध्यकाल के शुरूआत में इन क्षेत्रों में प्रचलित लोक गाथा को विषय वस्तु के रूप में मौजूदा प्रस्तुति विधान से समायोजित कर गाथा नाच का आरंभ किया होगा। अतः यहाँ अब ये आवश्यक हो गया है कि इन क्षेत्रों में लोकगाथा की रूप-रेखा की खोज-बीन की जाए।

बिहार, उत्तर प्रदेश, नेपाल तथा बंगाल में कई लोकगाथाएँ प्रचलित हैं। जैसे लोरिक, सलहेस, रेशमा-चुहड़मल, नैका-बनजारा, हिरणी-बिरणी, आल्हा-उदल, विहुला, दीना-भद्री, बहुरा-गोढ़िन, आदि।

कैथरीन सरवन सेवर (Catherine servan-schreiber) के अनुसार- "leaving the Ramayan and Mahabharata and considering more geographically located gathas. We can say that four main categories of epics co-exist in northern India.

(a) the gathas linked with the cycle of king denouncers belonging to the Shaivait Nath sect and disciple of the Gorakhnath, like 'Gopichand', 'Bhartrihari', 'Rani saranga', 'Sadabrij', 'Sorthi-Brijbhan', 'Gugga', 'Raja Rasula', sung by wandering ascetics with a sarangi musical accompaniment.

(b) The Rajput epics sung by pastoral and martial castes who were linked to Rajput (mainely Ahir, Nat, Dusadh or Nonia) such as 'Lorik' or the famous 'Alha-Udal'. Nihal de.

(c) The epics which were brought by traders and reflect like the Rajput epics. The migration of population from western India towards the east. They are sung by Teli, Bania, Nat or Nonia.

(d) The muslim kissas of Arabo-persian origin which are very close to the Indian epics, such as the story of 'Hatim Tai' or the famous sufi 'Prema Khyan' inspired by Indian gatha."[9]

इसमें विभिन्न गाथाओं का उद्भव विभिन्न स्थान विशेष से हुआ है। जैसेः- सलहेस, बहुरा गोढ़िन, दीना-भद्री आदि गाथाओं का उद्भव मिथिलांचल तथा नेपाल के सीमावर्ती इलाकों में हुआ है। और लोरिक, रेशमा-चूहड़मल, गौरैया गाथा, नैका-बनजारा हिरणी-बिरणी आदि गाथा का उद्भव पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी बिहार (ये दोनों क्षेत्र भोजपुरी भाषी क्षेत्र है) में हुआ है। अल्हा-उदल की पृष्ठ भूमि मध्य-प्रदेश की है तथा बिहुला कथा की बंगाल। इस तरह से इन विभिन्न गाथाओ का उद्भव विभिन्न स्थान विशेष से हुआ है और ये गाथाएँ एक जगह से दूसरी जगह सफर करती रही है। इसमें भोजपुर, नेपाल, तथा बंगाल के बीच व्यापार करने वाले व्यापारियों की मुख्य भूमिका रही है। साथ ही रिक्सा वाला, कुली, अहीर, दुसाध, नोनिया, छोटे व्यापारी तथा तमाशबीन की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

"The transmission of four main bhojpuri gathas: Shobha Nayaka Banjara, Hirni & Brni, Reshma & Chuharmal and Bihula can be considered to be linked with

Scanned with OKEN Scanner

the trading castes. Whereas the first three are transmited from the bhojpuri region to the Nepalese Terai, the forth one is connected to the migration of traders between the bhojpuri speaking belt and Bengal:.[10]

इसी तरह से रेशमा-चुहड़मल और गौरैया गाथा का भोजपुर से मिथिला तथा नेपाल की ओर संचार हुआ है।

"Transmisson of Gauraiya Gatha and Reshma & Chuharmal towards mithila and Nepal the glorification of the honorable bandit and cattle stealer by Dusadh bards."[11]

और बिहुला गाथा गंगा के इलाके से होते हुए बंगाल तक।

"The transmission of Bihula gatha by Teli, Nonia, Nat, Kevot and Dom bards alone the ganga."[12]

कैथरीन अपने आलेख the transmission of shobha Nayaka Banjara and Hirni - Birni and the glorification of the bhainsaha merchant's migration from the bhojpuri region to mithila and morang (Nepal) by Teli and Natua storytellers.[13] के अंतगर्त लिखते है:-

भारत और नेपाल के बीच व्यापारियों की कई जातियाँ व्यापार में संलग्न थी। जैसे तेली, वैश्य, सूड़ी, कायस्थ, हलवाई, अग्रवाल, खत्री आदि। इन्हें भैंसहा बंजारा (Bhainsaha Banjara) कहा जाता था। ये लोग अपने भैंसा गाड़ी पर सामान लादकर चलते थे और गाथा को गाते हुए चलते थे। संध्या विश्राम के लिए जहाँ रूकते थे रात को अपने मनोरंजन के लिए इन गाथाओं को गाते थे। यहाँ उन्होंने एक बात और स्पष्ट किया है कि इन बंजारों का संबंध पश्चिम से आए हुए लबना बंजारा (labana Banjara) से कतई नहीं है। यद्यपि नाम और काम में काफी समानता है। बल्कि ये बंजारा शब्द संस्कृत शब्द वाणिज (vanij) से आया है। मेरे ख्याल से ये सटीक भी लगता है क्योंकि वाणिज-वाणिज्य-व्यापार सामानर्थी शब्द है।

स्पष्ट है कि इन गाथाओं का संबंध समाज के विभिन्न जातियों से है। जैसे - लोरिक अहीर जाति से, सलहेस दुसाध जाति से, नैका बनजारा, तेली जाति से, रैया-रणपाल वैश्य जाति से आदि। ये सभी अपनी - अपनी जातियों के महानायक हैं। इस तरह की गाथाओं की रचना के प्रेरक तत्व क्या रहा है। यह एक शोध का विषय है। फिलहाल ये आसानी से समझा जा सकता है कि किस तरह व्यापारियों जिसमें कई जातियां विभिन्न तरह के व्यापार में संलग्न थी, ने अपनी संबंधित जाति की लोक गाथाओं को मिथिलांचल, नेपाल तथा पूर्वी उत्तर-प्रदेश के क्षेत्रों में फैलाने का काम किया।

इसके अलावा नटुवा जाति के लोग (विशेष-नाच के कलाकार को वर्त्तमान में नटुआ से ही संबोधित किया जाता है चाहे वह किसी जाति का हो) मेला आदि में बंदर, साँप, भालू आदि का खेल तमाशा दिखाते थे और साथ में गाथा गाते थे। ये सब दक्ष कथा-वाचक होते थे। इनकी पत्नियाँ गोदना-गोदने (tattooing) का काम करती थी। ये घर-घर जाती थी और शोभा नायका तथा हिरणी-विरणी की गाथा गाती थी। धीरे-धीरे तेली तथा वैश्य जाति के वे लोग जो आर्थिक रूप से सम्पन्न थे इन नटुआ जातियों को संरक्षण प्रदान किया और उन्हें विभिन्न अवसरों पर कथा-वाचना के लिए आमंत्रित करना प्रारंभ किया क्योंकि इन गाथाओं के नायक उन्हीं के जाति से थां। उसके बाद ये लोग समुदायिक स्थानों या किसी धनाढ़य व्यक्ति द्वारा आमंत्रित किए जाने पर उसके दलान पर कथा-वाचन करते थे।

अब यहाँ तक ये समझने में कोई दिक्कत नहीं है कि गाथा नाच का प्रारंभिक रूप कथा-गायन शैली था। ये समय मध्यकाल का शुरूआती दौर था। यानि हम कह सकते है कि 11वीं 12वीं शताब्दी में लोकगाथाओं का कथा-गायन शैली में सार्वजनिक रूप से प्रदर्शन होने लगा था और अब ये भी आसानी से समझा जा सकता है कि गाथा का कथा-वाचना शैली से लोकनाट्य का स्वरूप ग्रहण कर लेना सहज ही हुआ होगा जैसा कि हम पहले ही देख चुके है कि बिहार, उत्तर प्रदेश तथा नेपाल के क्षेत्रों में विभिन्न विषय वस्तु की प्रस्तुति का एक माध्यम नाच मौजूद था। जिसमें नृत्य, गीत, तथा

Scanned with OKEN Scanner

अभिनटन तीन तत्व विद्यमान थे और खास बात ये कि इसको प्रदर्शित करने वाले भी समाज के द्विजेतर वर्ग ही रहे है। इसमें कोई शक नहीं कि कथा वाचना के साथ आर्थिक पक्ष जुड़ने से (इसका जिक्र पहले कर चुका हूँ कि समाज के तेली तथा वैश्य समुदाय के सम्पन्न लोगों ने नटुओं को संरक्षण देना आरंभ कर दिया था) कलाकारों ने इसे और सुन्दर, सुनियोजित, आकर्षक तथा मनोरंजन बनाने के लिए इन गाथाओं को नाच के साँचे में समायोजित कर इसका नृत्य तथा अभिनयात्मक प्रदर्शन शुरू किया होगा। यहीं मध्यकाल के शुरूआत यानी 11वीं 12वीं शताब्दी में मैथिली लोकनाट्य 'नाच' एक स्वतंत्र शैलीगत स्वरूप ग्रहण किया होगा।

इस तरह से हम देखते है कि मैथिली लोकनाट्य नाच का उद्भव 11 वीं 12वीं शताब्दी के तत्कालीन समाज में प्रचलित प्रस्तुति विधान 'नाच' तथा समाज में प्रचलित गाथाओं के समायोजन से हुआ है। जिसमें 'नाच' के संबंध में ये सिद्ध हो चुका है कि मिथिलांचल, नेपाल, तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश के ग्रामीण समाज में नाट्य को नाच के नाम से ही संबोधित किया जाता है। और इन क्षेत्रों में विभिन्न लोकगाथाएँ समाज के विभिन्न समुदाय व्यापारी, नटुआ, तमाशबीन, रिक्शा वाला, किसान, मजदूर एक शब्द में कहे तो समाजिको द्वारा गाये और सुने जाते थे। इन गाथाओं का संबंध विभिन्न जातियों से था। गौरतलब है कि ये जातियाँ ब्राह्मणवादी समाजिक ढ़ाचे में सबसे नीचे थे जिन्हें शुद्र कहा गया है। ऐसी क्या वजह रही है कि लगभग लोक गाथाओ का संबंध समाज के तथाकथित नीची जातियों से है। यह एक शोध का विषय हो सकता है। फिलहाल ये स्पष्ट है कि समाज के इन्हीं द्विजेतर वर्गो के पास प्रस्तुत्य कला के रूप में नाच मौजूद था और कथानक के रूप में लोकगाथाएँ जिनको आपस में समायोजित कर इन्होंने मैथिली लोकनाट्य नाच का शुभारंभ किया। अंत में मैं ये कहना चाहूँगा कि समाज का ये वर्ग जिसे द्विजेत्तर वर्ग कहा गया है। असल में ये वर्ग कुशल कास्तकारों का वर्ग है और दक्ष कलाकार भी है। चमार जो मरे हुए जानवरों की खाल उतारते है और उससे ढोलक बनाते है और बजाते भी है। मैने खुद अपने सर्वेक्षण में ये पाया है कि नाच के वाद्य वादको में लगभग चमार जाती के लोग है। मेरे ख्याल से ये विषय भी विस्तृत चर्चा की मांग करता है फिलहाल ये स्पष्ट है कि गाथा नाच समाज के जन साधरण के बीच से अंकुरित और पल्लवित हुआ है।

संदर्भ सूची

1. बिहार के पारम्परिक नाट्य - डा. ओमप्रकाश भारती, पृष्ठ संख्या 161, प्रकाशक-उत्तर मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र, इलाहाबाद - 2007 ।
2. हमारे लोकधर्मी नाट्य- सम्पादक, अनिल पतंग, पृष्ठ संख्या- 18, प्रकाशक, प्रकाशन विभाग, नाट्य विद्यालय बाघा, बेगूसराय।
3. आलेख- मिथिला में लोक नाट्यों की परम्परा, रंग-प्रसंग (अक्टूबर-दिसम्बर, 2004) राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली।
4. आलेख- 'मिथिलाक किछु पूर्वांचलीय लोक गायिकी विवेचना' स्मारिका-मिथिला नाट्य कला परिषद जनकपुर, नेपाल, (2046)।
5. मैथिली लोकनाट्यक विस्तृत अध्ययन एवं विश्लेषण -महेन्द्र मलंगिया, मैथिली लोकरंग, नई दिल्ली
6. वही - पृ.-49
7. 'लोक रंग' उत्तर प्रदेश - दया प्रकाश सिन्हा पृ.-20, प्रकाशक-उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
8. वही - पृ.-44
9. Article "The transmission of Bhojpuri Epics towards Nepal and Bengal: oral performance and selling of chapbooks Editions"- pp-43-44 "Catherine servan-schreiber"
   Chanted Narratives- The Living 'Katha-Vachana' tradition–editted by- molly Koushal.
   Publication – Indira Gandhi National Center for Arts 2001
10. वही - पृ.-44-54
11. वही - पृ.-44-54
12. वही - पृ.-44-54
13. वही - पृ.-44-54

Scanned with OKEN Scanner

संगीत और चित्र का अद्‌भुत सम्मिश्रण - कोहबर चित्र

डॉ. रानी कुमारी

मिथिला में विभिन्न संस्कारों के अवसर पर संगीत और चित्रों का अद्‌भुत समन्वय देखने को मिलता है। मिथिला के इन शिल्पद्वय में महिलाओं का हस्तक्षेप आरंभ काल से रहा है। यहाँ की स्त्रियाँ लोक संगीत में जितनी निपुण होती हैं चित्रकला में उतनी ही निष्णात। आज भले ही सामाजिक मूल्यों में समय के हिसाब से परिवर्त्तन आ गया हो पर आज से तीन चार दशक पहले तक अभिजात घर की लड़कियों की शादी के लिए योग्यता का जो मापदंड होता था वह ये कि सामान्य घरेलू काम के अतिरिक्त वह गायन और लिखिया (चित्रकला) जानती है या नहीं। चूँकि सामान्यतया इसका संस्कार उनमें जन्मजात होता था इसलिए यह अपेक्षा की जाती थी कि महिलाओं में यह गुण होने ही चाहिए। मध्यकाल से लेकर बीसवीं सदी के पूर्वार्ध तक यही दोनो कला यहाँ की महिलाओं की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बनी रही। आसन्न विवाह के अवसर पर उनके स्वर और उनकी ऊँगलियाँ मुखरित हो उठतीं। विवाह में पंडित भले ही मंत्रोच्चार से विवाह को संपन्न कराएँ परन्तु पार्श्व में अगर महिला मंडली का गायन न हो तो वह सम्पूर्ण नहीं होता। विवाह में कुछ शास्त्रीय रस्मों को छोड़ बाकी सभी रस्म महिलाओं के द्वारा ही सम्पन्न कराए जाते हैं। हरेक रस्म से संबंधित रोचक गीत इनके कंठ में बसा होता है और समूह स्वर में गाकर ये वातावरण को उल्लासमय बनाती हैं। इसका पाठ ये किसी विद्यालय में नहीं पढ़ती बल्कि घर-आंगन की बड़ी-बुजुर्ग महिलाओं के हाथ और कंठ से उसे ग्रहण करती है। यह इतनी सहजता से होता है कि देखकर या सुनकर आश्चर्य लगता है।

मिथिला की प्राचीन संस्कृति की अभिव्यक्ति इन चित्रों के माध्यम से होती रही है। कोई भी कला मानव संस्कृति की उपज है। कला का निर्माण मनुष्य द्वारा होता है और यह निर्माण मनुष्य को आनंदित करता है। दोनों के बीच के सम्बन्ध को इस रूप में देखा जा सकता है - "कला और मनुष्य का सम्बन्ध अविभाज्य है। मानव के द्वारा कला की प्रतिष्ठा हुई और कला के द्वारा मानव ने आत्मचैतन्य और आत्मगौरव प्राप्त किया। कला के द्वारा मानव-जीवन में माधुर्य और सौन्दर्यशीलता का जन्म हुआ और कर्त्तव्य कर्म सुन्दर एवं मधुर बना।[1] मिथिलांचल की इन लोककलाओं की पृष्ठभूमि की विवेचना के सम्बन्ध में मात्र इतना कहना पर्याप्त होगा कि मिथिलांचल में इस कला का सृजन और विकास महिलाओं के द्वारा हुआ है। चित्रकला की पहली रेखा किसके द्वारा खींची गयी या गायन का पहला बोल किस कंठ से फूटा यह तो अज्ञात है पर इसे अपने संस्कारों के दम पर उन्हें संपोषण का श्रेय यहाँ की महिलाओं को प्राप्त है। मिथिला की स्त्रियाँ अपने सौन्दर्य और सौन्दर्यबोध के लिए प्रख्यात रही हैं। इसकी झलक उनके विभिन्न चित्रों और संगीत से मिलता है। ये बड़ी ही सुंदरता और सुरूचिपूर्ण ढंग से गंभीर रहस्यमय चित्रों का चित्रण चित्र के माध्यम से और अपनी इच्छाओं की अभिव्यक्ति विभिन्न गीतों के माध्यम से करती रही है। सामाजिक मर्यादा के चलते जो बातें ये बोलकर व्यक्त नहीं कर सकतीं वह उनकी तूलिका और कंठ व्यक्त कर देती है। कई ऐसे चित्र हैं जो गीत पर आधारित है या कई ऐसे गीत हैं जो चित्र पर आधारित है। पहले चित्रकला या संगीतकला कहना

मिथिला पेंटिंग की चर्चित कलाकार, सर्कस कम्पाउंड, गौशाला रोड, मधुबनी - 847211

Scanned with OKEN Scanner

कठिन है लेकिन दोनों की जब तुलना करते हैं तो पाते हैं कि दोनों एक दूसरे से अन्योन्याश्रित है। इसका एक प्रमुख उदाहरण है कोहबर चित्र। लोकचित्रों में कोहबर का स्थान काफी महत्वपूर्ण है। यह सम्पूर्ण लोकचित्र का आधार स्तंभ है। कोहबर चित्र यांत्रिक विधि से बनता है। जैसे तंत्र साधना में विभिन्न प्रकार के यांत्रिक चित्रों का रेखांकन अभिष्ट सिद्धि का ध्येय होता है वैसे ही कोहबर चित्र का ध्येय-सफल, सुमंगल, सुदीर्घ दाम्पत्य जीवन की कामना है। दोनों के चित्रांकन में पहला मौलिक अंतर यह कि कोहबर तंत्र के आडंबर से मुक्त और सहज होता है दूसरा यह भूमि पर न बनाकर भित्ति पर बनाया जाता है। तांत्रिक चित्रों में रहस्यमय शक्तियों के आवाहन हेतु कई विशेष सामग्रियों का प्रयोग, अदृश्य या दिखनेवाली चीजों का प्रतीकात्मक चित्रण गुप्त रूप से किया जाता है वहीं कोहबर में सिन्दूर-पिठार और रंगों के प्रयोग से दृष्टव्य चित्र बनाए जाते हैं।

कोहबर कक्ष उस विशेष कक्ष को कहा जाता है जहाँ नव विवाहित जोड़े का प्रथम मिलन होता है। विवाह के अधिकांश रस्म भी यहीं संपादित होते हैं। इस कक्ष को विभिन्न चित्रों के माध्यम से सजाया जाता है जिसमें कामोद्दीपक प्रतीकों का चित्रण होता है। इन चित्रों के बनाए जाने के कारण का उल्लेख करते हुए अवधेश अमन कहते हैं कि - हिन्दू धर्म और रीति के अनुसार यहाँ युवावस्था तक ब्रह्मचर्यत्व के पालन का कठोर विधान रहा है। इसके कारण युवक-युवतियाँ कामसूत्र शास्त्रीय अथवा लोकज्ञान से अनभिज्ञ रहें हैं फलस्वरूप विवाह संस्कार के बाद उन्हें कामगृह में रखकर ऐसे ज्ञान की तुष्टि करायी जाती रही है। इसका दूसरा सबसे बड़ा कारण रहा कि मध्ययुग में किशोरवय में शादियाँ होती रही है। इस उम्र में किशोर-किशोरियाँ काम विज्ञान से सर्वथा अपरिचित होते थे, किन्तु कामगृह के दार्शनिक पहलू पर दृष्टिपात करने पर यह बात मुखर होती है कि इनके दर्शन और मध्ययुगीन मंदिरों में लक्षित मिथुनों के दर्शन में कहीं साम्य है।[2] नवविवाहित जोड़े में कामवासना जागृत करने हेतु और मनोवैज्ञानिक रूप से उभय पक्ष को आकर्षण में बाँधने हेतु कतिपय प्रतीकात्मक चित्रों का चित्रण कोहबर कक्ष में किया जाता है। इनमें प्रमुख है - पुरैन, बाँस, नवग्रह, सूर्य-चन्द्रमा, कछुआ, मछली, वर-कनियाँ (दुल्हा-दुल्हन) सबरंग पटिया (चटाई), चिड़ै-चुनमुन्नी, नैना-योगिन। उपर्युक्त सभी चित्र सामान्य ब्राह्मण की लड़की की शादी में बनाए जाते हैं। कायस्थों के कोहबर में तो अतिरिक्त चित्र भी बनते हैं जिसमें लौंग, सुपारी का पेड़, पानघर, लटपटिया सुगा (जोड़ा तोता) एवं विभिन्न प्रकार के जलजीव। यहाँ ब्राह्मणों के यहाँ चित्रित कोहबर से सम्बन्धित एक कोहबर गीत की बानगी–

उपर लिखब नव-नवग्रह
उपरे लीखब सुरूज चान रे
सुन्दर लागे कोबर (कोहबर)
बिचहिं में लीखब पुरैनि कमलदह
दहिने लीखब बीट-बाँस रे,
सुन्दर लागे कोबर।
काछु-मछरिया हम रचि-रचि लीखब

लीखब मोर मयूर रे,
सुन्दर लागे कोबर।
गौरी पुजैत नव-कनियाँ जे लीखब
पाछु में दुल्हा अभिराम रे,
सुन्दर लागे कोबर।
मन सँ जे लीखब गौरी महादेव
युग-युग बढ़े अहिबात हे
सुन्दर लागे कोबर।[3]

कोहबर कक्ष के चारो कोण में एक-एक योगिनियों के चित्र बनते हैं। मान्यता यह है कि ब्रह्मचर्य आश्रम से लौटने के तुरंत बाद दूल्हे को गृहस्थाश्रम में प्रवेश कराया जाता है तो वह योगिनी उनमें आसक्ति का भाव जगाती हैं। दूसरी मान्यता है ये चारो मिलकर वर-वधू को बुरी नजर या जादू-टोने से रक्षा करती हैं। इससे सम्बन्धित गीत दृष्टव्य है-

थिकहुँ बंगालिन बसी बंगला
सुरपुर सँ आएल छी
सुखले नदिया नाव बहाओल
तरहथ पर जे दही जनमाओल
कोठी कन्हा वरद घुमाओल
दूल्हा पुत्त सारि उपजाओल।[4]

Scanned with OKEN Scanner

चारूकात चारू बहिन जगमग छथिन्ह हे
कोबर लिखल छल नैना योगिन हे
ई अहाँ बुझू पाहुन रक्षक छथिन्ह हे
डीठ-मूठ बचेने रहती नैना योगिन हे।[5]

कोहबर के केन्द्र में बना पुरैन स्त्री के गर्भाशय का प्रतीक है। इससे जुड़ी दस गोल-गोल आकृतियाँ संतान की प्रतीक हैं। अर्थात दूधो नहाओ पूतों फलो की अवधारणा को इस चित्र के माध्यम से प्रकट किया जाता है। इससे सम्बन्धित गीत की एक पंक्ति दृष्टव्य है -

पुरैनिक दहे-दहे फूल फुलिए गेल
आओर फुलए कचनार हे
ताहि तर लुबधल दुल्हा से कोने दुल्हा
लुबुधि रहल छव मास हे।[6]

बांस पुरूष का प्रतीक है। मान्यता यह है कि जिस प्रकार बाँस की जड़ें जल्दी नष्ट नहीं होती वैसे ही नवविवाहित वर का वंश भविष्य में फलता-फूलता रहे।

नव-नवग्रह सूर्य-चन्द्रमा साक्षी के रूप में और उन से आशीर्वाद प्राप्त करने हेतु बनाया जाता है। मछली प्रजनन शक्ति का प्रतीक है। मिथिलांचल में मछली शुभ माना जाता है। यात्रा के समय इसका दर्शन शुभ होता है। चूँकि वर-वधू साथ-साथ एक नए जीवन-यात्र की ओर बढ़ते हैं अतः इसे कोहबर में आवश्यक रूप से चित्रित किया जाता है। कछुआ दीर्घजीवन और धैर्य का प्रतीक है अतः यह भी कोहबर का अभिन्न भाग होता है। कोहबर में वर-कनियाँ और सबरंग पटिया बनाया जाता है। सम्पूर्ण कोहबर को आकर्षक एवं कल्पनाशील बनाने के लिए विभिन्न तरह की चिड़िया का जोड़ा चित्रित किया जाता है। दाम्पत्य जीवन के आदर्श रहे गौरी-शंकर का चित्र भी कोहबर में बनाया जाता है। इससे सम्बन्धित गीत की एक पंक्ति -

सूतय गेला शिवशंकर दूल्हा
बाघ छाल देलनि ओछाई हे, गौरी वर कोवर
अहाँ त सूतल गौरी लाल पलंगिया
हमरा त बाघछाल आधार हे, गौरी वर कोवर
बाबा के पलंगिया प्रभु दिन दुई चारि
बाघ छाल नित अहिवात हे, गौरीवर कोवर।[7]

मिथिलांचल में जिस घर में नयी-नयी शादी सम्पन्न हुयी हो वहाँ इस कोहबर चित्र को देखा जा सकता है, और इससे सम्बन्धित गीतों को सुना जा सकता है।

सन्दर्भ सूची

1. हिन्दी साहित्य कोश, सं. डा. धीरेन्द्र वर्मा, पृ. सं.- 200
2. मिथिलाकी लोकचित्रकला-सफलताएँ- असफलताएँ-ले. अवधेश अमन, पृ.सं.- 25
3. मातृमुख से प्राप्त
4. गीत-नाद - विभूति आनंद, पृ.सं.- 169
5. गामघरक गीत - श्रीमती उर्मिला देवी - पृ.सं.- 77
6. मैथिली संस्कार गीत - सं. राधावल्लभ शर्मा- प्र. बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् - गीत सं. - 198, पृ.सं.-224
7. संस्कार गीत - सं. कामेश्वरी देवी - गीत सं. 275, पृ.सं. - 126

Scanned with OKEN Scanner

तमसो माँ ज्योर्तिगमय

भूपेन्द्र कुमार

सृजन और विनाश, आदि और अन्त के भी दो पक्ष है जिसके अन्तर्गत यदि रंगमंच पर कुछ पात्र निरन्तर एक ही लीला या अभिनय करते रहे तो व्यक्ति दृश्य-बन्ध या अन्य रंग के ढंग नहीं देख पायेगा। उसमें वैविध्य नहीं आयेगा और मंच खाली ही नहीं होगा। इसलिए विविध नाट्य प्रयोग के लिए एक अवधि होती है, उसके बाद रंग मंच जब खाली होगा तो दूसरे रंग विधान, दूसरी टोली, दूसरा अभिनेता उस रंग मंच पर अवतरित होगा और अपना अभिनय प्रस्तुत करेगा। भरत के शब्दों में इसे अवस्थानुकृति नाट्यम् कहते है। उसी प्रकार किसी जीव का आविर्भाव, किसी जीव के आदि एवं अंत से बंधा होता है, अन्यथा पृथ्वी में भी स्थान की एक सीमा हैं। कल्पना करें कि यदि मरण का विधान प्रकृति न करती तो पृथ्वी के जन्म के बाद कितने जीवों ने इसमें जन्म लिया, उनके भार से पृथ्वी समाप्त हो चुकी होती । अर्थात् पृथ्वी की भी एक समय सीमा है। कहाँ से कहाँ तक यह यदि इससे समाप्ति न हो ये अनादि हो जायेगी। अनादि का अनन्त होना अनिवार्य है, उसी प्रकार अन्त का भी कोई न कोई मूल्य है। अन्त में भी कहीं न कहीं आविर्भाव या आदि सन्निहित ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार पतझड़ के बाद नये वृत्त नयी पत्तियाँ आती है तथा पतझड़ और वसन्त का पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट होता है कि पुराने तत्वों के स्थान पर नये वृत्त अवश्य आते हैं। किन्तु इसका भी औचित्य है अपने वय से समाप्त होना, समय से समाप्त होना या आप समाप्त कर दे। कलाकार किसी अभिनय में किसी चित्त को, किसी मूर्ति को, किसी आकृति को जब रूपाकार देता है तो जब उसके सन्तोष के अनुरूप बनता है तब तो उसे रखता है अन्यथा मिटा देता है। यदि जीवन रूपी स्लेट पर या जीवन रूपी पट्टिका पर कुछ चित्र मिटाए न जाए तो समय की शिला पर मधुर चित्र "किसी ने बनाए किसी ने मिटाए" यह उक्ति चरितार्थ न होती। बुरे की समाप्ति! अन्धकार की समाप्ति! यह समाप्ति क्या है ? प्रकाश का आगमन, असत् की समाप्ति, असतों मा सद् गमय तमसो का ज्योर्तिगमय म त्योमम् अमृत् गमय,, ये दो-दो पक्ष है। इसी बीच में जिस प्रकार बुराई की समाप्ति और अच्छाई का आरम्भ हो। ये आरम्भ क्यों हो? क्योंकि अच्छे के आरम्भ में अच्छाई का साधन बनते देख व्यक्ति में उस अच्छाई का अभ्यास हो जाता है, और व्यक्ति अच्छा बन जाता है। इसीलिए अच्छाई को शास्वत का सोपान मानते हैं और बुराई को तमस का, अन्धकार का, असत का प्रतीक मानते है। उपनिषद इसीलिए कहता है असतो मा सद्गमय।

शोध छात्र, गायन विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विवविद्यालय, वाराणसी।

Scanned with OKEN Scanner

लोकगीतों में संस्कार गीतों की महत्ता

आरती मिश्रा

'लोक' शब्द का अर्थ व्यापक है। "लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है, जो अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना एवं अहंकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है।"[1]

लोक संगीत के अन्तर्गत लोक गीत, लोक नृत्य, लोक नाट्य सभी आ जाते हैं ये सभी जब मिल जाते हैं तो लोक संगीत का निर्माण होता है। भाषा के माध्यम से हम जिन भावों को नहीं व्यक्त कर सकते, उन्हें गीत-संगीत स्वरलहरियों के माध्यम से आसानी से व्यक्त किया जा सकता है। किसी भी क्षेत्र का लोक संगीत, उस क्षेत्र की संस्कृति तथा भाषा को व्यक्त करता है। लोकसंगीत मानव जीवन की अभिव्यक्ति है, मानव जीवन का दुःख-दर्द, हर्ष, विषाद, संघर्षमय जीवन इन भावों की अभिव्यक्ति इन लोकगीतों में सहज ही पा सकते हैं। लोकगीत की धुनें प्रायः छोटी होती हैं, किन्तु शब्दों का अर्थ विशाल होता है। लोक संगीत सहज होने के कारण शीघ्रता से हर उम्र के इन्सान को आकर्षित करता है, उल्लास, हर्ष, खुशी आदि के समय चंचल प्रकृति के गीत गाये जाते हैं। शोक, करूणा, विरह, विषाद आदि में गम्भीर तथा कम लय में गीत गाए जाते हैं, गीतों के भाव तथा भाषा, परिस्थिति के अनुसार बदलती रहती है। अलग-अलग भावों को व्यक्त करने के लिए अलग-अलग गीत प्रचलित है।

लोकगीतों में समाज का बड़ा ही सुन्दर तथा सजीव चित्रण पाया जाता है, माता-पुत्री, पिता-पुत्र, भाई-बहन और पति-पत्नि के पारस्परिक प्रेम का जो दिव्य वर्णन इन गीतों में मिलता है वह कहीं उपलब्ध नहीं होता। समाज के स्थिति का चित्रण इन संस्कार गीतों में बड़ा ही स्वाभाविक हुआ है। समाज के सम-विषम, सुन्दर तथा असुन्दर दोनों पक्षों का वर्णन यहां उपलब्ध है।

जन्म से मृत्यु तक के गीत इतनी स्वच्छन्दतापूर्वक प्रकट होते हैं कि मनुष्य अपने समाज और अपनी मिट्टी से अनायास ही जुड़ जाता है।

संस्कार संबंधी गीतों में जन्म, विवाह तथा दाह संस्कार गीतों का उल्लेख मिलता है क्योंकि वर्तमान समय चाहे हर्ष, उल्लास अथवा करूणा से भरे हुए हो, संगीत के बिना वे अपूर्ण होते हैं। संस्कार को सम्पन्न करते समय विशेष अनुष्ठान कर्म के साथ-साथ लोकगीतों की अहम भूमिका है। जो इस प्रकार वर्णित है:-

जन्म संबंधी गीत- छठा वेदान्त जिसे कल्प नाम से सम्बोधित किया जाता है लगभग इन्हीं ग्रन्थ सूत्रों का सार है इसी के आधार पर विभिन्न स्मृतियों की रचना हुई है। जिनमें जन्मोत्सव प्रथम संस्कार है।

1. सोहर के गीत
2. जच्चा-बच्चा
3. छट्ठी और बरही
4. पालने के गीत
5. नामकरण के गीत
6. अन्नप्राशन के गीत
7. मुण्डन के गीत
8. लोरी
9. कर्ण छेदन
10. जनेऊ के गीत, इत्यादि।

1. जन्म के इस अवसर पर जो गीत गाये जाते हैं उसे 'सोहर' कहते हैं। "बालक जन्मता है रूदन के रूप में ही सही, उसके मुंह से जो ओम् की ध्वनि प्रस्फुटित होता है, वो मानो वैदिक सामक का ओंकार

शोध छात्रा (यू. जी. सी./नेट) काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

Scanned with OKEN Scanner

है। वधू जब गर्भवती होती है उसके छठे या सातवें मास से ही कुछ रीति-रिवाज आरम्भ हो जाते हैं। जन्म से पूर्व बहन क्या चाहेगी? ये 'नेग' कहलाते है। वस्तुतः अपने एक रूप में ये गीत जन्म के बाद और नेग के अवसर पर ही गाये जाते हैं।"[2]

"एक प्राचीन मान्यतानुसार छठी का दिन सती माता का दिन होता है। बालक को ये मातृशक्ति इसी दिन शुभाशीष देने को आती है। ऐसा ग्रामीणजनों का अटूट विश्वास है।[3]"

बालक के कटे हुए केशों को उसकी बहन या बुआ अपने आंचल में इकट्ठी करती है और इसके लिए वह 'नेग' मांगती है। इस अवसर पर जो गीत गाए जाते हैं उन्हें 'मुण्डन के गीत' कहते हैं।

पुत्र जन्म के पश्चात् का 12वें दिन नामकरण किया जाता है। इस दिन गुरु या पण्डित जन्म-राशि पर विचार कर बच्चे का नामकरण करते हैं। इस नामकरण संस्कार के अवसर पर 'बधावा' गीत गाये जाते हैं।

छः माह पश्चात् शुभ समय देखकर अन्नप्राशन का संस्कार किया जाता है। वधु के मायके से चांदी के चम्मच तथा कटोरी से अन्न खिलाने की प्रथा है।

कर्णछेदन के अवसर पर सोनार बुलाया जाता है, वह सोने की कील से, बालक का कान छेदता है। इसके लिएं सोनार को 'नेग' भेंट किया जाता है, इस कर्णछेदन के गीतों में कानछेदन का उल्लेख किया जाता है।

इसके अतिरिक्त जन्म संबंधित गीतों में पालने के गीत तथा लोरी भी गाए जाते हैं। जब बालक रोता है तो मां अपने बच्चे को लोरी गाकर तथा पालने में झूलाते हुए गीत गाती है।

"वेद वाङ्गमय का विश्लेषण जिन विभिन्न माध्यमों में हुआ है उन छः वेदांगों की संरचना में से एक है उपनिषद्। आरण्यक और ब्राह्मण ग्रन्थों में भी संस्कार सम्बन्धी बातें यत्र-तत्र उपलब्ध होती है। जिनकी क्रमानुसार सूत्रमूलक व्याख्या वेदांगों में है।"[4] जिनमें जन्म संबंधी गीतों के पश्चात् विवाह संबंधी गीतों की चर्चा होती है।

विवाह संबंधी गीत

मानव जीवन में किशोरावस्था के पश्चात् एक ऐसा अवसर आता है, जब परस्पर अपरिचित नर-नारी का सुमधुर गठबंधन होता है, इस मधुर संयोग के लिए अनेक कार्यक्रम और रीति-रिवाज काफी समय पहले से ही आरम्भ हो जाते हैं, वर-वधू पक्ष दोनों परिवारों के निकट सम्बन्धी इस कार्यक्रम में अपना-अपना योगदान भी देते हैं, और आनन्दानुभूति का लाभ उठाते हैं।

हर क्षेत्र में हर जाति ही परम्पराओं में इस मधुर मिलन प्रक्रिया को विशेष महत्व प्राप्त है। विवाह के गीत वर और कन्या के घरों में गाए जाते हैं, जिस दिन वर का तिलक चढ़ता है उस दिन से इन गीतों का आरम्भ हो जाता है। विवाह के गीत को दो वर्गों में विभाजित किया जाता है।

विवाह सम्बन्धी गीत-

कन्या पक्ष के गीत	वर पक्ष के गीत
1. सगाई के गीत	1. तिलक के गीत
2. बन्नी सम्बन्धित गीत	2. सगुन के गीत
3. उबटन के गीत	3. भत्तवान के गीत
4. मटियाने के गीत	4. हरदी के गीत
5. मेंहदी के गीत	5. कोहबर के गीत
6. माढ़वा चढ़ने के गीत	6. कंगन छुड़ाई के गीत
7. द्वारचार के गीत	7. इमली घोटाई के गीत
8. गारी के गीत	8. नकटा
9. कन्यादान के गीत	9. मण्डप के गीत
10. फेरे के गीत	10. बारात प्रस्थान के गीत
11. मात -पूजा	11. सेहरा के गीत
12. सिन्दूर दान	
13. विदाई के गीत	

मृत्यु सम्बन्धी गीत- लोक साहित्य में मृत्यु का अभाव पाया जाता है परन्तु अवधी में मृत्यु गीत भी गाये जाते हैं। पति के मृत्यु के पश्चात् विधवा

Scanned with OKEN Scanner

कन्या को उसके माता, पिता, भाई, भाभी सभी समझाते हुए सान्त्वना प्रदान करते हैं। परन्तु वह दुःखी विधवा कहती है कि आपको मेरे दुःख का अनुभव नहीं। मेरे लिए अब संसार के सभी सुख दुर्लभ हो गए हैं।

"कुछ गीत ऐसे होते हैं जिनमें मृत व्यक्ति के गुणों की प्रशंसा और उसकी मृत्यु से उत्पन्न आर्थिक कष्टों का आरूणिक वर्णन किया गया रहता है।"[5]

मृत्यु, मानव जीवन का अन्तिम संस्कार है इस अवसर पर जो गीत गाये जाते हैं उनमें विषाद और दुःख का सागर उमड़ पड़ता है। यह कितनी मर्म भेदी उक्ति है। विधवा स्त्री का जीवन क्या है? शोक और दुःख की महती कथा है। गुप्तजी के शब्दों में-

"विधवा जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आंचल में है दूध और आंखों में पानी।।"

आज लोकसंगीत किसी परिसीमन के अधीन नहीं है। जनमानस के लहू में इस तरह रच बस गये हैं कि विज्ञान ने लोकगीत के प्रचार-प्रसार में भरपूर सहयोग दिया है। परन्तु कभी-कभी पाश्चात्य संस्कृति भारतीय संस्कृति पर हावी प्रतीत होती है। यह हमारे लोकसंगीत का पतन है। आवश्यकता यह है कि इस लोकसंगीत का संरक्षण किया जाए जिससे हमारी आने वाली पीढ़ियां इसका रसास्वादन कर सके।

सन्दर्भ सूची

1 पूर्णिमा श्रीवास्तव, लोकगीतों में समाज, पृष्ठ 9-10
2 पुष्पा शर्मा, लोकगीतों में नाद-सौन्दर्य,पृष्ठ 116
3 पुष्पा शर्मा, लोकगीतों में नाद-सौन्दर्य,पृष्ठ 122,
4 पुष्पा शर्मा, लोकगीतों में नाद-सौन्दर्य,पृष्ठ 129,
5 डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय, हिन्दी प्रदेश के लोकगीत, पृष्ठ 285

Scanned with OKEN Scanner

लोक संस्कृति, लोकसंगीत व बंगला लोकसंगीत भावाई-

प्रो॰ लिपिका दास गुप्ता

मानव जन्म के पश्चात एक विशेष पारिवारिक परिवेश में अपने को सुविकसित करता है। वैदिक काल से ही सृष्टि के साथ ही प्रकृति में निरंतर परिवर्तन कालानुक्रम से स्वाभाविक गति में होता चला आ रहा है। मानव जन्म पुनः मानव गोष्ठी और ग्राम का स्वरूप निरंतर विकास की प्रवाह को स्पष्ट करता है। ग्राम का अर्थ है, एक निर्दिष्ट जनसमूह का निवास स्थान। एक सुबृहत जनबस्ती में मानव जब परस्पर सह अवस्थान और सहयोग से जीवन को व्यवस्थित रूप में अग्रसरित करता है तो वहीं समाज के रूप में अभिहित होता है। या दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है। जब एक बृहत्तर सनसमष्टि जिसमें कई परिवार एक साथ मिलकर आपसी सहयोग सद्भावना से विविध कर्म संपादित करते हैं। सुख-दुःख हर स्थिति में विभिन्न प्रथा और दैनन्दनीय क्रियाकलापों को संपादित करते हैं वह समाज कहलाता है। समाजशास्त्रीय विविध रूप में समाज को अभिहित करते हैं जैसे गिडिंग्स के मतानुसार "Society is the union itself, the organization, the some of formal relation in which associating individuals are bound together" अर्थात् समाज एक विस्तृत संगठन है। ए.डब्ल्यू. ग्रीन के मतानुसार "A society is the largest group to which any individuals belongs" अर्थात् समाज वह समूह है जिसमें हर एक सम्मिलित है। लेपियार के मतानुसार "Society does not refer to group of people but only to the complex pattern of norms of interaction arising among them" अर्थात् कुछ निर्दिष्ट प्रथा और सामाजिक जीव समूह की परस्पर साम्यता मूलक क्रियाकलाप समाज को चिन्हित करता है। निर्दिष्ट कुछ प्रथा आचार-विचार, रीति-नीति तथा उनके ग्रहण और विसर्जन की दृष्टि भंगी भोजन वस्त्र सांस्कृतिक क्रियाकलाप इत्यादि के माध्यम से समाज के व्यक्ति वंश परंपरा से एक सुदृढ़ बंधन से एक दूसरे के साथ संबंद्ध होते हैं। इसी क्रम में समाज वैज्ञानिक मैकाइवर समाज को परिभाषिक करते हुए स्पष्ट करते हैं कि "Society is the system of uses and procedure of authorit and mutual aid of many grouping and divisions and of control of human behaviour and liberties" अर्थात् कुछ निर्दिष्ट प्रथा और जीवन चर्या की दृष्टि से ही समाज को जाना जा सकता है। एवं सामानान्तर रूप से प्रथाओं की अंतर से ही एक समाज दूसरे समाज से भिन्न हो जाता है।

कोई भी समाज किसी विशिष्ट जन समष्टि की कतिपय मौलिक प्रयोजनों के आधार पर निर्मित होती रहती है। इन प्रयोजनों को आत्मिक और प्राकृतिक आवश्यकताओं की निवृत्ति का निरंतर अनुसंधान रहता है। मानव अपनी देह रक्षा दैहिक प्रयोजनों की निवृति के साथ सुरक्षा और समानान्तर रूप से आत्मिक शांति और निश्चिन्तता को निरंतर साधित करने में प्रयासरत रहता है। मानव जब समूह में रहकर उक्त सभी आवश्कताओं को सम्पूरित करता है तो वह स्वतः कुछ नियत क्रियाकलापों के माध्यम से अपनी जरूरतों को संसाधित करता है। मानव की विभिन्न क्रियाकलाप प्रथा के रूप में

विभागाध्यक्ष, संगीतशास्त्र विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी विश्वविद्यालय, वाराणसी

Scanned with OKEN Scanner

प्रतिस्थापित हो जाता है। प्रसंगतः उल्लेखनीय है कि समाज वैज्ञानिक मैकाइवर के मतानुसार "Society with all the tradition the institution the equipment provides a great changefull order of social life arising come physical as well as mental needs of the individuals" विभिन्न प्रथाओं का निर्माण व्यक्ति, गोष्ठी, सम्प्रदाय, समाज और जाति के परस्पर सहसम्बन्ध नैतिक बोध संस्कृति धर्म, आर्थिक और राजनैतिक कारणों से नियंत्रित होती है। कुछ प्रथा किसी विशिष्ट गोष्ठी के द्वारा निर्मित होते हुए कभी-कभी स्थायी कानून या जीवन का अनिवार्य अंग बन जाता है और कुछ प्रथाएं समाज या गोष्ठी में निरंतर प्रवाह में रहते हुए भी नवीन-नवीन स्वरूप में परिलक्षित होती है। संभवतः यही कारण है कि समाज वैज्ञानिक मानते हैं कि सामाजिक विधि मान्यताएं ही प्रथा बन जाती है। प्रथा मानव का आदत नहीं बल्कि जीवन का एक अभिन्न अंग बन जाता है। यह प्रभाएं ही कलाकान्तर में लोकाचार्य या लौकिक आचरण के रूप में विभिन्न गोष्ठियों कराती है। किसी भी गोष्ठी के सामाजिक जीवन की विशेषताएं उस गोष्ठी की विविध लोकाचारों में परिलक्षित होता है। जब यह लोकाचार्य एक प्रान्त या देश की परिधि में व्यवस्थित रूप से व्याप्त हो जाती है तो वह देशाचार का स्वरूप ले लेता है।

मानव स्वभाव से ही समूह में रहने वाला जीव है। पहले वह परिवार में तदनन्तर अपने पारिपार्शिक परिवारों या जन समाज में सम्मिलित होता है। इस प्रकार परिवार से सामाजिकता की ओर अग्रसरित जीवन ही संस्कार या संस्कृति को परिपुष्ट करता है।

संस्कृति शब्द का अर्थ है, विविध प्रकार के आचरण, शिष्टता, शोभना आचरण इत्यादि के माध्यम से किसी भी समाज की व्यवहारिक और मानवीय संवेदनाओं की कलात्मक वृति का संप्रेषण की वृति। मानव के विभिन्न कालानुक्रम में जीवन यापन की विभिन्न गतिविधियों की एक सुव्यवस्थित प्रतिबिम्ब ही संस्कृति का द्योतक है। मानव जीवन की प्रारंभिक अवस्था में सभा समिति प्रतिष्ठान और संगठन इत्यादि समुदायी वाची शब्द का विश्लेषण वैदिक साहित्य में ही उपलब्ध है। जब एक समूह में रहने की वृति मानव में पनपा तो जीवन के विविध आयामों में अनुशासन की दृष्टि से विविध विधि-विधान की मान्यता प्रारंभ हुयी। सिर्फ भोजन, वस्त्र और आवास की आवश्यकता पूर्ण करना तो प्राथमिक उद्देश्य होते हुए भी हर स्थिति में आपसी सद्भाव और सद्गुणों के आदान-प्रदान से मानवीय वृतियों को एक सौन्दर्य साधित स्वरूप में प्रतिस्थापित करना ही किसी भी गोष्ठी या समाज की संस्कृति के रूप में प्रतिपादित होता रहा है और यह संस्कृति पीढ़ी दर पीढ़ी सामान्य परिवर्द्धन और परिवर्तन के साथ विविध गोष्ठी या समाज की संस्कृति के रूप में परिचित हुयी। पाश्चात्य मतानुसार संस्कृति का प्रतिशब्द कल्चर है। जर्मन भाषा में कूल्टर, रसियन कुल्तुरा और लैटिन में कुल्तुर शब्द उक्त तीन स्थान की कल्चर शब्द का मूल शब्द स्वरूप है। लगभग हर एक रूप में कुल्तुर का अर्थ खेती से संबंधित है। जो कुछ भी कर्पित या उत्पति भाव से युक्त वृद्धि को संकेत करता है वही कल्चर है अर्थात् विविध विधि विधान सामाजिक सम्प्रेषण में सर्वांगिण वृद्धि ही कल्चर है।

संस्कृति में केन्द्र बिन्दु लोक ही है। मानव की स्वभाविक समृद्धि में सहायक क्रियाकलापों की कलात्मक अभिव्यक्ति ही लोकसंस्कृति है। जिसे विद्वज्जनों ने विविध स्वरूप में प्रस्तुत किया है। भारत के विभिन्न प्रांतों में विविध लोक संस्कृति स्वाभाविक रूप से परिलक्षित होती है। और लोकजीवन की विभिन्न रीति-रिवाज, उत्सव, सुख दुःख हर आयाम में लोकगीत स्वाभाविक रूप से परिलक्षित होता है।

सांस्कृतिक गतिविधियों में बहुआयामी स्वरूप सहित बंगाल का लोकसंगीत बांगला/मानस की अनुपम कृति है। बांगला लोक संगीत भवाई एक अनन्य मानवीय संवेदनशील भावनाओं की कड़ी है।

संदर्भतः उल्लेखनीय है कि 12वीं शताब्दी से 18वीं शताब्दी तक बंगाल के लौकिक गीतों को विशेष रूप से चिन्हित किया जा सकता है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह प्रमाणित है कि बंगाल

Scanned with OKEN Scanner

का ताम्रलिप्त या तमलुक स्थान एक अत्यंत प्रतिष्ठित बंदरगाह रहा। यहां दक्षिण पूर्व एशिया के बालि, सुमात्रा, जावा, कम्बोडिया, थाइलैण्ड आदि स्थान से विविध प्रकार के मानव का आवागमन निरंतर होता रहा है। कहीं से भी विदेशी ताम्रलिप्त के पथ से भारत में आते तो स्वाभाविक रूप से बंगाल में अपनी सभ्यता को तत्कालीन बंग्ला समाज से आदान-प्रदान करते। बंगाल में प्रारंभ से ही बौद्ध सम्प्रदाय का अत्यंत प्रभाव रहा है। बौद्ध ग्रंथों में सर्वप्रथम बौद्धसहजिया मतानुसार तीन प्रकार के साधन विधि का उल्लेख है। प्रसंगतः उल्लेखनीय है कि बौद्ध पद चर्या गीत में भुसुकपाद के चर्यापद में तीन साधन पथ अवधुति, चण्डाली और बंगाली का उल्लेख है। ऐसी मान्यता है कि बौद्ध सहज मत में सर्वाधिक प्रचलित साधन पथ बंगाली ही रही और इस सम्प्रदाय के मानने वाले बंगाली कहे जाने लगे। और धीरे-धीरे यह एक जाति विशेष के रूप में प्रतिष्ठित हो गए। यह सर्वजन विदित है कि बंग्ला भाषा का आदि स्रोत या मूल ग्रन्थ चर्या गीतों में प्रचलित भाषा ही है और चर्या गीत ही बंग्ला लोक समुदाय की प्रथम गेय लोक संगीत प्रकार है।

तदनन्तर भिन्न-भिन्न प्रान्त के लौकिक भाषा और जनजीवन के दैनिक जीवन से सन्दर्भित व्यवहारिक क्रियाकलापों पर विभिन्न उत्सव आदि में गेय गीत के लोक संगीत के रूप में परिचित होती है। सन्दर्भतः उल्लेखनीय है कि अफ्रीका से आकर नीग्रो जाति के लोग भारत के विभिन्न स्थानों में रहने लग गए। यह मुख्यतः अण्डमान निकोबार, कोचिंग, त्रिबंकूर, बिहार और आसाम में बसे हुए थे। तदनन्तर आदि आस्ट्रेलाइड और पोट्रोआस्ट्रेलाइड जाति के लोग भारत में आये और पश्चिम बंगाल, दक्षिण भारत और झारखण्ड के आसपास रहने लग गए। इन सब जातियों के लोकाचार्य गीत संगीत का प्रभाव प्रान्तीय गीतों में दिखता है। इसके अतिरिक्त मौंगोलिय जाति उत्तर पूर्वांचल भूमध्य सागरीय प्रान्तों से मानव समुदाय कर्नाटक, तमिल, पंजाब, सिन्धु, राजपूताना और उत्तर प्रदेश के पश्चिमांचल में रहने लग गए। इसके अतिरिक्त वैदिक आर्य जाति भी पंजाब, राजपूताना और उत्तर पश्चिम प्रदेशों में रहने लग गए। इस प्रकार भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्त में विभिन्न प्रकार की सभ्यता संस्कृति का विकास हुआ। और मानव स्वभाविक रूप से आनन्द उत्सव गीत संगीत में अपनी संस्कृति को पल्लवित करते रहे। भारतीय परिप्रेक्ष्य में कृषि और पशुपालन ही मानव का प्रमुख आजीविका रही। इसलिए स्वाभाविक रूप से गीतों में भी इन्हीं विषय वस्तुओं का प्रभाव दिखता है। इसके साथ समाज को धार्मिक मान्यता और रीति-रिवाजों का भी प्रभाव संगीत में होना अत्यंत स्वाभाविक है।

भावाई -

बंगाल के उत्तरी भाग कूचबिहार, जलपाईगुड़ी, पश्चिमी दिनाजपुर, इत्यादि स्थान में प्रचलित लोकसंगीत भावाई नाम से परिचित है। आसाम की कामरूप अंचल से संदर्भित यहां के आदिवासी जन बोड़ो नामक इण्डोमंगोलयन या केरात जाति के वंशज माने जाते हैं। इन्हें प्रचलित भाषा में कोच भी कहा जाता है। यह मूलतः हिन्दू धर्म माननेवाले होते हैं। इनकी भाषा में कामरूप के भाषा का भी बहुत प्रभाव दिखता है। इनका समाज मातृ तांत्रिक है। इस प्रान्त की प्रचलित लोक संगीत भावाई नाम से प्रचलित है। यह मूलतः प्रेमगीतियां हैं जिसमें स्त्री हृदय की विभिन्न मानसिक दशाओं का चित्रण किया गया है।

भावाई शब्द भाव निहितार्थ अभिव्यक्ति को स्पष्ट करता है। बंग्ला में स्त्री-पुरूष के प्रेम संबंध को भाव प्रतीक शब्द से अभिहित किया जाता है। इसलिए भावाई भी प्रेम संबंधित गीत है। कुछ विद्वज्जनों का मत है। बंग्ला में 'बाओ' शब्द का अर्थ है 'हवा', विभिन्न प्रकार के मानव समुदाय का उत्सव से प्रेरित मधुर गीत जब हवा के माध्यम से बहकर कानों को तृप्त करता हो वह बावाईया अर्थात् हवा में तैरकर आने वाला कहलाया। जिसे कालान्तर में 'बावाईया' से 'भावाईया' नामकरण किया गया। इसके अतिरिक्त ऐसा भी माना जाता है कि कुछ बिहार आदि उत्तर बंगीय प्रान्त में नदियों का बाहुल्य है और वहां छोटी-छोटी नौका ही आवागमन का साधन है, जिसे भाउले कहा जाता है

Scanned with OKEN Scanner

और जब स्त्री पुरूष में भाव प्रेम संबंध स्थापित होता है तो वे इन छोटी नाव में अपनी प्रेमी-प्रेमिका से मिलने जाते है और उस समय गाने वाले गीत ही भावाई के रूप में प्रचलित है।

इस प्रकार भावाई गीत के विषय में नाना प्रकार लोक श्रुति प्रचलित है। भावाई गीत लगभग पांच प्रकार से गाने की परिपाटी है -

1. चितान भावाई - इस गीत में विरह के स्वरूप का विवरण गेय पद में स्पष्ट होता है।

2. क्षीरोल भावाई - बंगाल में लोक संगीत में दोतारा वाद्य यंत्र का बहुल प्रचलन है। दोतारा बजाने की एक प्रकार ढांग के नाम से प्रचलित है जिन विरह गीतों में दोतारा क्षीरोल वादन विधि से बजाया जाता है वह विरह गान क्षीरोल भावाईया कहलाता है।

3. दोरिया या दिघोल नाशा भावाई - भावाई का यह प्रकार बहुत ही अनोखा है इसमें गीत को खींचकर स्वरों के माध्यम से स्पष्ट किया जाता है। इन गीतों का मुख्य विषय विरह से है। स्वरों के पुकार अंश अत्यंत दीर्घ श्वास प्रक्रिया के माध्यम से गाने की परंपरा है।

4. गौड़ान भावाई - इस गीत में अत्यंत सांकेतिक भाषा में स्त्री हृदय की विरह वेदना को स्पष्ट किया जाता है। यह भी विरह गीति हैं

5. मोहीशाली भावाई - इस प्रकार के गीत में पशुपालक मुख्य रूप से गाय, भैंस पालने वाले पशुपालकों की पत्नी या प्रेमिका की प्रेमगीत गान का मुख्य विषय है। इसमें दोतारा वाद्य यंत्र का प्रयोग होता है।

मानवीय संवेदनशील प्रेम कथाओं के अतिरिक्त भावाई गीतों में ईश्वरीय प्रकाश और प्रभाव की महिमा भी विस्तृत रूप से स्पष्ट किया जाता है। यह गीत हिन्दु, मुसलमान दोना सम्प्रदाय के आध्यात्मिक परिदृश्य को ही सांकेतिक भाषा में स्पष्ट करती है।

कभी कभी भावाई गीतों की विषयवस्तु चित्तविनोदन हेतु हल्के पदों का गान से भी किया जाता है। इन नानाबिद् सामाजिक घटनाओं का विवरण भावाई लोकगीतों के माध्यम से गाने की परिपाटी है। कभीकभी जनसमुदाय को कुछ हल्की और अत्यंत कामनापूर्ण छोटी-छोटी गीतों को भी गाया जाता है। जिसे चटका कहा जाता है।

विभिन्न मानवीय संवेदनाओं से पूर्ण भावाई गीत आध्यात्मिक भावना को ही स्पष्ट करता है। जलपाईगुड़ी और कुछ बिहार अंचल के कतिपय किसान सम्प्रदाय में परमात्मा के उद्देश्य में सांकेतिक भाषा में परमतत्वयुक्त वाणी से भी भावाई गाने की प्रथा है। परमात्मा के अनुसंधानरत यह गीत भी मानव आत्मा की परमात्मा से विरह की अवस्था को ही स्पष्ट करनेवाला है। इस प्रकार भावाई गीत उत्तर बंगाल का अत्यंत प्रचलित लोकसंगीत में प्रमुख है।

Scanned with OKEN Scanner

मधुबनी संगीत घराना

डॉ॰ शिव नारायण मिश्र

बिहार में सदियों से संगीत की धारा निरंतर बहती चली आ रही है। बिहार में बेतिया घराना, भागलपुर घराना, दरभंगा अमता घराना, मधुबनी संगीत घराना इत्यादि की अलग-अलग विशेषता रही है। बिहार के कलाकार अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अपना पहचान बना चुके हैं। यहां मैं मधुबनी संगीत घराना के क्रमिक इतिहास, विशेषता एवं वर्तमान स्थिति का वर्णन कर रहा हूं।

मधुबनी संगीत घराने का इतिहास लगभग 195 वर्ष पुराना है मधुबनी के महाराजा स्व॰ कुमार कीर्ति सिंह (जन्म 1789, मृत्यु 1858) संगीत के प्रेमी थे। जब वे छात्र जीवन में थे उस समय बनारस में आयोजित संगीत समारोह में जाकर संगीत कार्यक्रम का आनंद लेते थे। इसी क्रम में उन्होंने ध्रुपद गायक स्व॰ पं॰ मनसा मिश्र एवं स्व॰ पं॰ डीही मिश्र को अपने पुत्र के मुण्डन के अवसर पर मधुबनी राज दरबार में संगीत कार्यक्रम प्रस्तुत करने हेतु आमंत्रित किये। मधुबनी के महाराज इन कलाकारों के संगीत से प्रभावित होकर इन्हें मधुबनी में रहने का प्रस्ताव दिया एवं यहां के राज संगीतज्ञ के रूप में नियुक्त किया तथा 1815 ई॰ में मधुबनी में बाबू साहेब चौक के अपने होम स्टेट लैंड में रहने हेतु जमीन दिये तथा मकान बनवा दिये। यहीं से मधुबनी संगीत घराना की स्थापना मानी जाती है। महाराज कुमार कीर्ति सिंह इन कलाकारों को गुरू के समान मानते थे और उनसे संगीत की शिक्षा प्राप्त करते थे। स्व॰ पं॰ मनसा मिश्र के पुत्र स्व॰ पं॰ डीही मिश्र को तीन पुत्र हुए। स्व॰ पंडित खरवान मिश्र, स्व॰ पंडित गुरई मिश्र एवं स्व॰ पं॰ रामदत्त मिश्र उर्फ शिवलाल मिश्र, तीनों भाई उच्च कोटि के संगीतकार थे। ध्रुपद अंग की गायकी यहां की मुख्य विशेषता रही है इनमें संगति हेतु पखावज एवं तवला का भी वादन किया जाता था। धीरे-धीरे यह परंपरा पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती रही।

स्व॰ पं॰ खरवान मिश्र के पुत्र स्व॰ पं॰ सित्तू मिश्र अपने पिता की तरह ही अच्छे गायक हुए। ये ध्रुपद गायन के साथ-साथ ख्याल गायन भी गाते थे। इनके दोनों पुत्र स्व॰ पं॰ हीरा मिश्र एवं स्व॰ पं॰ झिंगुर मिश्र अच्छे ध्रुपद गायक हुए। मधुबनी की यह विशेषता थी कि मधुबनी के महाराज संगीत सुनने के साथ-साथ संगीत सीखते भी थे। स्व॰ महाराज गिरधारी सिंह (1864-1916) स्व॰ बाबू चन्द्रधारी सिंह (1896-1981) संगीत के अच्छे जानकार थे। इन्होंने मधुबनी संगीत घराना के राज गायक से संगीत शिक्षा प्राप्त की थी। स्व॰ पं॰ हीरा मिश्र के तीन पुत्र स्व॰ भगत मिश्र, स्व॰ पं॰ कमलेश्वरी मिश्र, स्व॰ पं॰ परमेश्वरी मिश्र अच्छे कलाकार थे। स्व॰ पं॰ हीरा मिश्र के दोनों पुत्र स्व॰ पंडित आद्या मिश्र एवं स्व॰ पं॰ शारदा मिश्र ध्रुपद गायन के साथ-साथ ख्याल गायन, भजन, लोकगीत इत्यादि बड़ी अच्छी तरह गाते थे। स्व॰ पं॰ आद्या मिश्र के तीन पुत्र स्व॰ पं॰ रामजी मिश्र, पं॰ लक्ष्मण मिश्र, पं॰ ललन मिश्र संगीत के जानकार हुए। स्व॰ पं॰ रामजी मिश्र (जन्म 1937 मृत्यु 2008) को 1954 में देश के प्रथम राष्ट्रपति डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद से संगीत के क्षेत्र में पुरस्कार एवं सम्मान प्राप्त हुआ था। आप दरभंगा में एल॰आर॰ गर्ल्स हाई स्कूल में संगीत शिक्षक थे

बाबू साहेब चौक, मधुबनी (बिहार)

Scanned with OKEN Scanner

तथा संगीत एवं नाट्य विभाग ल० ना० मि० विश्वविद्यालय, दरभंगा में संगीत विभाग की स्थापना काल में विद्वान अतिथि के रूप में संगीत की शिक्षा प्रदान करते थे। आपके पुत्र सिद्धि शंकर संगीत के युवा कलाकार हैं।

स्व० पं० गुरई मिश्र को केवल तीन पुत्री हुई। एक पुत्री मधुबनी में ही रह गई जिनके पति का नाम स्व० पं० टुन्नी मिश्र था। इनको तीन पुत्र हुए स्व० कौली मिश्र, मुरलीधर मिश्र एवं स्व० वंशीधर मिश्र। तीनों भाई अच्छे कलाकार थे। स्व० कौली मिश्र को पुत्र नहीं हुआ उनके पुत्री को एक पुत्र हुए जिनका नाम पं० कृष्णानन्द मिश्र है, जो मधुबनी के प्रतिष्ठित कलाकार हैं। इनकी पत्नी श्रीमती पार्वती मिश्र जीएमएसएस उच्च विद्यालय में संगीत शिक्षिका हैं तथा इनके पुत्र उदयशंकर मिश्रा एवं रविशंकर मिश्र मधुबनी के युवा कलाकार हैं।

ताल वाद्य की परंपरा में स्व० पं० रामदत्त मिश्र के वंशज में स्व० पन्ना मिश्र के दो पुत्र हुए। स्व० पं० नोखे लाल मिश्र एवं स्व० पं० अमृति लाल मिश्र। दोनों भाई तबला एवं पखावज में अच्छे कलाकार थे। स्व० पं० अमृति लाल मिश्र के नाती डॉ० राज कुमार नाहर पटना आकाशवाणी में कार्यरत हैं। स्व० पं० नोखे लाल मिश्र के तीन पुत्र हुए स्व० पं० हरिशंकर मिश्र, स्व० उमाशंकर मिश्र, स्व० मधु मिश्र। स्व० पं० हरिशंकर मिश्र अपने उपनाम लल्लू मिश्र के नाम से प्रचलित हुए तथा बिहार के प्रसिद्ध तबला वादक के रूप में जाने जाते थे। इनके दो पुत्र हैं जिनमें पं० शिवशंकर मिश्र सूचना एवं जन संपर्क विभाग, रांची में वरीय कलाकार के रूप में कार्यरत हैं। इनके चचेरे भाई संजय मिश्र युवा कलाकार हैं।

स्व० परमेश्वरी मिश्र के पुत्र स्व० अनंत मिश्र के चार पुत्र स्व० दुर्गा मिश्र (लखनऊ), पं० दम्मन मिश्र (खुटौना), पं० शीतल मिश्र (लखनऊ), सीताराम मिश्र (खुटौना), संगीत के क्षेत्र से जुड़े हुए है। पं० शीतल प्रसाद मिश्र, युवा अवस्था से ही लखनऊ में रहते हैं एवं वहां श्रेष्ठ कलाकार के रूप में पहचान बनाये हुए हैं। आप भातखण्डे संगीत संस्थान लखनऊ में तबला के प्रो० पद पर कार्य कर रहे हैं, आप बर्लिन, पेरिस, जर्मनी, श्रीलंका, सहित कई देशों की सफल सांगीतिक यात्रा कर चुके हैं।

स्व० शारदा मिश्र के तीन पुत्र पं० रमाकान्त मिश्र, पं० श्यामाकान्त मिश्र, पं० श्रीकान्त हैं। पं० रमाकान्त मिश्र की शादी बनारस घराने के प्रसिद्ध तबला वादक पं० गामा महाराज (रामायण मिश्र) की पुत्री श्रीमती राधा देवी से हुआ है। जिन्हें संगीत की अच्छी जानकारी है। इनके पुत्र एवं पुत्रियां संगीत से जुड़े हैं। पं० रमाकान्त मिश्र के छोटे पुत्र डॉ० शिव नारायण मिश्र संगीत से पी०एच०डी० प्राप्त करने वाले मधुबनी जिला के युवा तबला वादक है। जिन्होंने अपने मामा टॉप ग्रेड तबला वादक स्व० पं० रंगनाथ मिश्र से उच्च स्तरीय तबला वादन की शिक्षा प्राप्त की है।

इस प्रकार मधुबनी संगीत घराना की वर्तमान स्थिति का वर्णन करते हुए हम कह सकते हैं कि यहां के कलाकार अपनी 195 वर्षों से चली आ रही संगीत परंपरा को आगे बढ़ा रहे हैं जिस कारण मधुबनी में शास्त्रीय संगीत एवं लोक संगीत का माहौल बना हुआ है। मधुबनी घराना के कलाकार द्वारा संचालित जागरण संगीत कला महाविद्यालय के माध्यम से सैकड़ों छात्र प्रति वर्ष संगीत की परीक्षा में उतीर्ण हो रहे हैं एवं मधुबनी जिला के संगीत प्रतिभा को उजागर होने का अवसर मिल रहा है।

Scanned with OKEN Scanner

मिर्जापुर की अविच्छिन्न लोकगीत धारा : कजली

डॉ. ज्ञानेश चन्द्र पाण्डेय

इतिहास के आदि पृष्ठ से युगों की दूरी पर बैठकर आज के शोधार्थी द्वारा यह पता लगाना असंम्भव है कि लोक-गीत और नागर-गीत कब अस्तित्व में आये और साथ-साथ चलने लगे। पूरे भारत में आज देखें तो लोकगीत व नागर गीत करीब-करीब समानान्तर गाये जाते है। यदि कजली जैसे लोकगीत के संदर्भ में बात करें तो मिर्जापुर का नाम सामने आता है। मिर्जापुर कमिश्नरी को केन्द्र मानकर देखें तो करीब चार सौ किलोमीटर की परिधि में कजली लोकगीत की अजस्र धारा न जाने कब से बहती दिखाई देती है। यहाँ तुलना में नागर गीतों का प्रसार कम ही मिलता है क्योंकि यह क्षेत्र वन-जाति और ग्रामीण स्वरुप का है। कजली पटना, राँची, सरगुजा, रीवाँ, छत्तीसगढ़ के कुछ केन्द्र और बनारस तक, विशेष कर सावन में गायी, खेली, सुनी और देखी जा सकती है। स्थानीयता, उच्चारण-भिन्नता, कजली के रुप, वर्ण्य विषय और प्रस्तुति की शैली में बहुत फर्क पड़ जाता है जिससे पटना की कजली पटनहिया हो जाती है, देवरियां की पूर्वी, रीवाँ की दखिखनहाँ, बनारस की बनारसी और मिर्जापुर की मिर्जापुरी कजली के नाम से प्रसिद्ध हो जाती है।

मिर्जापुरी कजली की प्राचीनता की बात करें तो वह अपने भौगोलिक पुरानेपन की तरह ही छन्दो की दृष्टि से वैदिक छन्द काल के बराबर ठहरती है। पं.अहोबल ने अपने ग्रन्थ संगीत पारिजात में भी कजली को अति प्राचीन राग के रुप में स्वीकार किया है। ऋग्वेद का पृथ्वी सूक्त,यदि विश्लेषण करें तो कजली के लिये प्रेरणा का श्रोत समझ में आता है। इस क्षेत्र में कभी गायी जाने वाली, पर अब लुप्त सी हो गई अनेक कजरियों के छन्द वैदिक गान की तरह कहीं तीन स्वरों वाले रहे तो कहीं चार स्वरों वाले रहे। भौगोलिक, सांस्कृतिक परिवर्तनों के साथ-साथ स्वरों का विस्तार आज कजली में सातों स्वर अपने मन्द्र मध्य और तार के साथ बखूबी कार्य करते है। परिणामतः इसके कई नये रुप, स्वर-विन्यास एवं वर्ण्य विषयक हो गये।

मिर्जापुर में जंगल, पहाड़ और झरनों की स्तरीकृत अधिकता है जहां वन जातीय लोग भी रहते है और ग्रामीण तथा नागर जन भी निवास करते है। इनके संगम से एक मिर्जापुरी सांस्कृतिक- संकुलता बनती है, जिसका प्रभाव इस क्षेत्र के लोकगीतों पर भी पड़ा है। वैसे यहाँ के मूल लोकगीत-करमा, कहरवा, कोलदहकी, कोलदादर, डोमकच, लावनी तथा कजली आदि है। चूंकि कजली का विस्तार गायकों की संख्या की दृष्टि से बहुत अधिक है, इसलिए कजली को ही मिर्जापुर का सामान्य लोक-गायन कह दिया जाता है। इसी से लोग कहते फिरते है कि

कजरी मिर्जापुर सरनामक
कजली (कजरी) के प्रस्तुति के आयाम

कजरी के गढ़ने और गाने का आदि स्रोत कहां और कैसे शुरू हुआ-अभी खोजने को बाकी है पर आज की स्थिति देखे तो कजरी अपने विकास क्रम के सोपान चढ़ती हुयी चार आयामों में गायी जाती है। आरम्भ में कजली 'एकल-गायन' की विधा थी। आगे चलकर कजली नृत्य-गीत के रुप में बदल गई जो सावन के महीने में हरियाली तीज के आस-पास लोक महिलाओं द्वारा प्रस्तुत किया जाता है और

प्रवक्ता, कंठ संगीत, मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

आगे बढ़ने पर कजली 'गायन का खेल' बन गयी। पिछले 100 वर्षों में कजली के क्षेत्र में प्रतिस्पर्द्धा ने भी प्रवेश किया है। प्रतिस्पर्द्धा के लिए कजली के अखाड़े बनने लगे और प्रतिस्पर्द्धा में दंगल होने लगे। इस प्रतिस्पर्द्धा में स्त्रियों की संख्या में कमी आयी और पुरूषों ने मानो स्त्रियों के श्रृंगार गीत छीनकर दंगल में गाना शुरु कर दिया। अब तो वन-जातिय क्षेत्र, ग्रामीण-क्षेत्र और मिर्जापुर के विविध नगरीय क्षेत्रों में कजरी समान रुप से पहचान बना चुकी है।

मिर्जापुर के प्रसिद्ध अखाड़ो में बैरागी, शिवदास, मालवीय, बफ्फत और छविराम, मतिराम, मंत्री, कल्लू साव, इमामन, जहाँगीर, अखण्डू, मूरत हेला, लल्लन जी के अखाड़ों का नाम लिया जा सकता है। वैसे तो खाँटी कजली मूलतः श्रृंगार के संयोग और वियोग के गीतों की लड़ी किन्तु स्वतंत्रता आन्दोलन के समय भारतेन्दु हरिश्चंद्र, प्रेमधन, अम्बिका दत्त ब्यास, रसिक किशोरी और बाद में चलकर कृष्णलाल गुप्त, जय देव वर्मा, मनोहर रस्तोगी आदि ने जाने-अन्जाने इसे नागर रुप में ढालने की कोशिश की।

श्रृंगार की जगह देशप्रेम तथा अन्य समकालीन घटनाओं के वर्णन से जुड़ी कजलियां लिखी और गायी जाने लगी। ब्रज-भाषा और खड़ी-भाषा का भी प्रयोग होने लगा। इस तरह बीसवीं सदी तक कजली गायन के निम्नलिखित आयाम स्थापित हो चुके थे।

1. एकल कजली गायन
2. नृत्य गीत
3. कजली क्रीड़ा
4. दंगली कजरी

दंगली कजली को छोड़कर कजली गायन में नारियों की भूमिका प्रधान रही है ये नारी भाव के चरम संवेग के साथ कजरियां गाती थी। इनके गायन में सरलता, निश्च्छलता के साथ लोक भाषा के माध्यम से दर्द भरे स्वरों और संवेदनाओं का अकृत्रिम प्रयोग होता है। गीत के अन्त में ना, हरे रामा, साँवरिया, बलमुआ, रामा बाबा, हो रामा, विरना, झालरिया, झी झी रे, हरि हरि, झीरी झीरी गुइंया आदि टेकों का प्रयोग होता था। इनके अलावा बारे बलमू, मोरे हरी के लाल, सांवर गोरिया, रजउ आदि का भी प्रयोग होता था। शिल्प की दृष्टि से कजरी से कई भेद भी है जैसे - कजरी, उजरी, कजरा, उजरा आदि।[1]

कजरी में प्रयुक्त वाद्य-

आरम्भ के दिनों में कजरी गायन की संगति में वाद्य की ही तरह ताली और तसलों का प्रचलन था। फिर ढोल, मंजीरा, झांझ आदि भी बजाये जाने लगे। अब तो डाँडिया, करताल, नाल, सारंगी आदि यन्त्रों का प्रयोग होता है। आज आर्गन और बैंजो का भी प्रयोग आम हो गया है। प्रेमधन ने कजली के साथ बजने वाले 100 वर्ष पहले के वाद्यों की एक सूची दी है।[2] ताल में बहुधा कहरवा और दादरा के ताल ही बजते है। कभी-कभी रूपक और झपताल का भी प्रयोग होता है।

कजरी गीत के चार आयाम

अ- एकल गायन

कजली के जिन चार आयामों की चर्चा हमने उपर की है उनमें से प्रथम एकल गायन अद्भुत वियोग या संयोग से सम्बंधित पीड़ा का गायन है। ऐसा गायन बहुधा किसी कुँआरी या विवाहिता नायिका के द्वारा अकेले में किया जाता है। ऐसी कजली में मिलन की चाह या/और दूर गये पति को पाने के लालसा होती है। इन भावों को वहन करने वाले शब्दों का मार्मिक प्रयोग होता है। गाँव की भोरी नायिका कच्चे चूल्हे पर बनाते समय धुँए से रोती हुयी आखों के बीच अथवा अकेले जाँता (चक्की) पीसते-पीसते बहने वाले पसीने के क्षण में डूबकर गाती है।

उदाहरण- परिस्थिति है---------अकेली नायिका———चलता जाँता——पति मिलन की चाह।

फेरि फेरि घरैली बदरियां हो ना
सईयाँ अबहूँ न लेहला खबरिया हो ना
रात दिन जागि जागि रहिया निहारी हम
आज आवा न त बीति ई उमरिया हो ना।

Scanned with OKEN Scanner

ब- कजली नृत्य

यह एकल और सामूहिक दोनों प्रकार का होता है। नायिका अपनी वेदनाओं, संवदनाओं को खीचते स्वरों और शरीर संचालन के माध्यम से प्रस्तुत करती है। यह नृत्य अत्यधिक हृदयस्पर्शी और उत्तेजक होता है। झूम-झूम नाचने से झूमर, लेट-लेट नाचने से दुनमुनियां व चार-चार के जोड़े में गाने से चउलर कहा जाता है।

उदाहरण-

(1) झूमर नृत्य गीत का उदाहरण

सइयाँ सउती के गलियाँ भुलाई गइलै ना
मोरी देहिया के कली मुरुझाई गईलै ना

(प्रचलित परम्परागत गीत)

(2) चउलर नृत्य गीत का उदाहरण

अइसन चुनरी रंग रंगरेजवा,
पहिरि के राधा होइ जाऊँ
तजि के लाभ लोभ यही जग के
अपने किशन की होइ जाऊँ
नेह नात पद यौवन खातिर
जनम-जनम में नाची जी
तन से प्रिय के रही मैं मन
से कबहूँ न साँची जी।
त अइसन रास रचा दे
मोहन साँची राधा होइ जाऊँ(टेक)

स- कजली सामूहिक क्रीड़ा के रुप में

भारत में भक्ति और श्रृंगार रस की निजी अनुभव को उपर उठाकर सामाजिक सामूहिक अनुभूति से जोड़ने के प्रयोग सदा से होते रहे है। श्रद्धा की व्यक्तिगत अनुभूति को लीलाओं का रुप दे दिया गया। रामलीला, कृष्णलीला, विष्णुलीला आदि इसके उदाहरण है। ठीक इसी तरह लोक के स्तर पर कजली के छन्द में बंध गयी व्यक्तिगत भावनाओं को कजली के सामूहिक खेल में बदल देने का प्रयोग हुआ है। तभी से "कजली गाने" की जगह "कजली खेलने का मुहावरा प्रसिद्ध हो गया। कजली खेलने का प्रमाण अग्रलिखित गीत में देखिये।

"कइसे खेले जइबू सावन में कजरिया
बदरिया घेरि आइल ननदी"

अथवा

"कजरी खेले आवा, पिया ससुरार में
सावनी बहार में ना"

सावन में कजरी के होने वाले खेल को मिर्जापुर और बनारस के लोग ललचाकर देखते और सम्मान देते थे। कभी कजरी खेलने की तुलना रामनगर की राम लीला से की जाती थी। **यथा -**

दसमी रामनगर की भारी, कजरी मिर्जापुर की न्यारी
बिरना देखा जाइके दूनो गुलजार बा
अजब बहार बा ना।

यह खेल चौराहे पर, बावली, सरोवरों के किनारे पर तथा नीम की छैयाँ के तले सावन में होता है। यह इतना मोहक है कि दूर-दूर के लोग अपना गाँव नगर छोड़कर इसे देखने व इसमें भाग लेने के लिए आते है। बनारस के लोगों का तो दौड़-दौड़ कर आना विस्मयकारी ही था जिससे दुःखी होकर के बनारसी नायिकायें अपने प्रेमी अथवा अपने पति को ताने देती थी कि-

मिर्जापुर के कइल गुलजार हो
कचौड़ी गली सून कइल बलमा
खेलबऽ सऽवतिया संग तू त कजरिया
बिरहा के आग हम जरली साँवरिया

द- दंगली कजली-

यह पिछले पचास से सत्तर वर्षों के बीच का विकास है। इसमें बहुधा स्त्रियों का स्थान पुरूष ले लेते है वाद्य यन्त्रों का पूरा प्रयोग होता है। इसमें ढोलक, नाल, करताल और हारमोनियम की प्रधानता रहती है। कम से कम दो प्रतिस्पर्द्धी मंच आमने-सामने इतनी दूर पर सजाये जाते है कि प्रतिभागी एक दूसरे मंच के प्रतियोगियों की गतिविधि और गायकी देख सुन सकें। इसमें शब्द, स्वर, वर्ण्य विषय, किसी कथा क्रम को लेकर पुरानी कजरियों के जोड़े बैठाये जाते है प्रश्न पूछे जाते है। कई बार मंच पर ही नई कजरी बनाकर गानी पड़ती है। सामान्यतया श्रोता ही फैसला करते है।

Scanned with OKEN Scanner

कजली पर अन्य लोकगीतों का प्रभाव

पुरानी और पारम्परिक कजरियों की संख्या घट रही है जो नई बन रही है उन पर समकालीन घटनाओं का प्रभाव पड़ रहा है। मिर्जापुर जनपद में गाये जाने वाले करमा इत्यादि अन्य लोकगीतो का भी स्वरों और नृत्य शैली की दृष्टि से प्रभाव बढ़ रहा है। बिरहा और आल्हा का प्रभाव पड़ रहा है। श्रृंगार के संयोग और वियोग पक्ष के साथ कही-कही चीन, पाकिस्तान, बांग्लादेश के युद्धों का भी वर्णन मिलता है जिनमें वीरों के बलिदान की झलक मिलती है। भोजपुरी व अवधी लोकगीतों का भी प्रभाव है सिनेमा के धुनों का भी प्रभाव है। इतना होने पर भी आधुनिकता की आँधी में कजली के गायकों, कवियों, श्रोताओं और आयोजकों में कमी आ रही है। कुछ अवसरों को छोड़कर पुरस्कार पाने व रेडिओं, टी.वी. पर सुने और देखे जाने के लिए ही कजली का आयोजन होता है।

कुछ अप्रचलित/प्रचलित कजरी की स्वरलिपियाँ-

वैसे तो कजली विभिन्न छंदो में होती है जिनमें अनेक प्रकार के वार्णिक और मात्रिक भेद हो सकते है। स्वरों के भी सधे प्रयोग होते है जिन्हे स्वरलिपियों से समझा जा सकता है। अग्रलिखित उदाहरण देखें-

अ- ऊँची देखि बखरी बियहल भईया बिरनू।
भीतराँ मरमियाँ नाही जनलऽ भईया बिरनू।
नौ मन पीसी कूटी नौ मन पोई रोटी।
तबहूँ कलेउवा मोहाल भइया बिरनू।

स्वरलिपि–

सा - र	म - म	प - प	प - प
ऊँ ऽ च	दे ऽ खि	ब ऽ ख	री ऽ बि
प प ध	प - म	म - ग	रे ग सा
य ह ल	भै ऽ या	वि ऽ र	ना ऽ कि
×	0	×	0
स - र	रे म ग	म म ग	रे ग सा
भी ऽ त	रा ऽ म	र मि या	ना ऽ हि
सा सा र	रे रे ग	रे - सा	सा - सा
ज न ल	भ इ या	वि ऽ र	नू ऽ कि
×	0	×	0

सा सा रे ग	रे सा सासा	सा-रे रे सा	सा सासा-
सा रे रे म	म ग सासा	सासा रे रे	सा सा
ऊँ ची देखि	बख री वि	यह लाभैया	वि र नू ऽ
भि तरा म	र मि यां न	जन लभैया	धि र
×	0	×	0
सा रे म म	प - प -	म ग रे ग	′सा सा सा
रे रे म म	ग ′सा -	सा रे रे सा	सा - न व
म न	पीसीं कूटी	नव म नपो	ई रो टी त
ब हुं क	ले उ वामो	हा ल भैया	वि र
×	0	×	0

ब- मोरे बाबा रे! गउवा वोही से जोन्हरी बोआव।
मोरे बाबा रे! ओही कूल बोरना से चिरई हंकाव।
मोरे बाबा रे! जियरा डाहेसि लरिकैयवाँ हमार
मोरे बाबा रे !

स्वरलिपि-

सा - सा
मो ऽ रे

सा - सा रे -- म - न म म ग सा - सा
रे ग सा सा - सा
बा ऽ बा रे ऽ ऽ ग उ वा तो हि से जो न्ह
री ऽ ऽ बो वा ऽ व
× × × ×

सा - रे म -- प -- प - प म - प म
- ग सा - सा रे ग सा
ओ ऽ हि कु ऽ ल बो ऽ र ना ऽ से ची
ऽ र यी ऽ ह का ऽ व मो ऽ रे
× × × ×

स- जय जय प्यारी राधा रानी, जय जय मनमोहन ब्रजराज।
दोऊँ चकोर, दोऊँ चन्द, दोऊँ धन, दोऊँ चातक सिरताज।
दोऊँ अमल कमल, अलि दोऊँ, सजे सजी के सांज।
दोऊँ प्रेमभाजन, दोऊँ प्रेमी, दोऊँ रूप जहाज।
सुकवि प्रेमधन के मिली दोऊँ सबै सँवारो काज ।।

Scanned with OKEN Scanner

स्वरलिपि-

स्थाई

नि़ सा रे रे रे प म - ग म ग रे सा - नि़ -
ज य ज य प्या-री - रा ऽ धा ऽ रा ऽ नी ऽ
× ×

नि़ सा रे रे ग ग म - ग रे सा नि़ सा - - सा
ज य ज य म न मो ऽ ह न वश ज रा ऽ ऽ ज
× ×

अन्तरा

सां सां सां सां रे रे ग ग म - म म ग रे ग ग
दो उ च को ऽ र दो उ चं ऽ द दो उ ऽ ध न
× ×

ग म प - प प म ग गम प -प म ग रे रे
दो उ चा ऽ त क सि र ताऽ ऽ ऽ ज ज य ज य
×

शेष पंक्तियां भी इसी प्रकार से गायी जायेंगी।

संदर्भ :-

1. प्रेमधन सर्वस्व भाग एक पृष्ट 53
2. *जुरि जमात गूजरी जमुना कुल कदम कुंजन में राम।*
हरि हरि हिल मिल खेले कजरी राधा रानी रे हरी।
कोउ मृदंग मुरचंग चंग लै, सारंगी सुर छेड़े रामा।
हरि हरि कोऊ सितार, करतार, तमूरा आनि रे हरी
कोउ जोड़ी टनकारैं कोउ घुँघरू पग झनकारैं रामा।
हरि हरि नाचै कितनी भाँति जो मन मानी रे हरी।

Scanned with OKEN Scanner

व्यवसाय गीतों के संरक्षण एवं संवर्द्धन के उपाय

लीली कुमारी

मानव ही यथार्थ में अपनी संस्कृति का धारक होता है तथा वाहक भी। सभ्यता एवं सामाजिक आचरण उत्तरदायित्व संगठन आदि से संबंध रखती है, वहां संस्कृति मानसिक चेतना और भावना, सौन्दर्यानुभव और अध्यात्मिक वृतियों को प्रकट करती है। मानव की इन वृत्तियों का प्रस्फुटन उसकी रीति-नीति, धर्म-कर्म, भाषा-साहित्य, संगीत-नृत्य आदि कलाओं में होता है।

व्यावसायिक गीतों में आर्थिक पक्ष की झांकी देखने को मिलती है। गीतों में सोने की थाली, आभूषणों की प्रचुरता आदि का संकेत मिलता है। अतिथि के पधारने पर सोने की थाली में भोजन परोसने की चर्चा समाज का वैभव विलास रूप आर्थिक सम्पन्नता को चित्रित करता है। हो सकता है ये चीजें समाज की केवल आदर्श कल्पनाएं रही हों, फिर भी जनमानस में ये चीजें अवश्य रहे हैं। बच्चों को झूलाने के लिए चांदी का पलंग तथा रेशम की डोर समृद्धि का द्योतक रहा है। बारातियों के खाने के लिए सैकड़ों मिठाइयों की सूची आर्थिक सम्पन्नता को स्पष्ट करता है। विशेषतः व्यवसाय गीतों में इस तरह का संयोजन जानबूझ कर किया जाता है। यजमान को समृद्धशाली, वैभवशाली, आर्थिक रूप से संपन्न बताकर ही प्रसन्न किया जा सकता है। इस प्रकार प्रशंसात्मक लहजे में गीत गाकर ही उससे पारितोषिक पाने में व्यवसाय गीतों के कलाकार समर्थ हो पाते हैं।

सामाजिक दृष्टि से व्यवसाय गीत काफी उपयोगी होते हैं, इनमें मानव जीवन का जितना सजीव और स्वाभाविक चित्र उपलब्ध है उतना अन्यत्र नहीं। व्यवसाय गीतों में समाज का जीवंत और स्वाभाविक चित्र उपलब्ध होता है। परिवार में प्रचलित पारस्परिक स्नेह, सामाजिक दृष्टि से व्यवसाय गीत की महत्ता बहुत ही व्यापक है। परिवार में व्याप्त पारस्परिक स्नेह, प्रेम एवं करूणापूर्ण व्यवहार हमारे मन में कभी प्रेम तो कभी करूणा का भाव भरता है। बहन का पवित्र प्रेम जहां अलौकिक आनंद प्रदान करता है वहीं पुत्री की विदाई हृदय में करूणा और ममता का संचार करता है। पति-पत्नी का अलौकिक प्रेम वर्णन भावी पीढ़ी के युवक-युवतियों को प्रेरणा प्रदान करता है। एक ओर पारस्परिक कलह, द्वेष, विरोध तथा संघर्ष का भी चित्रण होता है। समाजशास्त्र के छात्रों के लिए व्यवसाय गीतों में स्थानीय रीति-रिवाज, आचार-विचार, खान-पान, वेशभूषा, रहन-सहन आदि का वर्णन रहने से अध्ययन के लिए उपयोगी सामग्रियां मिलती है। सास-बहु का कटू संबंध, ननद-भौजाई का वैमनस्य, परित्यकता एवं विधवा की मार्मिक चित्रण आदि व्यवसाय गीतों के माध्यम से बहुत कुछ स्पष्ट होता है।

गांवों में अनपढ़ बूढ़े और बुढ़ियाँ आज इनके सबसे बड़े संरक्षक है। धीरे-धीरे ये लोग काल के गाल में चले जा रहे हैं। जिससे गांवों में गीत गानेवाले का क्रमशः अभाव होता जा रहा है। गांवों में नई सभ्यता के प्रचार-प्रसार से पढ़े-लिखे लोग इन गीतों के प्रति उपेक्षा का भाव रखते हैं जिससे वे इसे सीखने तथा गाने में रूचि नहीं रखते बल्कि इसमें अपना अपमान समझते हैं। आज की ग्रामीण पढ़ी-लिखी स्त्रियां शीघ्रता से प्राचीन रीति-रिवाज, संगीत, नृत्य आदि को भूलकर आधुनिकता की ओर दौड़ रही है।

शोध छात्रा, ल.ना.मि.वि., दरभंगा

अपने संगीत से विशेष अब विदेशी संगीत, फिल्मी संगीत आदि विशेष रूचि दिखती है। इसके फलस्वरूप मौखिक परंपरा से आता हुआ, अपने पूर्वजों के वंशगत व्यवसाय से प्राप्त ये गीत और विशाल साहित्यिक संपदा पीछे छूट रहा है। अगर यह दौड़ जारी रहा तथा इन्हें संकलित एवं संरक्षित न किया गया तो लोकगीतों का अस्तित्व मिट जायेगा और लोकगीतों में छिपी लोक-संस्कृति भी लुप्त हो जायेगी।

मिथिला की सांस्कृतिक परंपरा को आयामित करने में अवसर विशेष इन व्यवसाय गीतों की अहम भूमिका रही है। इस क्रम में विभिन्न वर्ग के लोगों के बीच विभिन्न तरह के व्यवसाय गीतों का प्रचलन है। इन व्यवसाय गीतो को जाति विशेष के लोग व्यवसाय के रूप में अपनाकर या वंशगत या जातिगत आधार पर अपनाकर धनोपार्जन करते है। इस तरह के व्यवसाय करनेवाले हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही वर्ग के लोग होते हैं। परंतु, ये लोग आर्थिक रूप से कमजोर होते हैं। यही कारण है कि ये गांव-गांव घूमकर अपने गीतों के माध्यम से व्यवसाय करते हैं। ये लोग समाज में सर्वाधिक उपेक्षित और शोषित रहते हैं। इनके उत्थान के लिए इस क्षेत्र के लिए शोध करने वाले अनुसंधायक या अनुसंधायिका की भूमिका व्यापक हो जाती है।

सर्वप्रथम लोक साहित्य का संकलन आवश्यक है। इस दिशा में समाज के उन वर्गो से पूछताछ करने की आवश्यकता है जिन्हें इन व्यवसाय का क्रियागीतों का वास्तविक ज्ञान है। अनुसंधायकों को टेपरिकार्डर के माध्यम से पेशागत लोगों या पेशे से जुड़े लोगों को गवाकर रिकार्ड तैयार कर लेना चाहिए। फिर, इन गीतों को स्वरलिपि तैयार कर लेनी चाहिए। तत्पश्चात् इन गीतों को किसी वृहत योजना के अंतर्गत सीडी और कैसेट तैयार कर बाजार में उपलब्ध करवाना चाहिए ताकि लोग जान सके कि गोदना गीत, लगनी गीत, पमरिया गीत या पचनिया गीत इस तरह से गाये जाते हैं।

पेशेवर पमरिया अपने वंशगत पेशा को छोड़ रहे हैं। इस पेशे से अब उनलोगों के लिए जीवन निर्वाह करना दुश्कर हो रहा है। हां, अनुसंधायिका को रांटी (मधुबनी) में कुछ पमरिया मिला है जो इन दिनों सरकारी विभिन्न कार्यो में अपनी भूमिका निभा रहा है। पल्स पोलियो, एड्स, आयोडिन नमक आदि प्रचारात्मक कार्यो में अपने गीतों के माध्यम से लोगों को जागरूक कर रहे हैं। सरकार के इस कार्यक्रमों के अंतर्गत इनकी कलाओं का भी संरक्षण हो रहा है और ये सरकार के कार्यों में भी अपनी सकारात्मक भूमिका निभा रहे हैं।

पचनिया वर्ग का पेशा भी प्रायः अब लुप्त सा हो गया है। कारण पाच का प्रथा उठ गया है। परिणामस्वरूप, सभ्य समाज आज शीतला मां के प्रति अपनी आस्था कम कर रहे हैं तथा इसे अंधविश्वास कह कर टाल रहे हैं। अगर हमारी आस्था भगवती में है तो शीतला माता में भी रहनी चाहिए और इन पचनियां को भी किसी अन्य कार्यक्रम से सरकारी एवं सरकारी संस्थाओं से जोड़कर लोक-आस्था के गायकों को संरक्षण देना चाहिए। ताकि इन्हें वंशगत पेशा के आधार पर कुछ करने का अवसर मिले। आकाशवाणी, दूरदर्शन पर भी इन्हें आमंत्रित कर कार्यक्रम में भागीदार बनाना चाहिए।

बखो-बखिन के द्वारा मनोरंजन करने की प्रथा धीरे-धीरे समाप्त हो रही है। परंतु मिथिला में सर्वाधिक प्रचलित सोहर, समदाउन, उपनयन, विवाह, डहकन आदि गीतों को प्रासंगिक बनाकर बखो-बखिन के गीतों को संरक्षित किया जा सकता है।

पूर्व के समय में गोदना का महत्व सौन्दर्य अभिधान के रूप में किया जाता था। आज समाज ने इसके महत्व को नकार दिया है तथा इसे गंवार लोगों का श्रृंगार बताकर इससे विमुख हो रहे हैं। परंतु आधुनिक फैशन में टैटू का प्रचलन फिर से चला। हो सकता है गोदना इस दौर में कहीं फिर से अस्तित्व में न आ जाए। वैसे अभी गोदना भी ह्रासोन्मुख है। इसके गीतो का भी संरक्षण गीत एवं नाटक प्रभाग, आकाशवाणी एवं दूरदर्शन के माध्यम से संभव है।

ऐसी ही स्थिति लगनी गीतों की है। मशीनीकरण प्रभाव में महिलाओं चक्की चलाना छोड़ चुकी है ऐसे में लगनी की सार्थकता समाप्त सी हो गयी है। ये अलग बात है कि 'लगनी' का साहित्यिक महत्व अभी है। अभी भी रचनाकार 'लगनी' धुन में अपनी

लना अनवरत कर रहे है। वैसे बाबा रामदेव (योगाचार्य) महिलाओं को चक्की चलाने की सलाह ते हैं। महिलाओं के स्वास्थ्य की दृष्टि से यह उत्तम साधन है। हो सकता है चक्की चलाने की था कहीं फिर से अस्तित्व में न आ जाए। ऐसे में गनी फिर से घरों में गूंजने लगे।

चांचर गीतों का अस्तित्व अब भी बरकरार है। मिथिला में जबतक लोग कृषि से जुड़े रहेंगे, चांचर गीतों का अस्तित्व बना रहेगा। आवश्यकता है इस क्षेत्र से जुड़े अनुसंधानकर्ता अपनी दृष्टिपरक शोध में इसे खोजकर स्थान दें तथा इसकी व्यापकता और संगीतात्मकता को एक सुनिश्चित आकार देकर संगीतशास्त्र और साहित्य में यथोचित स्थान प्रदान करें।

यहां, इतना तो स्पष्ट है कि व्यावसायिक लोकगीतों की स्वर-साधना जब लुप्त हो रही है, फैशन परस्त समाज नवीनता के आलोक में अंधानुकरण कर अपनी परंपरा का त्याग कर रहे हैं। अगर स्थिति में किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं होता तथा प्रबुद्ध अगर इसी प्रकार लोकसाहित्य के प्रति उदासीन रहेंगे तो वह दिन दूर नहीं जब इस प्रकार के व्यावसायिक गीत, लोकगायक, व्यवसाय या क्रियागीत से जुड़े कलाकार तथा इनका वंशानुगत पेशा साहित्य एवं इतिहास की किताबों मात्र में सुरक्षित रह जायेगी।

इस दिशा में दरभंगा स्थित भारत सरकार के गीत नाटक प्रभाग को धन्यवाद देना चाहूंगी कि आज भी हमारी लोक कलाओं, व्यवसाय या क्रिया गीतों को मंचीय स्वरूप प्रदान कर इसके संरक्षण की दिशा में सतत प्रयत्नशील है। प्रभाग की ओर से अभी भी लगनी, पमरिया, चांचर गीत, चरखा गीत, गोदना गीत आदि का नाटकीय अंदाज में प्रस्तुति दी जा रही है। इन्हीं की प्रेरणा से अन्य कला-संस्थाओं द्वारा ऐसे गीतों का प्रयोगात्मक प्रस्तुति दी जा रही है। इसे संरक्षण की दिशा में एक क्रांतिकारी कदम माना जायेगा।

वैसे हमें इसकी व्यापकता की ओर ध्यान देते हुए उपर्युक्त साधनों को अपनाकर संरक्षण एवं संवर्द्धन की दिशा में नये-नये अन्य तरीकों को भी ढूंढ़ निकालना चाहिए। अगर लुप्त होती अपनी लोककला को हम बचाने में समर्थ होते हैं तो निश्चित रूप से हम अपनी संस्कृति के अमूल्य एवं अक्षुण्ण महत्व को बचाने में सफल होते हैं।

Scanned with OKEN Scanner

मिथिला में संगीत की परंपरा

सेवा सिन्हा

संगीत का प्राणियों के जीवन में बहुत महत्व है। वैज्ञानिको ने भी संगीत में प्रयोग पेड़-पौधों पर कर इस तथ्य को उजागर किया है। वैसे भी मानवीय जीवन में संगीत के महत्व का असर स्वतः महसूस होता है। "संगीत" शब्द का अर्थ ही होता है - एक संग होकर गाना-बजाना (समं=एकसाथ, गीतं=गाया गया) जहां तक "संगीतरत्नाकर" की बात है "गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयः संगीत मुच्यते" कहा गया है। अर्थात् गाना, बजाना और नाचना तीनों मिलाकर ही संगीत कहलाता है।

यदि हम बिहार और बनारस की बात करते हैं तो यहां प्राचीन काल से ही "हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति" प्रचलित थीं, जिसमें तीन-चौथाई अंग बिहारी नजर आते हैं। यहां यह बात निश्चित रूप से उल्लेखनीय है कि बिहार की इस संगीत पद्धति में "मैथिली संगीत पद्धति की मजबूत भागीदारी रही है। क्योंकि मिथिला में माननीय जीवन मूल्यों का आधार पौराणिक है। इसलिए ज्ञान-आध्यात्म के साथ संगीत के क्षेत्र में भी सदैव ही तन्मयता विद्यमान रही है। संगीत के क्षेत्र में प्राचीन काल से ही मैथिली संगीत पद्धति का प्रचार-प्रसार होता रहा है।

मिथिला में संगीत पर कई ग्रंथ भी लिखे गये। जिनमें लोचन कवि की "रागतरंगिणी" प्रकाशित हुई थी। वहीं इस काल में कई ग्रंथ अप्रकाशित रहे, ऐसा उल्लेख मिलता है। चौदहवीं शताब्दी में मिथिला में संगीत के क्षेत्र में सिंध-भूपाल ने "संगीत-रत्नाकर-व्याख्या" नामक ग्रंथ लिखकर महत्वपूर्ण कार्य किया था। इसके बाद सोलहवीं शताब्दी के पंडित जगधर के "संगीत सर्वस्व" नामक ग्रंथ का वर्णन मिलता है। लगभग इसी काल में खड़गराम और कल्लीराम के "लछिराघव" नामक ग्रंथ का उल्लेख है। फिर सत्रहवीं शताब्दी के आस-पास मिथिला के राजा महीनाथ ठाकुर के कालखंड में "रागतरंगिनी" ग्रंथ लिखी गई। इसके अलावा "संगीत-संग्रह" भी लिखा गया। जिसके संबंध में "रागतरंगिनी" में उल्लेख भी किया गया है।

मिथिला में संगीत की बात होने पर राजा शिवसिंह की चर्चा स्वतः महत्वपूर्ण हो जाती है। क्योंकि इन्हीं के राजत्व काल में "लछिराघव" ग्रंथ सामने आया और जगत प्रसिद्ध कवि और स्वनाम धन्य संगीताचार्य विद्यापति ठाकुर भी हुए। एक संदर्भ के अनुसार राजा महीनाथ ठाकुर के छोटे भाई "रागतरंगिनी" में "ध्वनिसिंधु" की उपाधि से विभूषित किये गए थे।

मिथिला के महाराजा जनक के नगर और आश्रय क्षेत्र में महर्षियों के आश्रमों का वर्णन भी मिलता है। गौतम, भृगु, विश्वामित्र, याज्ञवल्क्य जैसे कई महर्षियों का आश्रम मिथिला क्षेत्र में था। जिन आश्रमों में वैदिक यज्ञ और मंत्र गान सतत् हुआ करते थे। यहां बड़े-बड़े महर्षियों और देवर्षियों की सभाएं हुआ करती थी। दूर-दूर से महर्षियों की मंडलियां यहां आया करती थी। जहां ऋग्वेद के मंत्र समूह में गाए जाते थे। जिसे ज्ञानियों के मतानुसार मंत्रों के समूह को सामवेद के रूप में दर्शाया गया है। इस प्रकार मिथिला में आध्यात्म की साधना और उसमें संगीत की सहचर्यता का बोध होता है। इस तथ्य को समझने में महर्षि याज्ञवल्क्य के संस्कृत

शोध छात्रा, स्नातकोत्तर इतिहास विभाग, ल.ना.मि.वि., दरभंगा

Scanned with OKEN Scanner

शिक्षा के साथ संगीत विद्या के अध्ययन और संगीत की उपासना को देखा जा सकता है।

मिथिला में सिंहभूपाल, जगहर, सुमति, वितृष्णा, जयत, हरिहर मल्लिक, खड़गराम, कल्लीराम, राजा शिवसिंह, कवि कोकिल विद्यापति ठाकुर और उनकी पुत्रवधू चन्द्रकला, कविवर गोविन्द दास, महाराजा महिनाथ ठाकुर के छोटे भाई महाराजा नरपति ठाकुर, लोचन कवि आदि के कालखंड से लेकर अबतक कई इतिहास संगीत के क्षेत्र में अपना स्थान बना चुके हैं और लगातार यह क्रम जारी है। लोचन कवि ने महाराज नरपति ठाकुर को "धुनिगान सिन्धु" तक कह डाला था।

महाराजा लक्ष्मीश्वर सिंह ने जहां राष्टभक्ति के क्षेत्र में सामाजिक और राजनैतिक कार्य किये। वहीं उन्होंने संगीत को भी काफी प्रश्रय दिया था। उनके समय में दरभंगा संगीत और संगीतज्ञों का महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया। इस कालखंड में ध्रुपद गायक कामता मल्लिक, क्षितिपाल मल्लिक और उनके भाई रजितराम मल्लिक हुए। वहीं सरोद बजाने वाले उस्ताद मुराद अली खां, सुरसिंगार बजाने वाले उस्ताद असगर अली खां, मृदंग बजाने वाले प्रसिद्ध मृदंगाचार्य कोदउ सिंह के नाती भैयालाल हुए। ख्याल गायकी के क्षेत्र में उस्ताद अजीमबख्श खां और मौलाबख्श खां की जोड़ी को राष्ट्रीय प्रसिद्धि प्राप्त हुई। इसके अलावा मिथिला में भक्तिरस के ललित पदों की गायकी भी काफी प्रसिद्ध थी। इसकी रचनाकार और भजन करनेवाले संत लक्ष्मीनाथ गोसाईं की प्रसिद्धि बहुत दूर तक थी। इनकी कई पुस्तकें भी प्रकाशित हुई थी।

इतना ही नहीं महाराज लक्ष्मीश्वर सिह स्वयं भी सितार बजाते थे और गायन भी किया करते थे। इस कारण उन्हें संगीत और संगीतज्ञों के प्रति असीम प्रेम था। इनके बाद भी महाराज रमेश्वर सिंह के कालखंड में संगीतज्ञों को सम्मान मिलता रहा। दरभंगा के अंतिम महाराज कामेश्वर सिंह के समय में भी यह परंपरा जीवित रही। अब्दुल गनी खां और रामचतुर मल्लिक को मिथिला की धरती से राष्ट्रीय स्तर की ख्याति मिली। इस कालखंड में उस्ताद अजीमबख्श खां की शिष्या बेनजीर बाई की ख्याल गायकी दरभंगा राज में गूंजती थी।

तत्कालीन दरभंगा जिला अंतर्गत मधुबनी के बाबू तंत्रधारी सिंह जिनका उपनाम "कन्हैया साहब" था, वह भी संगीत के अच्छे जानकार थे। उन्होंने ध्रुपद का अच्छा संग्रह किया था। बताया जाता है कि उन्होंने ध्रुपद बनाया भी था और कई गायकों को इसे गाने की तालीम भी दी थी। जानकारों के अनुसार उन्होंने संगीत विधा पर एक पुस्तक भी लिखी थी। उनके सुपुत्र बाबू चन्द्रधारी सिंह (हेमकर साहब) भी संगीत के जानकार और संगीतज्ञों के प्रति प्रेमभाव रखते थे।

1937 ई॰ में दरभंगा राज प्रेस से राजितराम की "भक्ति-विनोद" और उसी में "राग-रत्नाकर" नामक एक पुस्तिका प्रकाशित हुई थी। जिसमें राग-ताल युक्त भजनों और राग-रागिणियों का वर्णन है। लेखक के पिता निहाल मल्लिक पितामह कन्हैया मल्लिक, प्रपितामह कर्ताराम मल्लिक ये राजा माधव सिंह के समय से ही दरभंगा राज से जुड़े थे। मूलतः इनका घराना ध्रुपद का था, लेकिन इनकी होरी और ख्याल गायकी की चर्चा भी काफी मिलती है। इसके अलावा संगीत विद्या के विशारद रामेश्वर पाठक उच्चकोटी के सितारवादक हुए। वर्णन के अनुसार सितार में गत और विलम्पन दोनों में ही उनकी अच्छी पकड़ थी। इन्हें राज बहादुर विश्वेश्वर सिंह ने सम्मान दिया था, जो स्वयं उस्ताद सोनी जी से हारमोनियम की शिक्षा प्राप्त कर अच्छा बजाते थे।

दरभंगा जिला में ही रूपौली ग्राम के यमुना प्रसाद चौधरी अच्छे पखावजी हुए थे। उन्होंने अयोध्या के महात्मा ठाकुरदास जी से पखावज की शिक्षा ली थी। वहीं अमता निवासी विष्णुदेव मल्लिक प्रसिद्ध मृदंगाचार्य हुए। जिनके अमता घराने की परंपरा आज भी कायम है। सरगम और गत की धुन हारमोनियम पर बजाने में बंदा गांव निवासी और लहेरियासराय में "साहित्य-संगीत विद्यालय" के संस्थापक आचार्य जानकी प्रसाद की ख्याति दूर-दूर तक फैली थी। इन्हें ख्याल और ठुमरी गायकी में बड़ी प्रसिद्धि मिली थी।

इसके अलावे घटहो गांव के पंडित रूपकान्त जी, पंचोभ गांव के पंडित रामचन्द्र झा, गढ़-बनैली के जटाधर का नाम मिथिला ही नहीं दूर-दूर के

Scanned with OKEN Scanner

क्षेत्रों में फैला था। जटाधर जी के शिष्य नचारी चौधरी अच्छे गवैया हुए और इनके सुपुत्र दिनेश्वर झा भी गायन विद्या में काफी निपुण थे। इनके अलावा ख्याल गायकी के क्षेत्र में टमका के पं॰ सत्यनारायण चौधरी और महुली के पं॰ बसुदेव राय ने भी काफी नाम अर्जित किया था।

आज भी पं. अभय नारायण मल्लिक की गायकी और पं॰ रामाशीष पाठक के पखावज वादन को सुनकर मिथिला के संगीत इतिहास के मर्म का अनुभव स्वतः हो जाता है। हालांकि अब उनके बाद की पीढ़ी भी सतत् संगीत के क्षेत्र में साधनारत है।

दरभंगा के द्वितीय सांसद और दूरदर्शी सत्यनारायण सिन्हा ने मिथिला की कला-संस्कृति को जीवंत रखने के लिए आजाद भारत की सरकार के प्रारंभिक कालखंड में "गीत एवं नाटक प्रभाग" की स्थापना कर एक सार्थक प्रयास किया था और कालांतर में दरभंगा आकाशवाणी के माध्यम से मिथिला की संस्कृति को परोसने का अवसर आज भी कलाकारों को मिल रहा है। जिसकी जीवंतता के लिए सतत् और सार्थक प्रयास की आवश्यकता है।

जिस प्रकार काशी और मिथिला में सनातन धर्मावलम्बियों के आध्यात्मिक क्रियाओं का पौराणिक इतिहास मिलता है। उसी प्रकार हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति के क्षेत्र में मिथिला और बनारस के क्षेत्र की प्रसिद्धि रही है। उत्तर भारत का यह क्षेत्र आध्यात्मनुरूप संगीत विद्या को आत्मसात करने और जीवंत स्वरूप प्रदान करने के लिए जाना जाता रहा है। आज भी पूरे उत्तर भारत में संगीत के शोध को पाठकों तक पहुंचाने में ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा के स्नातकोत्तर संगीत एवं नाटक विभाग का सतत् प्रयास जारी है।

सन्दर्भ सूची

1. मुरारी प्रसाद, पटना का आलेख "बिहार और संगीत कला"

Scanned with OKEN Scanner

लय और भाव के आपसी सम्बन्ध

कुमारी वीभा

लय सम्पूर्ण जगत की क्रिया का आधार है। मानव जीवन और सृष्टि का संचालन लय के द्वारा होता है। लय शब्द की उत्पत्ति लय अर्थात् लकार और सकार के परस्पर मेल से हुई है, अर्थात् पृथ्वी और आकाश के बीच विचर रही गति को लय कहते है। दूसरे शब्दों में, मानव हृदय में उत्पन्न होने वाली भावनाओं के विचरने की अवस्था को लय कहते है। जिस प्रकार लोहे में विद्युत के प्रवेश से चुम्बक शक्ति पैदा हो जाती है, उसी प्रकार लय से स्वर में गति पैदा होती रहती है। लय आनंद को अनुभव कराने का माध्यम है। लय के लिये कहा गया है-

"Rhythm is the measured flow at a beat or a movement."

अर्थात् लय किसी ताल अथवा गति की नपी-तुली क्रिया है। संगीत के लिये लय-ताल उतना ही महत्वपूर्ण है जितना दाल के लिये नमक, भाषा के लिये व्याकरण और कविता के लिये छन्द। संगीत में गति की समता लय का आधार है। पं0 शारंगदेव ने लय की व्याख्या इस प्रकार की है-

"क्रियान्तर विश्रान्तिलयः।"

अर्थात् दो क्रियाओं के मध्य की विश्रान्ति लय हैं संगीत की वे समस्त बातें, जो नाद के काल और किसी विशेष स्वर पर बल देकर उच्चारण से सम्बन्धित रहते हैं रिदम् के अंतर्गत आ जाती है।

"Rhythm is undoubledly the first elemnt of music. In fact the principles of Rhythm is the contralling as will as balacing of factor of all nations of the world."

लय को नियमित दायरे में बांधने को ही ताल कहते है। यह सभी गान प्रकारों के तीन मुख्य अंगों- स्वर, पद एवं ताल में से एक हैं। विभिन्न मात्राओं के आधार पर भिन्न-भिन्न तालें बनती है, जो विशिष्ट लय व ताल में बद्ध करके गाते हैं। लय को मुख्यतः तीन प्रकारों में विभक्त किया जा सकता है- विलम्बित, मध्य तथा द्रुत। जब क्रियाओं के मध्य की विश्रान्ति न बहुत अधिक और न ही बहुत कम हो, अर्थात् सामान्य हो तब उसे मध्य लय कहते हैं। जैसे- हृदयगति। मध्य लय से आधी लय में की जाने वाले नियमित क्रिया विलंबित लय कहलाती है। मध्य लय से दुगुनी लय में की जाने वाली नियमित क्रिया द्रुत लय कहलाती हैं। इन तीन प्रकारों के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की लयों का भी प्रदर्शन हो सकता हैं। जैसे- दुगुन, तिगुन, आड़, कुआड़ इत्यादि।

लय भिन्न-भिन्न भावों को दर्शाने में भी सहायक होती हैं। जैसे- शांत भाव- मध्य लय, वीर- क्रोध, द्रुतलय, विरह- विलम्बित लय आदि। हम प्रायः नित्य जीवन क्रिया में गति के धीमे, साधारण और तेज रूप का आभास करते है। जैसे वायु की मंद, साधारण और तेज गति द्वारा उत्पन्न होने वाले भावों का आभास किया जा सकता है। मंद गति चिंताजनक, साधारण गति रंजक और तेज गति आंधी रूप में व्याकुलता का कारण बनती है। शांत, करूण, भक्ति और वात्सल्य मंद गति में भावों का संचार कर सकते हैं। श्रृंगार, हास्य और अद्‌भुत मध्य गति से तथा वीर, रौद्र, वीभत्स और भयानक वेग गति से भावों का संचार कर सकते हैं।

ति. मा. भा. वि. वि. भागलपुर

Scanned with OKEN Scanner

जीवन में हम नित्य किसी कार्य को बड़े आराम से, किसी कार्य को सचेतावृति द्वारा और किसी कार्य को भाग-दौड़ अथवा जोश से करते है। जैसे- मन में विचार आया कि एक पेन्सिल फर्श पर गिरी पड़ी है, उसे उठाना चाहिये। उसे उठाने में धीरज से काम लेते है। दूसरी अवस्था में हम देखते है कि स्याही की दवात फर्श पर पड़ी है और भय है कि कहीं वह ठोकर से उलट न जाय तो उसे हम तनिक जल्दी से उठा लेते है और तीसरी अवस्था में हम देखते है कि दवात ठोकर द्वारा टूटने वाली है या उसका रंग फर्श पर बिखरने वाली है या बिखर रहा है तो उसे हम बहुत जल्दी से उठाने का प्रयत्न करते है। इसमें तीनो भावनाओं की गति अलग-अलग है। शांत करूण, भक्ति और वात्सल्य की अवस्था में भावों की गति मंद, श्रृंगार, हास्य और अद्‌भुत अवस्था में भावों की गति मध्य तथा वीर, रौद्र, वीभत्स और भयानक अवस्था में भावों की गति वेग होती है। भावनाओं की तेज गति में शांति प्राप्त नहीं हो सकती। गति अपने क्रमिक रूप द्वारा शांत वात्सल्य, भक्ति, वेदना, रति, उत्साह, क्रोध, उन्माद, व्याकुलता, रौद्रता एवं वीभत्सता आदि का संचार करती है। जब इन भावनाओं को समयवद्ध अर्थात् तालबद्ध रूप प्रदान किया जाता है तो अधिक रंजन उत्पन्न होता है। रोना भी किसी निश्चित अवधि तक ही अच्छा लगता है। हँसने के लिये भी समय सीमित ही होता है। इसी प्रकार प्रत्येक भाव के संचारित रहने के लिये उसे सीमाबद्ध करना ही पड़ता है और यदि उसकी एक से अनेक बार आवृति हो और प्रत्येक आवृति में विचित्रता पाई जाय तो वह भाव अत्यधिक आकर्षक का कारण होते हैं। इन भावनाओं को सीमित एवं समयवद्ध करने और इनमें विचित्रता उत्पन्न करने में विभिन्न प्रकार की तालों की रचना की गई, जिससे भाव अत्यन्त रंजक एवं आकर्षक रूप धारण कर लेते हैं और लय में उसे अपार आनंद की अनुभूति होती है। अतः गोस्वामी जी का यह कथन सत्य है कि-

"We sespond music not nearly with the ear but with the whole movement of our body and tamper of our imagination."

Dialogue of Word & SWAR

Pd. Ishwar Chandra

What is PRAN in word is SWAR. Words have no value (utility value) in absence of SWAR. The whole world is filled with NAD. Every art of the world reaches to the heart of veteren audience. The Promulgation of NAD is always on the top in every reciprocal dealings, phylosophical language and best of arts. When any of languages develop, special type of economic developments also takes place. Before the evolution of words takes place, the intringic basic knowledge of SWAR is earnestly necessary. When SWARS are expressed, its place of conception as well as the conditions of body, the structural changes of mouth and the sitting position, right from NABHI to MASTISHKA must be throughly studied with respect to time of occurance.

The vocational dealings consist of 12 SWARS. These are A,Aa,E,E1,U etc. All the languages of the world and arts have been framed with in preview of these 12 SWARS. By aid of NAD, SWAR, by aid of SWAR, Alphabets; by aid of alphabets, word; by help of words, sentence by aid of sentences, RACHANA, and by aid of RACHANA of sentences, special type of RAS NISHPATTI becomes operative - it means that KRUTI comes into existence and on hearing it, supreme BHAVANABHUTI is experienced.

Now, we shall see the nature which conjoins in SANGIT; we shall also see how these words should be co-related with SWARS. This subject requires necessarily to be deeply studied. There are so many sorts of singing methods prevailing e.g. DHRUPAD, DHAMAR, KHYAL, CHATURANG, TARANA etc. All these are SHUDHH SHASHTRIYA system. Over and above these discussed above, THUMARI, DADARA, SADARA, KAJARI, CHAILY, GAZAL and SUGAM SANGIT call UPA-SHASHTRIYA sorts, are covered by songs, Flok-songs, meditation songs etc. What type of words should be interjoined is a question of deep thinking - whatever may be the sort KAVY, but it is expressed in SANGIT, it is necessarily required to be thoching ATMA with its mean ing, in best from visulizing RAS-BHAV-TATVA.None can survive without thinking/belief. Thinking is a good aspect. still however, to put thinking into action and to en lighten the hearts of the people-hearing is the best adournment of the thinking. The literature which lifts the life on high level and changes living of life basically, shall be consisted of thoughtful - KAVYA. Such KAVYA shall be co-related in SWAR and TAL. When meaning of words of the KAVYA is co-related with actifying

Dean & Head, Music and Performing Arts Faculty, M.S. University, Baroda

Scanned with OKEN Scanner

rhythemetic soundness of RACHANA, the audience gets highly en lightened in life with supreme ANANDABHUTI in their hearts. Co-relationship of SWAR and TAL is dependent on RAG, TAL-LAY and RAS-BHAV. When one is fully acquainted with BHAV of words, one has to distinguish subsequently differences of LAGHU-GURU expressions properly. It is required to get MUKAM or NYAS on GURU words and not to try to have MUKAM or NYAS on LAGHU words is better. When KAVYA is presented without knowing GURU and LAGHU differences of words, sometimes it is likely to be misunderstood and singing turns out to be cross related.

After understanding of BHAV-TATYA of KAVYA, RAG, TAL should be selected so as to add co-operation. When KAVI is frames KAVYA. There is a special type of ideology and thinking in his mind, wishing his RACHANA would reach hearts of audience in properly adopted method. May it be that KRUTI of RACHANAKAR is beautiful, at that juncture, it is the duty of composer to see that there may not be any sort of injury to its RAS-BHAV or exact meaning.

The world is full of NAD and ever changing. Man's life is full of PRANMAY CHAITANYA. Life should be allowed to get active. That, which gets DARSHAN of with actively taking part, can only get knowledge of real mode of life when SANGIT is being performed with words and SWAR completely co-related to LAY, immediately, adoptive co-operation of Artist can be inferred. The motivity of ideas in mind is itself AYUSHYA the world itself is ever passing AYUSHYA. It does not stop, and cannot be stopped. The Artist who experiences as his, at that very place existence, expresses his KALA keeping RAG-SWAR-TAL with full affinity, he gets audience fully joyfull with DARSHAN-BHAV of PARAMANAND SWARUP inspired from NAD BRAHMA.

The gaudiness of right and values of persons are more valuable if granted to others. Bridge of Co-operation between people inter se is created only through LALITKALA. The sensetiveness of one-ness arises only when SWAR word and tal forms inter linked. Firstly every one has to get perfection filled up with SANGIT and so he, who is co-related sins relations naturally, when one figures relations with other, one-ness arises. When one gets relations with other DWAITBHAV arises. This DWATBHAV keeps person aloof from PURNANAD. One-ness (AD-WAITBHAV) is inunciated as SHIVADWAIT in VED and UPNISHAD. It is a right of every human being to enjoy best KALA of world. So, we have tried to show how people of world can live together by help of SWAR and word in this pithy and short writing.

VED, UPANISHAD -Holly literature
PRAN - Active element.
SWAR - Rhytheme
NAD - voice, sound.
NABHI - NAVAL - a part of body.
MASTISHKA - Head
RACHANA - creation of poet
RACHANA NISHPATTI -
- rivulet of rhythem
- waves of rhythem.
KRUTI - creation
SHUDDHA - As it is fully accepted
LAY - a mode
KAVI - poet.
RAS-BHAV-TATVA - exact element of sentiments.
PURNANAND - supreme joy
BHAVANUBHUTI - mental expression forming involving apptitude

Scanned with OKEN Scanner

DHRUPAD, DHAMAR, KHYAL CHATURANG - TARANA - exact phraseological words of SANGIT SUGAM SANGIT - Light songs.

UP - SHASHTRIYA SHASHTRIYA with change but within

KAVYA - creation of poetry

LAGHU - shorter

GURU - langer

PARAMANAND - supreme joy

SWARUP - formation

DWAITBHAV - one-ness

ADWAIT BHAV - seperation

MUKAM - stoppage

NYAS - a system in singing

RACHANAKAR - poet or composer

AUSHYA - life

Scanned with OKEN Scanner

Performing Arts as Medium to bring Environmental Awareness

Ms. Ami Upadhyay

It is truly said that we become aware of our world through our senses. We can only perceive the world we inhabit through the body we have. We use our senses of sight, taste, smell, touch and hearing to become aware about our surroundings. Awareness is being in communion with emotions that are in our body and experiencing the world with all our senses. Now, when matter comes to dance, it includes the senses of both sight and hearing. It speaks out the language of emotion which is far more ancient and common than any language on the earth. People danced even before the existence of language. Even in flowing of river, flying of birds and pouring clouds also we find music and dance. Thus dance and music are very close to nature and very close to human heart, soul, complete human existence or we can say basic self of a human being. Like the rocking movement always soothes the child and music undoubtedly makes child to enter in sound sleep with all peace of mind. Here again, this rocking and lullaby can be related to dance and music.

The Sufi poet Rumi has rightly said, "When consciousness is expanded, every tree and plant seems to be dancing."

Thus the essence of consciousness is somewhere very closely related to dance and music. So it can be concluded that the dance is the ideal tool for awareness. Art is one of the most basic forms of communication and also a great facilitator of more complex communication. It reflects the ideas of its creator and their community to the viewer. Art can be a reactive and proactive in regards to thoughts about social change, in that it creates a basis for conversation that brings awareness to a topic, a reaction to these ideas, and hopefully advocacy leading itself to social change. Creating art with this ideal in mind empowers the artist to aid in the discussion of social change. Providing a forum for these discussions on a large multimedia scale brings about awareness to the public and elicits an emotional response to non-participates as well as participants. It is said about communication that 90% of our routine communication is non-verbal through body language and body movement. In dance we make this 90% more effective to reach to common people.

Creating art, either individually or as a part of a group, provides a process that can enhance self-awareness, transformation, communication and understanding. Abraham Maslow has remarked

Director, Kalanidhi, Kathak Academy, Rajkot

Scanned with OKEN Scanner

"What is necessary for change is for a person to change his/her awareness of him/her." Now dance, very effectively, helps a person to change one's own awareness. (Here I would like to cite example of movie 'Rang De Basanti', where performing the role of freedom fighters, the characters become aware about the emotions, feelings of the roless they were playing. Not only that, but also when the viewers watch them on the screen, even that makes them also aware about the same feelings of patriotism.) Through the medium of dance we can touch the senses, the emotions and finally the level of awareness of people. As a result through those awakened individuals we can bring social awareness and even social change in the society.

Today the literature and various performing arts have been started to be used to convey one or the other message to the readers or viewers. Not only in India, but also in many other countries of the world we find such creative and innovative use of literature and performing arts for the purpose of social awareness. The reason behind the subject appealing me is my being a student of English literature, now a lecturer in English but at the same time a classical dancer, professional dance teacher and choreographer. As a person associated to the field of dance, I have been using performing arts to spread awareness on certain major issues in the society. I have closely observed that any form of art can work as a catalyst for the creative efforts in bringing about social awareness. Great thinkers, leaders and scholars have rightly recognized since long that solutions to healing world challenges are born of creativity, and so they consistently support all the performing arts trying to solve many major issues through the medium of arts.

Performing arts have been used and can be used widely to bring about change in the society and solve many major problems or issues of the society. Sometimes we need to see needs expressed in a form other than, reading or listening to the news, to truly understand our consciousness for a cause. We can and should promote social awareness through creativity, specifically shared in movement based art such as dance or drama.

"Dance is the most immediate and accessible of the arts because it involves your own body. When one learns to move one's body on a note of music, it's exciting. One has taken control over one's body, and by learning to do that, one discovers that one can take charge of one's own life."

An expression by Jacques D' Amboise that is so poignant, that it sets one thinking. The above definition of dance depicts the expression–dance very truly.

When one rejoices a happy moment or mourns some loss, the body shows it all. The body of any moving objects, whether a human being, an animal, a bird or even manmade machines looks beautiful in movement because it has a sense of rhythm. The way we breathe, walk, everything we do unconsciously is set to rhythm.

Our culture is rich and unique and what other than dance to understand it. There is a saying that goes, to understand Indian Culture, study dance. It holds testimony to our culture because when you study Indian dance, you have to study everything from music to drama to sculpture to traditions to spirituality, nowhere will you get such a subject which covers such a vast geography of knowledge.

Scanned with OKEN Scanner

A Chinese proverb says:

"If you have two loaves of bread, sell one and buy a lily,"

Implying that, attention should not be paid only on acquisition of food, drink and wealth, but also on the development of your aesthetic nature. In which fine arts like dance play very vital role.

Together, creativity and provocative dances fuel the audience to engage society because their instinctive resolve has been provoked. If societal problems are realized then change can begin, proceed and actualize. Thus through the medium of dance we can make people around aware about the existence of the problem and then solutions to them. Simply to entertain the audience or viewers is not the only objective of art.

Dance originated as devotion and 'Puja' offered to the Almighty. Than under Mughal (Muslim) Emperors it reached to the Courts of the Emperors and in later phase it reached to the performing art stage. Fortunately this form of art has not stopped its journey there. To reach to common people it has reached to schools, colleges, streets and societies. When the classical dance came into existence, the objective of that was to worship or please the God-Almighty. Then it was to please the kings or emperors who used to provide patronage to the artists. Then the objective was to entertain all the viewers or audience. All the time when it had various objectives, 'Nijanad"- 'making oneself happy' was always there. But since few decades dance has realized its social responsibility too. As a result the dancers have started coming up with issues in their performances related to social concerns. As members of the performing arts community the artists are compelled to help the communities in which they live but also recognize that they are a part of a much larger community - one of humanity. Through their individual and collective talents, they hope to create a spirit of giving and helping those- most in need.

Rabindranath Tagore, the Nobel Prize winner , was not only a writer but also a painter, dancer, singer, musician and an educationist. At Shantiniketan he experimented art form for Environmental Awareness. In the second decade of the 20th century, between the two world wars, the stride of technology was unmatched. Many of the modern modes of communication, travel and of course warfare were being tried and tested, often at heavy and unheeded environmental loss. At such juncture Tagore realized the need to do something for environment and its protection; as a result he introduced art form for social and environmental awareness. 'The Festival of the Earth' - by Tagore at Shanti Niketan was one of its kinds. In July 1927 Rabindranath first started the observance of the festival of the earth through *brikkharopan (planting of trees)* and *halakarshan (ploughing)*. The message that runs deep within all the colors of arts of this festival- named dance, drama and poetry is one of recognition of the bounty the earth bestows on us. And awaking to a covenant to honor and preserve the environment. The festival of the earth as conceived and coined by Tagore is perhaps the first sentient move in the world to build up mass environmental awareness through art form. The beauty of Tagore's conception was that he sought to inculcate this rubric not through slogan and pamphlets but over a cultural framework of Indian arts. He looked to deliver an impact that was impressive but not rigid, conventional or

Scanned with OKEN Scanner

narrow-minded. What survives till today amid all the confusion and conflict is the spirit of redemption- Man's appreciation of the aesthetic awakens in him a respect for the harmony inherent in nature. 'The Festival of the Earth' is perhaps the most relevant to the global concerns of the modern age today.

Talking as a dancer I would admit that I have been using the dance form, one of the performing arts, as a creative platform for initiating social change through meaningful production, innovative programs related to various themes. I teach one of the six classical dances of India- Kathak. Indian classical dances are no doubt traditional but then also they can be helpful in changing today's society. As tradition is always changing and flowing, so one has to take the best from it and implement the same in our modern world, the right mixture of the old with the new. So while using classical dance form Kathak, I do make changes in the original form just to make it suit and fit to my purpose of the dance. I make it less technical and more easily graspable to common audience just to make them aware about the issues I discuss in the performance. Even the terms 'Natya Dharmi' and 'Lok Dharmi' also convey the same message. Indian classical dance has been unanimously considered as one of the most complete and comprehensive forms of dance in the world. Classical dance has been understood to stimulate several technical and non-technical skills that include the abilities to observe acutely, think spatially, to identify the essential components of a complex whole and to synthesize and communicate the results of one's visual, verbal and mathematical thinking.

Mallika Sarabhai, one of the leading exponents of Bharatnatyam and Kuchipudi, has her own ideas about dance and she feels that dance is a living language which one can interpret the way one thinks best. She has learned both the theory and practice of dance and her experiments include variety of compositions like Draupadi, Shakti - The Power of Woman, Sita's Daughters, Itan Kahani, Aspiration, Ganga, Surya etc. In Indian dance there was no that great tradition of creative choreography. It was Mrinalini Sarabhai who first used the Bharatanatyam vocabulary to speak of moods and themes other than the traditional devotional ones. She has talked of bride burning and environmental problems such as pollution in her dance dramas. Even her daughter, Mallika performed in those and absorbed the ideas. As she started to resolve itself what it was, she wanted to express through her work, and she drew on many elements to create her choreographic vocabulary. Keeping the basic elements of classical dance she mingled it with the rhythms and steps from the folk dance. Her dance choreography includes dance on women suppression, their empowerment, communal riots-violence and environmental issues and their solutions. In recent years Mallika has managed to apply her artistic talents to her desire for social change in a series of unique projects. Working with terms of her most experienced Darpana performers, and training dozens of her rural and traditional artists, she has instituted programmes of using the performing arts to examine gender awareness, issues of violence and environmental issues in schools. Her group also works for AIDS awareness in slum areas and witch killing in rural areas.

Scanned with OKEN Scanner

These interactive projects bring artists together with sociologists, scientists and local people to make challenging programmes often leading to community performance. In a very real sense these interdisciplinary works are deeply in the tradition of Indian performance, and now these works too are being appreciated around the world.

I have succeeded in experimental dances aiming at bringing about social awareness. I firmly believe that yet our society needs to do much for the empowering women, though we have progressed much than the few decades back. Keeping this requirement in mind I had successfully arranged a theme based show emphasizing on the necessity of women becoming aware about their own rights and potential. I could see the results of that too. Here even I am reminded the same kind of efforts by Dance Group of Ilaxiben Thakore, 'Nari', describing the contribution of women in the existence of society. Performing arts can inspire community to become conscious about social equality and the value of an individual going beyond all the caste, creed or gender. SAKHI MANDAL Sahyog, a women's social and non-profit organization is also working for the cause of women empowerment, strengthening destitute and few other issues too. For that group the famous dancer Hemamalini also performed with a cause to empower women and destitute.

In India there are certain tribes' with the inhabitations in the forests. For them their Gods are some natural elements, so they worship them and as a result protect and preserve them. But then they started realizing that the outsiders have started poaching, harming and destroying their natural resources-their Gods. Not allowing this, they started showing their protest against it through their dance and music. They worship their Nature Gods through dance and music and when they are in danger, they also try to protect them through dance and drama. Even in Gujarat, popular tribal dance of the Sidi Badshah, one of the communities living in the Gir forest, expresses their concern for the environment where they show their people killing lions. They also display their concern for the protection of their indigenous groups in this digitally global world. They have performed this dance in many countries. Shree Joravar Sinh Jadav helps a lot to reach this concern and cultural heritage to mass of people.

When one uses performing art as a tool to make people aware about environmental or any other issue, one has to keep the audience in the mind. When the audience is highly educated and well cultured, one can use classical and furnished dance form but otherwise folk dance helps more to reach to common, illiterate people. During our Freedom struggle also The National Poet Shree Zaverchand Meghani reached to the hearts of millions through his words and music only. There also we can see an art as a tool to bring awareness among the mass of millions.

Generally when we talk about environmental problems, it includes five elements here or there. For example air pollution includes air, water pollutions includes water and when we talk about acid rain or global warming it also somewhere includes fire and sky. The erosion of earth is an environmental problem affecting the earth. Five elements make life exist and continue. The end to them is surely an end to human existence.

Scanned with OKEN Scanner

when we want to make viewers aware about the environmental issues related to and affecting five elements we can do that easily through dance. Again, going back to my own experimental dance, I made all the five elements alive in front of the audience, directly talking and informing the viewers about their benevolent nature and how they are being destroyed by the mankind. In this particular item the dance style of Shanti Niketan, introduced by Rabindranath Tagore was incorporated. Five poems were written on respective five elements, on which the dancers performed. The poems were describing their contribution and roles they play in human lives. Then how human being helped them to get destroyed and finally how by their own hands they end their own lives by not valuing and protecting the environment.

When matter comes to protection of environment it not only includes protection of trees, forests and keeping air and earth clean. It also includes protection of human species and species of animal-birds and insects at the verge of extinguishing. Through the medium of dance we can convey message that we should not let animal die due to our business profit, or our selfish, self-centred life style or food habits. Through the medium of dance we can send message of saving peacocks, tigers or lions. We can give message of stopping earth erosion. We can try to convince the viewers that how it is important to save some community disappearing from the globe. Even river pollution, especially with 'The Ganga'- in special case in mind, dance performance was choreographed, performed and appreciated.

"Everyone can dance! To what level and to what standard is reliant on the needs and desires of the dancer!' says Melissa Stefano.

That is true. It clears that the form, level and standard of dance depends on the needs and desires of the dancer. DANCE, means – D for determination, A for Attitude, N for New Approach and Network, C for Challenges in the society and E stands for Entertainment, experience or even here we can interpret as Environment awareness through Entertainment. According to this definition when determination, attitude, new approach with network, one has and takes up any challenging issue to make it reach to the viewers, to make them aware with the entertainment they achieve, it always works.

Through the planned performances and community exhibitions to come, we can hope to spread knowledge of issues regarding environmental issues and the damage it may cause as result to negligence to them. Through the same medium of dance we can also try to give solutions of the same problems. We should use the medium of dance and drama for a wide audience of people to inspire them to become advocates and supporters of collective action for positive social change.

IANS had taken one of India's biggest community art projects, to raise awareness about spectre of global warming. The project starred Indian and foreign artists with quite famous and big names from countries like Japan, US and India. The project will engage common people in an artistic dialogue to highlight ecological degeneration in the capital through dance, music and few other forms of art. Stefan Dreyer, South Asian region director of the Goethe Institute, told,

'The project will serve two purposes. It will highlight issues of environment like

Scanned with OKEN Scanner

global warming, deforestation and extinction of species - where everybody is involved and where we are looking at ways not only communicate technically, but through works of art reaching out to people in a different manner."

The Chandigarh Institute of Performing Arts (CIPA) is a leading cultural organization. The group organizes plays frequently in gardens, educational institutions and markets so as to target larger audiences. International recommendation is helping the theatre groups to work more efficiently. Shyam Juneja, Director of the CIPA, said, "We are affiliated to UNESCO and we have been receiving their programmes regularly. We staged a play on AIDS, environment and pollution. Many say theatre is a dying art, which is not true. It is leading towards a new dawn by raising social ills."

Umesh Kant, Director of the Theatre Lab says, "My plays are on social issues. They carry a social message. Theatre is a medium that has great impact on viewers. Watch any movie and you forget it in few days, but one can cherish the live stage performance for years. If it's a good performance, it makes an immediate impact,"

'Eco Source' is an innovative organization that empowers the community to become more environmentally responsible through creative public education. Their vision is to move public attitudes and perceptions about environmental issues toward responsible personal action. PEYA is a network of action-oriented students in the Peel Region concerned about environmental issues and determined to make positive change. "Earth Beat is intended to elevate youth voices on environmental awareness," says Natalyn Tremblay, Eco Source Secondary Schools Coordinator. "Our programming will strive to reflect the diversity of creative youth expressions in Peel as they extend environmental culture through music, visual and performing arts. It will be a positive space for families and individuals of all ages to engage, get informed and inspired for Earth Day!" Eco Source and PEYA are inviting youth under 25 years old from the Region of Peel with a talent to express environmental concerns through music, theatre, dance, poetry or visual art to apply to show off their work at Earth Beat.

There is a group named 'Dance for Change' which contributes to the development of a critical mass of citizens who understand their potential to act as imaginative agents of change in all areas of life, including fields that extend far beyond the arts. Those who experience programs supported by Dance for Change and its partners are destined to become forward-thinkers, socially-aware leaders, educators, caretakers and pioneers.

There are few other groups also named 'The Center for Contemporary Dance', 'Visceral Resolution' that work with the same kind of mission of bringing change in the society. Each year, programs implemented through these groups reach thousands of people of all ages, races and economic backgrounds, supporting and nurturing our community's collective ability to imagine, create and innovate. Thus, it is true that dance can become a change that we wish to see in the world.

The street plays are also example of using performing arts to bring about changes in attitudes of people or their life style or the situation in the society. Even Movies, novels, poems, mimes, dramas or ballet can also work for the same reason.

Scanned with OKEN Scanner

One of the experiments in dance is Dance Drama by my students named 'Yatra', which talks about the journey of human being from the lap of the Nature to the Mechanical, Industrial, scientific and technological more developed world and then realization of the necessity to go back to nature. The dance drama was so effective that the viewers were inspired to come on the stage and take oaths related to environmental awareness. Even in 'Youth festivals, and few other competitions the performers successfully come up with such theme based performances, not only touching the hearts of judges but also of the viewers. I have tried to touch upon the environmental issues like 'Save Trees', 'Avoid noise pollution' or 'Water Pollution' etc through the medium of dance. Even the dance performance with the theme of 'Chipko Movement' was the one that earned lot of appreciation.

To end my paper which I hope will inspire some at least to take up dance with the objective of bringing social awareness, I would like to quote a phrase from the Natya Shastra, a treatise on Indian dance, music and drama that dates back to nearly two thousand years. The author Bharatha says:

"Na Tath Gnaanam, Na Tath Shilpam, Na Saa Vidyaa, Na Saa Kalaa, Na Sow Yogo, Na That Karma, Natyesmin Yannadrushyathe."

(There is no wisdom or knowledge, no art, no craft, no device or action that is not found in Natya.)

By making people dance and watching others dance, we want them to enjoy and also want to say them,

'Let's get together and make 'saving Our Environment' a global issue...there is only one EARTH to live on and so we can't afford getting it destroyed."

Scanned with OKEN Scanner

Nayak Baiju; Animortal Singer of Dhrupad Gayaki

Bilambita Banisudha

Baijanath was an eminent hindu mystical singer. He was commonly known as Nayak Baiju as he was a great musicologist and a performer. People called him Bawra, because he was so deeply engrossed in music that he lost interest in the ordinary deeds of his life. His real name was Baijanath. His Exact date of birth is not known but as per Shree Parbhudayal Mital in his book"Baiju or Gopala" he says that he was born in 1443. Baiju was a deeply religious man who gave his expression to his feeling of devotion to lord Krishna and goddess Kali in most of his composition. Baiju was the court musician of Raja Mansingh Tomar of Gwalior for a long time. He dedicated his whole life for the establishment of the style of Dhrupad in Indian classical music with the help of Raja Mansingh Tomar. He also taught music to Maharani Mriganayani of Raja Tomar.

Baiju was like the most brilliant star in the galaxy of musician of the court of Raja Mansingh Tomar. he was a great Composer and invented lot of Ragas in his life. One of his famous Ragas is Gurjari Todi composed to immortalize the name of Rani Mruganayani. He has also composed Raga Bahaduri Todi in honour of his later patron Sultan Bahadur Saha in Gujurat. To his credit Sahitya Samsthan of Mathura has published a collection of the important composition of Baiju. In this book there are 75 compositions are given in different Ragas. Krishna Nanda Vyasha has also collected a number of Baiju's Dhrupad compositions in his book "Raga Kalpadrum". The tradition says that Baiju melted a stone by his music and in that he drawn himself a deer by his melodious songs and put a Rosari sound in his neck. Baiju has referred in his book a number of dhrupad compositions. The themes of Baiju's composition are about Lord Ganesha, Durga Vishnu, Btahma and Surya etc. Sir William Jones, in one of his articles of music refers to a book called Sangeet Okadasa by Baiju. This book is not available or has any reference anywhere. In one of his composition Baiju has combined the supreme power of Lord Vishnu and Lord Shiva.

The composition is given bellow:

बंसीधर पिनाकधर, गिरजवरधर गंगाधर, चंद्रमालीलाधर हो हरिहर।

सुधाधर, विषधर, धरनीधर शेषधर, चक्रधर, त्रिशूलधर हरि शिवशंकर।।

रमाधर, उमाधर मुकुटधर जटाधर, असमधर, कूमकूमधर, पिताम्बरधर व्याघ्रांबरधर।

नन्दिधर, गरूड़धर, कैलाशधर, बैकुन्ठधर, कहै 'बैजू बावरे' सूनौ हो गुनीजन, निसदीन

हरिहर ध्यान उर धर रे।।

1. Indian Music by Thakur Jaydev Singh
2. Dhrupad Aur Uska Vikash by Acharya Kailash Dev Brihaspati.

PhD Scholar (NET/JRF), FACULTY OF PERFORMING ART, BANARAS HINDU UNIVERSITY, VARANASI

Scanned with OKEN Scanner

Role of Manager in Music Organization

* Dr. Kailash Kumar Choudhary

Two or more people who work together in a structured way to achieve a specific goal or set of goals. So a very basic element of any organization is a goal or purpose. All organizations have some program or method for achieving goals. The process of planning, organizing, leading and controlling the work of organization members and of using all available organizational resources to reach stated organizational goal is known as management. All organizations have people who are responsible for helping them achieve their goals. These people are called manager. Manager is the person who manages, conducts, trains ,manipulation, directions, deals, supervises, organizes and controls resources, expenditures, an organization, an institution ,a team a household etc, In music organization management plays important role and the manger is perhaps the most important member of team. In this paper I highlight the roles and responsibility of manager in an organization as well as music organization.

Roles and responsibilities of a manager. Management deals with the administration of organizational resources that include its manpower is a way which fasters optimum performances, in turn translating to higher profits .For the purpose of optimization, manager plays fallowing roles and responsibility :-

(I) Superwise and manage the over all performance of staff in the deparment.

(II) Analizing ,reporting ,giving recommendations and developing strategies on how to improve quality and quantity.Lecturer in Deptt. of Commerce, M.M.T.M College Darbhanga, Bihar

(III) Achieve business and organisational goals, visions and objectives.

(IV) Involved in employee selection, career development, succession planning and periodic training.

(V) Working out compensations and rewords.

(VI) Responsible for the growth and increase in the organization's finances and earnings.

(VIII) Identifying problems, creating choices and providing alternatives courses of actions.

Different types of manager involve in music organization and its role.There are generally six types of music managers that can play a role in the careers of recording artists, record producers, songwriters, and musicians. Most artists will interact with only one or two of these managers, but it

Lecturer, Deptt. of Commerce, M.M.T.M. College, Darbhanga

Scanned with OKEN Scanner

helps to know what to expect from each of them nonetheless.

Following is a brief description of the roles of the different types of manager involve in music organization:-

Music Manager (*i.e. Artist Manager, Talent Manager, Band Manager, or Personal Manager*) :-

The Music Manager has the most interaction with the artist and is generally the most important person in the artist's musical life. They are involved in planning, coordinating and organizing the career of the artist. They are involved in counseling and advising the artist on all matters related to their musical careers. The personal manager should research the music industry and know all about record labels, publishing companies, producers, booking agents, promoters, publicists, stylists, photographers, recording engineers, graphic designers, video directors, music licensees, etc., and how they integrate themselves into the overall career plan. The more contacts the manager has, the more effective they will be at their job.

Dealing Manager

The dealing Manager (usually an accountant by trade) manages the income and expenses of the client. Dealing managers usually take care of making payments to musicians, background singers, roadies, tour managers, etc., on behalf of the artist. They also advise the artist on assets and investments, savings and taxes (local, state, federal, and International). Most artists are unaware that they have tax obligations that relate to their performance and licensing income, CD and merchandise sales, equipment purchases, sponsorship cash, other miscellaneous income, etc. Dealing managers also try to get their clients to invest in their future and save something for a rainy day since even the most successful artists eventually stop earning regular income from making records and touring.

Path Manager

The Path manager normally takes care of logistics while the artist is on tour (or on the road). Duties include making sure that everything on the road is provided as spelled out in the contract and all monies are paid on time. The artist is then left free to concentrate on their performances and not whether the promoter, venue booker or booking agent has met their obligations. The path manager also follows up on items that were promised as part of the contract such as accommodations, per diems, equipment rentals, commissions, etc.

Tour Manager

The Tour manager on larger tours coordinates all the path managers along with the details and logistics of the tour itself. Sometimes the path manager and the tour manager are the same person. The Tour manager is in charge of all the details that relate to the entire tour including communications, merchandising, tour routing, catering, hospitality, etc.

Production Manager

Production managers can be found on larger tours involving major record label artists. Production managers work closely with tour managers, helping with certain details having to do with the production of the show; like renting sound, video and lighting equipment, dealing with trucking issues, etc. Production managers also deal with the publicity for the show, as well as

Scanned with OKEN Scanner

assist with scheduling and coordinating with the touring crew and the local venue crew (stagehands, carpenters, riggers, etc.).

Mechanical Manager

The Mechanical Manager (or Technical Director) is usually the person in charge of set design, construction, and control during the performance. They work closely with the production manager.

A fundamental role of the manager is to expose his artist to more people. Therefore, managers spend much of their time casting a wide web around all the corners of the industry. In so doing, they develop relationships with booking agents, record labels, radio stations, press, and so on. When you partner up with a manager, you are not only getting this person's individual expertise, energy, and hopefully, passion. You are also gaining access to their connections and relationships. It is this quality that will catapult your demo from the bottom of an A&R person's pile to the top. These connections help in many similar ways, from having your music heard by music supervisors at advertising agencies to introducing you to a music publisher to securing you an opening slot on a coveted tour.

Management of Money

The most important part of management of any organization is capital (Money) management .Firstly; we need to understand a bit about managers make their money. Typically a manager will receive a commission – usually 15 to 20 percent- of allow the income that generate (the gross).This includes money from gigs, money paid to you from a record label as a personal advances against royalties (typically, not from money advanced by a label for you to record your record), money from merchandise, income from your music being used in movies or commercials, and any other source of income you generate as an artist. It is therefore in the best interest of the manager to leverage all of those connections I mentioned above to help you generate as much money as you can, which of course, generates more money for them. This is capitalism at its finest, and when it works. It works great for everybody.

The problem is that young or established artists typically take quite a while to generate any revenue. Also, these artists typically don't have any money of their own, so the management is left to spend their own money in order to develop the band before any money comes in. Because of this, you will occasionally see management securing other pieces of the artist' potential income as a kind of example, management will acquire some part of the artist's publishing- in other words, a pieces of the equity in the copyright of the songs. This means that when these songs being generating royalties, the manager will be paid a percentage of the money. Managers do this because they often defer their commission while their own money. They have no guarantee that they will ever spending their investment. This practice has largely been frowned upon (by both artist and managers), and was seen only occasionally in the past. However, I'm seeing it happen more and more and I believe it will become even more of a common practice in the future. As an artist, you must seriously debate whether parting with your publishing. Therefore, if a manager is requiring you to assign some portion of your publishing to them, you should only do this if you feel the manager is going to

Scanned with OKEN Scanner

actively engage in working your songs. Royalties (typically not from money advanced by a label for you to record your record), money from merchandise, and income from your music being used in movies or commercials, and any other sources of income you generate as an artist. It is therefore in the best interest to the manager to leverage all of those connections I mentioned above to help you generate as much money as you can, which of course, generate more money for them. This is capital at its finest, and when it works, it works great for everybody.

Money is a significant factor in creating effective artist/manager relationships.

The manager is spending money, hoping for a return on investment.

Publishing is one way to hedge that bet. Of course, managers who have no money will not be able to offer you much for your publishing. Managers who have no money have a hard time being effective. There are always expenses involved in getting a band signed: recording costs, gas for the van, fan mailings, travel, guitar strings, and so on. It all adds up. Of Course, management doesn't have to pay for any or all of these things. But remember, they can't make any money unless the band is making money, so they usually opt to pay for these things and others so that the band has a Better chance of getting signed. Even after you get signed, management is often the fountain of money. For instance, an artist and manager may determine that they need an independent publicist because they feel the label's publicist (if it has one) can't do an effective job due to workload, the label's priority scheme, or Whatever. The label is not obligated to pay for this (though often they do), and so the band and management are left to decide whether or not the potential added exposure they would get from a publicist is worth the out of-Pocket expense. Many times, in a situation such as this one, the band itself is not generating enough income to pay for something like this, so the Management foots the bill. Theoretically, management will be reimbursed For these costs once the band does start generating some money. If Neither the band nor the management can afford to pay, it really is the band that suffers.

Conclusion:-

Good managers understand that new and developing artists are much like startup businesses. The first couple of years (or records) typically are money losers. The hope is that after the painful initial period has ended, there will be a financial reward that will recoup all the early losses and then some. This is why managers will fund an artist's career at the early stages—and, in fact, sometimes well into an artist's career.

References:-

1. The business slandered.
www.musicmanager.com
www.About.personal.growth.com
2. James AF, Edward R and Dniel R,"Management "prentice hall of India private limited. New Delhi.

Scanned with OKEN Scanner

Violin in our Country (Basically Indian Vitat Vadhya)

Dr. Rakesh J. Mahisuri

Indian classical stringed instruments as known to people are divided in to two main catagories, 1. stroked Instruments and 2. Bowed Instruments.

Sarod, sitar, veena are widely known popular stroked instruments and sarangi, Dilruba, Israj violin are bowed instruments.

When music is created by rubbing horse hair on string is basically Indian. And instruments played on this principle are known as bowed instruments.

India's business relationship with the western world since ancient times is very well known. With the business, the art and culture became a valuable exchanged asset. Thus instrument played by bowing attracted western musicians. Thus violin in its present modified form, come to be known as a western instrument though its roots are basically Indian.

VIOLIN is the most familiar and sensitive bowing instrument throughout the world in the sphere of music. The present formation of violin is derived from the musical bowing instrument called the ' VOIL' and it is the most commonly used member of the modern string family in the highest sounding instrument of the world.

The violin and the viol appeared in their district form about middle of the 16 th century. The earliest important centre of violin making was BRASICA. Where Gaspara da salo (1540-1609) and GIOVANNI PAOLO MAGGINI (1581-1630) worked.

Cremona become the centre of the manufacturer. When the instruments of the Amati family and later those of the stradivan Guarnen and Ruggieri shops attraeted the attention of the public.

After the long research work by the craftsman of the violin, brought to perfection by stradivari at the end of 17th century. It is now accepted that the design with the scientific reasons of violin has matbeen changed since the perfect model of stradivari.

Like the other countries of the world India also has accepted this finest instrument for its esteemed qualities, like delicacy, mellowness, free power penetratiny brilliancy and above all violin is getting more and more popular in Indian music. This instrument is now an indispensable musical instrument in every sphere of Indian music of musical approach.

Asso. Prof. in violin, Faculty of Performing Art, The Maharaja Sayajirao, University of Baroda, Gujarat.

Scanned with OKEN Scanner

In India violin has been used in different sphere most successfully from long time ago. Violin have very prominent feature from the time of opera and folk-lores. It is now proved when and how violin has came in India.

Ustad Alauddin was known a great musician of the north. Indian classical music, and he played Raga-Raginis of Indian music in violin to make it more popular. It was also made popular by his direct disciples.

Though violin is known as western instrument, we have so many eminent violinist in India like. M.S.Gopal krishnan, Lalgudi Jayraman, L.Subramanyam, Smt N. Rajam, Sri T.N. Krishnan, Shri D. K. Datar, Smt. Shishirkana chaudhari, Shri A. Kanan, Smt Kala Ramnathan, Smt. Sangeeta sankar etc. who spellbond not only Indian audiance but western too.

Scanned with OKEN Scanner

Cultivating Creativity

Kashyap Parikh

Lets start by the question most students ask. "How can I be more creative?"

Well, though the word creative itself is very subjective, and there is no one definition of creativity, the easiest way to be 'creative' is to 'become a sponge'

That is absorb as much of knowlede as you can !!!!

Simply started : 'If you know more, you can do more'-

It is this learining, this knowledge that can make a difference between just work & great work. good work & great work.

Creativeity is a somewhat mystical, always marvellous process.

It can lift your spirits, improve your work, and enhance your probelm solving abilities. Once considered the exclusive property of artists and scientists, creativity is b ecoming a hot comondity in business and industrial circles as well.

Being creative doesn't require a high IQ or an MFA, but it does require an open mind and an open soul, research has shown that most humans are born with rich and vigorous imaginations and that creativity can be learned, strengthened, enhanced and applied. All it takes is a willingness to collect ideas, take risks and become a child again. Sound easy? it is and lots of fun besides.

A-23, Shivashiv Duplex, Amitnagar, Sama Road, Karelibagh, Baroda, Gujrat

Although there is no perfect profile of a creative personality. If you often change your approaches to a problem, produce relevant and unusual ideas, see beyond immediate solutions, and redefine problems, there's a good chance that your creative reflexes asre in good working order. Contrary to popular belief, creativity is not artistic monopoly, but found in all other areas.

"Creative" is not somethng you are or you aren't. Rather it is an adjective that describes to the extent to which you use and appreciate the creative potentials you were born with. Everyone has the tools for creativity - what differs is the quality and quantity of ideas that are constructed. Some characteristics of a creative personality include :

1. Tolerance for ambiguity.
2. Skepticism.
3. Intellectual playfulness.
4. Self confidence.
5. Unconventional Nature.
6. Sense of Humour.

1. Tolerance for ambiguity : They explore all possible avenues without getting nervous if the solution doesn't appear quickly and clearly.

2. Skepticism : Creative people are less satisfied with accepted ways of doing things. They are always wondering,

Scanned with OKEN Scanner

questioning, and challenging the people and ideas around them.

3. Intellectual playfulness : Creative types love ideas for ideas sake. To them thinking is play. Its an activity that actually feels good.

4. Self confidence : Being creative means taking risks, challenging the system/ sometimes refusing to conform.

5. Unconventional Nature : Because creative people are less concerned with being "right", they may appear to act or react in unexpected ways. They tend to be more concerned with what they are thinking than what other think of them.

6. Sense of Humour : To those who live creatively, life is festival, not a routine/ Creative people learn to enjoy and appreciate the contradictions, irony, and confusion that they see around them./They are stimulated by it, not frustrated.

Other qualities that often appear in those people include open mindedness, flexibility, optimism, curiosity, self-awareness, originality, and concentration.Creativity can be nourished, but it cannot be manufactured. Although there are many definitions of the process (its been described as everything from madness to genius to divine insipiration) the key concept seems to be an ability to create something that has never existed before. Generally, a creative idea fits in one of three categories :

New uses for an old idea or object,
Combining existing ideas or materials into new devices,
Or conceiving entirely new ideas that reorganize our view of the world (the invention of the wheel)

Tearing Down Creative Blocks

As children, we are truly creative. Full of questions, Full of explanations for our world, happily absorbed in designing purple trees and painting aqua cows. But as we grow older and collect experiences in the "real world", much of that sense of wonder and discovery is replaced with new thinking. Studies have shown that by the age of nine, creativity in youngsters drop to low levels.

What happens? How do we lose that natural curiosity and creativity?

Does blame rest on parents and teachers who insists we copy their green trees and brown cows? For most people, creativity is never lost, only misplaced.

It doesn't take long for us to learn that trees are green, cows are brown. In effect our creativity is blocked by rules and restrictions - all the "must nots" and "cannots" and "do nots" that distorts creative vision. Fear of failure is one of the most significant blocks to creativity. People are afraid to articulate novelties which may not be met with sure and certain success. If you aren't willing to be wrong, you can't be creative. Creativity requires making guesses, trying and failing ..... and trying again. Another common block to creat5ivity is an inability or unvillingness to redefine a problem. In these confusing and technical times, creativity intellectualize problems that could be quickly and easily solved with simple, straightforward approach. These blocks are not permanent boundaries, but learned behaviours. With practice you can remove these blocks, flex your creative muscles, and draw upon the rich store of insight, inspiration, and perspective you were born with, here are some ways to start cleaning a path for your own creative travels.

1. Collect ideas : Ideas are the essence of creativity to develop your creativity senses, take not of the good ideas

Scanned with OKEN Scanner

around you/that way, you'll more easily recognize the flashes of inspiration in your own head./keep a file of interesting, offbeat, attractive, unique ideas. Ideas often appear unpredictably and inconveniently. So, catch them when you can. Carry a pen and paper everywhere - a pad beside your bed, a notebook in your purse, a pen even in your shower. soon you will experience the joy of finding great ideas in your pocket and in the margins of your books.

2. Practice brainstorming : Try technique of idea suggestion when freedom is key. quantity is the goal, and judgement or criticism of any kind is forbidden. The more ideas you come up with, the more likely you will be able to find original and effective solutions. Never be satisfied with your original idea. Why? Because once you have arrived at your first solution, you are no longer driven to accomplish the task.

3. Try little "shoshin" : Its a chinese concept/derived from the characters for "heart" and "beginning"/and translated by Zen teacher Shunru Suziki as "a beginners mind." It is this open mind, an attitude that includes both doubt and possibility, that is needed in all aspect of life. Try to see (and hear and taste and smell and touch) things as always fresh and new, no matter if even it's repetitive. In the beginners mind there are many possibilities; in the expert's mind there are few.

4. Become a child again : "If you want to be creative, stay in part a child, with the creativity and invention that characterizes children before they are deformed by adult society." Try to recapture some of the spirit of wonder, the fascination, and the fantasy of your earlier years.

5. Learn a lot about a lot : Because the act of creation involves divergent thinking, where the creator consciously avoids any logical, set approach but instead concentrates on possibilities and options a broad background of knowledge is a great starting point. Seek out new experiences, new people, new approaches. Read, write, discuss, question, observe, and listen.

6. Have no fear : We severely criticize our own ideas-and those of others - without giving them a fair trial. A creative soul must be willing to take risks, and to explore the roads which are less travelled.

7. Get healthy : Negative health behaviours are blocks to aptimum creativity. Relaxation techniques, stretching exercises, and proper nutrition send oxygen to nourish the body and circulate thorugh the brain, our storehouse of creative power.

8. Be crazy : Forget (at least temporarily) about rules, about logic, about the way things are supposed to be. Structure has a place in our work and out life, but so does freedom and individuality

As much as possible, create an environment for your best creation. Keep in touch with creative environment. Do you create more easily in peace, or do you need the pressure of deadline to do your best work? Take note and create accordingly. The kind of organisation you work in can also restrict or enhance your creative abilities. To be truely creative at work, you must have freedom to ask questions, to come up with unusual conclusions, to determine the way in which your work gets done, and to have lots of elbow room for experimentation and play.

Scanned with OKEN Scanner

The Importance of Music as a Theraphy for the Present Life Style of Man Kind

Dr.K.Sashikumar

Music is a pleasant sound and when melodious and soothing tunes comes to our mind the mind gets attracted to it. It is not only human beings but also animals shows tremendous response to various kinds of music. Human mind finds music as a healing effect and thus shows a positive response to it . It is very important that for the stress relief one should get a very soothing music . For example in the west piano tunes, Saxophones of Kenny G, Soothing music of Yanni etc. In India people who doesn't have the knowledge of Classical Music it is better to have pleasant & melodious tunes in santoor, sitar, flute ,violin etc. Music as an out ward sign of human communication and communication could be achieved with the audio signals to the minds. If one can understand the inner meaning of a music piece , he can enjoy more & ultimately the effect will be more on stress release .It depends up on the composition and the theme of music.

Long before acoustics came to be understood in Europe as a subject of study, the ancient Arab, Greek and Indian civilizations were already familiar with the therapeutic role of sounds and vibrations and the later day concepts pertaining to them. While music as a whole is well recognized for its entertainment value, the Indian civilization had gone a step forward to attribute the curative aspect to music. The ancient system of Nada Yoga, which dates back to the time of Tantras, has fully acknowledged the impact of music on body and mind and put into practice the vibrations emerging from sounds to uplift one's level of consciousness. It is the Indian genius that recognized that ragas are not just mere commodities of entertainment but the vibrations in their resonance could synchronize with one's moods and health. By stimulating the moods and controlling the brain wave patterns, ragas could work as a complementary medicine

Raga, we all know is the sequence of selected notes or swaras that lend appropriate 'mood' or emotion in a selective combination. Depending on their nature, a raga could induce or intensify joy or sorrow, violence or peace according to the rasas. Thus, a whole range of emotions and their rasas could be captured and communicated within certain rhythms and melodies. Playing, performing and even listening to appropriate ragas can

Reader in Karnatic Music, Dept.of Vocal, Faculty of Performing Arts, Banaras Hindu University, Varanasi.

Scanned with OKEN Scanner

work as a medicine. Various ragas have since been recognized to have definite impact on certain ailments of stress and disease.

Historic references of Raga Chikitsa shows that ancient Hindus had depended on music for its curative role: the chanting and toning involved in Veda mantras in praise of God have been used from time immemorial as a cure for several disharmonies in the individual as well as his environment. Several sects of 'bhakti' such as Chaitanya sampradaya, Vallabha sampradaya have all accorded priority to music. Historical records too indicate that one Haridas Swami who was the guru of the famous musician in Akbar's time, Tan Sen is credited with the recovery of one of the queens of the Emperor with a selected raga. The great composers of classical music in India called the 'Musical Trinity', - who were curiously the contemporaries of the 'Trinity of Western Classical Music, Bach, Beethoven and Mozart– were quite sensitive to the acoustical energies. Legend has it that Saint Thyagaraja brought a dead person back to life with his Bilahari composition Naa Jiva Dhaara. Muthuswamy Dikshitar's Navagriha kriti is believed to have cured stomach ache for one of his disciple . Shyama Sastry's composition Duru Suga was used to pray for good health. Raga chikitsa was an ancient manuscript, which dealt with the therapeutic effects of raga. The library at Thanjavur is reported to contain such a treasure on ragas, that spells out the application and use of various ragas in fighting common ailments.

Research shows that some ragas like Darbari Kaanada, Kamaj and Pooriya are found to help in defusing mental tension, particularly in the case of hysterics. For those who suffer from hypertension, ragas like Ahirbhairav, Pooriya and Todi are used .To control anger and bring down the violence within a person , Karnatic music ragas like Punnagavarali, Sahana etc are used .Stomach-related disorders are said to be cured with some Hindustani Ragas such as Deepak (acidity) , Gunkali and Jaunpuri (constipation) and Malkauns or Hindolam (intestinal gas and for controlling fevers). Fevers like malaria are also said to be controlled by the ragas like Marva. For headaches, relaxing with the ragas like Durbari Kaanada, Jayjaywanti and Sohni is said to be beneficial. There is a growing awareness that ragas could be a safe alternative for many medical interventions. Simple musical rhythms with low pitched swaras, as in bhajans and kirtans are the time-tested sedatives, which can even substitute the synthetic analgesics, which show many a side-effect. They are capable of leading to relaxation, as observed with the alpha-levels of the brain waves. They may also lead to favourable hormonal changes in the system.

Even in Indian traditional way of living system the new born child is enjoying sleep by the lullaby sung by mother . Most of the temples in the south begin their day at early morning by playing the suprabhatham and devotional songs, which is played through the mike system which can be enjoyed by the people living nearby as a medicine for relaxation for his whole day . Even at home devotional music are played in the early morning in most of the houses of south India . In the villages various kinds of folk songs are sung for various works such as agriculture, cooking etc., and the song changes to different occasions also which release the work tension of ladies . This shows that

Scanned with OKEN Scanner

the people in olden days knew how to relieve themselves from the work stress. Same way in the west most of the companies soft music are played in the work place. Even pockermusic is played in most of the diaries in USA for getting more milk from the cow

Children these days lead a very difficult life. There are so many constant stressors around them. It is very important for children to find a way to express their emotions in an appropriate way. In the past, activities such as sports have been an important stress-relieving outlet for teens, but more and more children are choosing not to participate in such activities, in the present days or being excluded because of their present life style. It is so important for these children to develop an appropriate outlet for the release of their emotions and feelings, It is for this reason that children and the parents should develop an approach that helps children to utilize popular music, some of them listen to film music . In the present system the Music listening habits of children can be developed through mobile phones . if the parents takes a little care on these aspect one can save their children from stress.

Present day even in the MNC companies the younger generations are getting more stress in work, target of work, for higher studies, driving vehicle etc. All these stress can be managed by hearing good soft music for stress relaxation. For driving vehicles one can play music in he car and he can take deep breath in signal when the car is stopped for signals. Since the technology has improved and with the lower cost one can enjoy music even by listening various FM channels , MP3 songs, different kind of media players in mobile , I- pod , I- audio player etc.

Reference

1. Bagchi, K. (Ed.) Music, Mind and Mental Health New Delhi: Society for Gerontological Research
2. Crandall, J. 1986 Self-transformation through Music New Delhi: New Age
3. Sairam, T. V. 2004 a . Medicinal Music. Chennai: Nada Centre for Music Therapy
4. Sairam T. V. 2004 b. Raga Therapy. Chennai: Nada Centre for Music Therapy.
5. Sambamurthy, P. (1998). South Indian Music - Vols I - VI, 12th edn. Madras: The Indian Music Publishing House.

Scanned with OKEN Scanner

Devadasi in Bharatanatyam

Dr. Ami Pandya

From available records, it has become apparent that most of our classical dance traditions drew sustenance from royal and temple patronage. The support was not just in terms of money and land but also in applauding the dancer's innate skill and talents. The dancers, and their gurus, thus nurtured and continued to practice their art. Today Bharatanatyam is one of the most popular, highly respected and acknowledged classical dance forms of the country. The dance form was handed down by the *Nattuvanars* (*gurus*) and the *Devadasis* (dancers) through the oral tradition. The *Nattuvanars* added their own interpretations to the existing treasure of compositions and choreography and the dancers embellished these further with their individual talents.

The *Devadasi* and her dance, and the *Nattuvanar* and his teaching are without doubt, very important links in how Bharatanatyam in its traditional form has come down to us. There are many kind of sources which testify to the presence of *Devadasi*s from one end of India to the other. Perhaps the earliest mention to these women is by Kalidasa who refers to them being attached to the *Mahakala* temple of *Ujjain*. There is a Chinese Buddhist pilgrim report on *Devadasi* in Multan in the 7th century. Later Marco Polo, and a Portuguese traveler named *Paes* and various Muslim accounts, refer to the system of dasis attached to the temples and rituals, as observed by them in their travel accounts.

Bharatanatyam enjoyed both temple and royal patronage. This helped it flourish and develop over many centuries. It was popularly known as *Dasiattam* in Tamil Nadu, the main state in south India to support this dance form. In earlier times any dance activity was also known as "*Koothu (Kuttu)*". *Dasiattam* meant dance of the *Dasis*. They were women 'married' to the temple deity and they were hence known as *Devadasis*. As such it was the temple's duty to look after them. In turn, they offered dances in praise of the God of the temple, especially on various religious festivals and *utsavs* celebrated by the temple. Because the Lord was her husband, the *devadasi* was always looked upon as auspicious – *nityasumangali*. They occupied an important position in the society because of their wealth, power, skill, charm as well as literary and artistic taste. One of her important duties was to perform the *arati* ceremony, an important religious ritual in the temple.

The *devadasi*'s training began at a very tender age. For training, the public demonstration of skill in her art, subsequent to apprenticeship to her teacher was the necessary preliminary to a

Lecturer in Dance (Bharatanatyam), Faculty of Performing Arts, M.S. University of Baroda

Scanned with OKEN Scanner

professional career. The *Arangetram* or the initiation ceremony, was arranged after five to seven years of vigorous training not only in dance but in music as well from the guru and other experts. For initiation, a special ceremony of marriage was arranged for the *devadasi* which marked entrance into the profession and was compulsory for the attainment of privileges associated with temple. The *devadasi* was 'dedicated' or married to the temple deity before the onset of puberty. Celibacy was demanded on her part by prohibiting her access to the *grihastha* way of life. The ceremony of initiation into the temple simultaneously declared a woman's availability for liaisons with patrons as permitted by the temple. But it was not necessary for the male artiste to observe and go through the same rules of initiation. They could marry and lead a regular life.

The *devadasi's* main function in the temple was to perform her dance. The deity was honoured and worshipped with dance which was listed as the fifteenth in the sixteen ritualistic acts of homage supposed to be paid to the deity. The State Inscriptions of *Pudukkottai* (1929 :20, no.169) includes an inscription dating to the reign of *Kulottunga* III (1205-18) which refers to fixed structures of time during the day when the *devadasis* presented the dance in temples and which dancer could dance . "When the Brahmin priest did the *puja* the dasis performed the same actions using hand gestures to show the bell, the light, the fly whisk, etc."[1].

By *Chola* times, the *devadasis* became a part of a distinct caste. The biological or adopted daughters of the *devadasi*-s were trained in music and dance from an early age and followed their mother's occupation of temple service. The sons were trained from boyhood to become *Nattuvanars*- teachers, directors and musical accompaniments to dance. Performance was restricted to women, the conduction of the dance as also its teaching was in control of men – the *nattuvanars*. Both were sponsored and protected with generous grants from the temple, court, nobles and wealthy merchants. There are records that indicate that the dancers and the *nattuvanars* enjoyed great respect and honour from their royal and temple patrons and the common public. They also enjoyed privileged positions social high rarchy and their dance was greatly appreciated. It is common knowledge that in the 12th century, *Rajendra Chola*, the *Tanjore* ruler ordered four hundred temple dancers to be brought from the nearby places to be attached to the *Brihadisvara* Temple in *Tanjore*, which was the main Shiva shrine in the kingdom. The inscription recording the event names all the temples, both *Saivite* and *Vaishnavite*, that had dancers attached to them.

It was during the Maratha rule (1674-1854) that the dance of the *Devadasis* in the temples moved into the court of the kings. The dance became a kind of formal presentation and its name changed accordingly to *Sadir* or *Sadir Kacheri* from the Marathi word, '*sadir*' which means 'to present' This change of name being indicative of the change in public attitude to the performance too. This word obviously had courtly connotations – a dance to be presented before kings or royalty. The praises sung and danced here were no longer in favour of the temple deity only, but of the king as the provider and protector of his people. Very often, there was really no distinction between the court dancers and the temple dancers.

Scanned with OKEN Scanner

as a number of important temple complexes were themselves patronized by the rulers.

By the 19the century however, the *Devadasi* system had begun to face a number of problems. With the coming of the East India Company, the French, the Dutch and the Portuguese to India and their gaining political and economic power, the local rulers became increasingly impoverished. In such conditions dance and music lost their traditional patronage that stemmed from the court and the temple. With no patronage available, the *Devadasis* peddled their dance to whoever was willing to pay, resulting into gross corruption, degradation and finally moral turpitude. Under the British rule the status and fortunes of the *Devadasis* declined drastically. In many instances they were reduced to poverty and at times resorted to prostitution.

The wave of reforms that swept the country in the late 19th and early 20th century interpreted the *Devadasi* culture as symbolic of immoral behaviour without being sensitive to the fact that they were the final repositories of classical Indian dance forms that had come down from Vedic times. The Madras Legislative debates on the abolition of the *Devadasi* system and the controversy surrounding it, raged from 1920 to 1947. A number of influential people formed a reform movement in order to abolish the *Devadasi* system of dedicating the girls to temple. Such bills were introduced in several south Indian states in Mysore in 1910, Travencore in 1930 and finally in Madras Presidency (which included both Tamilnadu and Andhra Pradesh at that time) in 1947 when the *Devadasi* Act, banning the practice of dedicating young girls to temples was finally passed.

By 1940s, it was successfully re-established as one of the India's most highly developed living art forms. Instead of temple or court, it now got performed in the theatres, halls, *sabha*-s.

Some *devadasis* also taught, such as *Swarna Saraswati* (in Chennai and Delhi) and Mylapore *Gauri Ammal* (in Chennai) while establishing a dance school. But there was a self-imposed censorship in the items selected from their repertoire and style that they decided to teach since the *devadasi*'s dance was often full of erotic intent At least one *devadasi (Kamalambal)* founded a school for Bharatanatyam in Tanjavur. Several *devadasis* became prominent stage performers between 1930 and 1950. Some amongst these were *P. Kalyani, K Bhanumati, T Balasaraswati.*

Basically as part of temple ritual offering to the god, the dance communicated *bhakti* and devotion of the community as well as the power and wealth of the royal patron and the temple authorities through the medium of the *Devadasi.*

Scanned with OKEN Scanner

Impact of Globalization on Indian Notation System

Ms.Shraddha Gupta

Today Globalization has become an expression of common usage. It represents a new world with no barriers. The term 'Globalization' means the flow of information, ideas, technologies, goods, services, capital, finance and people across the border of the country and spread throughout the world. It has several dimensions like cultural, political, social and economical. Globalization has been taking a place for centuries but never before in history such massive flows and transmission happened as in the 19th and 20th centuries. Any type of transaction between the countries in the past was generally restricted-firstly, due to the geographical and ecological constrains and lack of communication channels (satellites, Internet etc) and secondly, because of active resistance to interaction with the others. New technologies of communication and transport have changed the whole concept of globalization. These technologies allow frequent and multi-directional flows of people, ideas and cultural symbols and brought people of the world closer.

Music is an important, significant and profound force of developing understanding between the cultures around the world. Indian classical music is not out of these global strains. In Indian classical music, several changes have taken a place throughout its history. The exchange of aesthetic ideas, philosophy of sound, melodies etc occurred in the past. When Indian culture traveled in the 2nd – 4th century A.D., it was influenced by Irani and Arabic music and on the other hand it gave nuances of tonal system to these cultures. The performing art tradition of Ramayan and forms of orchestration (mentioned in Natyashashtra as Katupa) are still popular in Indonesia, Java, Sumatra and Bali. The present North-Indian Hindustani Music is the outcome of the blending of Arabic and Persian Music. In the period of British colonial, Western musicians had turned to Indian art music tradition for musical models, aesthetic ideas and plain melodic and rhythmic inspiration in India. Indian musicians had also studied popular music of the West to draw sounds, composition, techniques, instrumental skill and aesthetic possibilities from them.

Among many influences the Notation-System in Indian music is also one of the western influences. Western scholar Gerry Farrell says- "When Western scholars and musicians tried to deal with Indian music,

Research Scholar, Dept. of Vocal Music, Faculty of Performing Arts, Banaras Hindu University

Scanned with OKEN Scanner

musical system so different from their own; they had to bring the materials of the music into a form of representation that would be

coherent and understood within the theory and procedures of Western music. This is one of the main reasons why Indian Music, and other non Western music did not occupy a central place in the work of early orientalists – they faced the problem of representation." Western scholars believed in the transcribing of compositions so they looked Indian Classical music inferior to their music. In this circumstances the works of nineteenth century musicologists such as Sourindra Mohan Tagore and A.M Chinnaswami Mudaliyar are striking examples of the equivocal Indian intellectual reaction to western music and in particular the issues of staff notation and harmonization. S.M Tagore was largely responsible for modernizing the teaching of music and raising its status among the Westerners. He did this by publishing many books on music, both his own and those of others. He also introduced the new type of syllable notation designed by Kshetro Mohan Goswami, first based on a European model. Bringing in a written notation system for Indian music and the question of what notation to use were hotly debated topics among Calcutta, Bombay and Baroda musicians of these days. Yet it was the various types of Indian solfege (saragam) notation, developed in Calcutta and Baroda. In Maharashtra Vishnu Narayan Bhatkhande and Vishnu Digamber Palushkar also developed new types of notation which are used today all over North India. With the emergence of Notation system, India music world divided into two parts: the world of the traditional performer which was based upon the guru-shishya way of learning and the reform and institutionalization of music education in India.

In the present scenario where people are getting connected globally with each other, it is necessary to exchange the musical ideas with the different culture so that musicians can expand their work area. Notation of Indian music is also one device for us by which we can develop the understanding of Indian music throughout the world. By notation of various Ragas and compositions one can understand Indian music in better way. Today where people live with stressful life it is difficult to spend 10 to 14 years for learning music. If one have notation of any composition, he can learn it either in India or in U.S. Notation can help to learn music through internet or in institutions. It can also help one who wants to research in different musical system. However, Indian music has various notation systems but they are not satisfying our musical temperaments. Due to this reason, in India, notation system could not get respect or recognition up to today. But in the globalization of Indian Classical music we can never ignore the aspect of writing notation. Notation of music plays a very important role to interact with the other music culture. We need to develop a new way of notation which can transcribe the nuances of composition or ragas. In the new world of technology it is also important to develop new software for the notation so that one can easily publish the book based on compositions because everyone has to face the problem of typing the notation. In history of Indian music many ragas and compositions are unrevealed due to the lack of notation. So Notation can help to

Scanned with OKEN Scanner

reform an old and rare collection. It also helps to preserve the great and rare collections of the compositions and fulfill the requirements in the field of research.

Hence it is the responsibility of every musician, music teacher, student and research scholar to concentrate towards the very important part of writing the notation so that Indian classical music can be understand by other music lovers and fulfill their curiosity abut it . Doubtless, much remains to be discovered and other histories of Indian music are waiting to be written.

References:

1. Globalization, Diaspora and the Cultural Landscape- The case of Bharatnatyam in the Diaspora by Radhika P. and Sadananda Sahoo in Nartanam Published by Kuchipudi Kala Kendra, Mumbai Volume-iv, Jan – March 2004
2. Paper presented by Joep Bor in the seminar on Indian Music and the West Published by Sangeet Research Academy.
3. Paper by Gerry Farrell on Indian Music and the West: An Historical Perspective in the seminar on Indian Music and the West Published by Sangeet Research Academy.

Scanned with OKEN Scanner

Music in Each Atom

Ami Modi

The nearest approach to God is through music. The Lord Shiva is supposed to have been the creator of the threefold art form viz. Music, dance and drama. In Sanskrit, this is termed as 'sangeet'. Mythology tells us that, Lord Shiva performed the 'tandav nritya ' or the cosmic dance to destroy the evil in the universe, with a 'damaru' in his hand, which gave birth to rhythm. Music is defined in the Sanskrit treatises as a combination of arts of singing, drumming and dancing though vocal aspect became predominant in the human society.

The English word 'music' is a derivative from French word 'muse'. Indian music is older than 'vedas'. The Indian music has invariably been associated with the 'shakti'- the divine power and 'bhakti'- devotion. It can be said to be the language of man's deeper soul. It is different from the speech sound of the speaking language.

Music is the copy of the will itself. that's why the effect of music is more powerful and penetrating than the other arts, because it effects our feelings directly and not through the medium of ideas. What words are to a language, swaras are to music, mudras to dancing. So, Indian classical music, which includes vocal and instrumental music and also dancing, can undoubtedly retain its individuality and appeal without words. It's a fact that without the help of vowels, consonants are inactive and lifeless. It is also found that until we add vowels to consonants, consonants remain inactive and motionless and cannot create aesthetic sentiments and moods in sentences as well as music.

It is said that seven notes were constituted in view of 7 colours of the 'rainbow'. If a scientific research is made in this regard, the shades in between the colours of the rainbow may perhaps prove to be mirror of those of the shades of the swaras.

Music is capable of representing emotional strength or intensity. A powerful passion is shadowed by the energetic elements of tone – emphasis, rapidity, range of interval and duration. The power of music is derived from expression, or reflex of the human emotions. Music is not imitative, it doesn't refer us to the visible world, but it imitates the tones of human voice, which are the most flexible and expressive signs of human feelings.

THE WONDERFUL POWER OF MUSIC :

1. Siraj-Ud-Dowlah used to hold concerts in jungles for the benefits of the animals, and when the 'Todi' raga was played, it attracted

Lecturer, Faculty Of Performing Arts, M.S. University Of Baroda.

Scanned with OKEN Scanner

the deer who would come nearer and nearer listening to the strains with pleasure.

2. 'tansen', the court musician, the last and greatest musician that India had produced, had such an extraordinary power over his music that by way of boasting he began singing one of the night tunes at noon, he sang with such effect that, so far as his glorious voice could reach, the world became enveloped in darkness.
3. Modern science and technology has searched the amazing inherent curative and healing properties of certain ragas in the effective treatments of diseases, as also their overall impact on the growth of agricultural production, milk cows, snake charming, and so on.

MUSIC - THE VAST SUBJECT :

The study of music covers a wide range of subjects pertaining to arts and science, viz.

1. PHYSICS: for the study of the sound and acoustics.
2. PHYSIOLOGY: for the functioning of the throat for vocalists and fingers for the instrument players.
3. FINE ARTS AND PAINTING: for developing aesthetic sense and appreciating the images and pictures of raga.
4. MATHEMATICS: for rhythmic movements.
5. PSYCHOLOGY: for understanding the various moods of the ragas and the audience.
6. SANSKRIT AND HISTORY: for historical and cultural background.
7. LITERATURE: for understanding the meaning of the words.
8. PHILOSOPHY: for the realisation of the ultimate goal of music. The rhythm and tempo are the inherent categories of the cosmic energy or nature. The world of appearance came into being in the form of rhythm. That rhythm was continuous and eternal and the Sun, the Moon and the stars and all other satellites of the solar system also observe the rhythmic movement. In fact, time and space, that is, rhythm and tempo form the matrix of the appearance of the universe, and they control and conduct the things and materials of the globe.

Everything happens in this world, with a motive behind. There is no aimless marching, or an accidental happening anywhere in this vast world. Culture of the music, in the same way, has an object, which must be directed towards the good and welfare of the human society at large. Men of all the ages, consider music, as the greatest medium of artistic expression which is not found in the same way in the other arts. And so, music has been called the 'global language' that speaks not only the ears of living beings, but also to their hearts with an immediate emotional and spiritual appeal.

There is music and rhythm in the eternal throbbing of the universe, which the ancient sages realised as the 'naad-brahma'. All these references should be adequate to convince that, music has its life force, besides its charms and effect, not only on the heavenly deities, but also on human beings, plants and animals.

The Indian authors of music are of opinion that music of all nations of the

Scanned with OKEN Scanner

world has its root in a supreme sound-'shabda-brahma'. As the human beings live in the society of mutual understanding of ideas and actions, they must possess some vehicle or medium that can express and exchange views and ideas among the people. Music serves as that medium, because it is a universal language.

Music can be said to be the sweet and soothing sounds that vibrate and create an aesthetic feelings and beauty that overcome the feelings and beauty of the nature. so, music is recognised as the greatest and finest art that brings permanent peace and love to the human world.

Musicians and music-lovers will have to take up music in the spirit of 'work-worship' without losing sight of the widely accepted motto of 'satyam-shivam-sundaram' means-"truth lies in grace and beauty". Music should now march through a new course and take a new drive, adopting itself to the taste and temperament of the present changing dynamic society. It has always been the guiding star and the unifying force, within the each atom.

Scanned with OKEN Scanner

Thai Lamnam Singing

Miss.Naphatsanan Junnaket

Thai music has been traditionally valued for Thai ways of life for a long time. This affects to lives of Thai musicians. This music has been unique to science and art. Science is the knowledge and wisdom and art helps lull people. That is why we should preserve and instill in Thai music for our next generations.

Long time ago, human beings had a spoken language and it was improved to be beautiful singing, especially Thai songs and singing. Singing makes people have fun and it is one way of Thai traditional preservation.

Originally, showing the respect to the holy things was a normal speech. Later, people composed various kinds of singing such as poem, poetical writings, verse, metrical composition, and etc. When people knew how to pronounce tones to make them beautiful, Lamnam singing is improved to sing in the religious ceremonies, or for entertainments in many activities of people. Even during the recreation, people sang and played. Later, it began a local play. Besides, Lamnam singing was used to tell different stories and became the original Sepa singing that made famous composers. Sepa singing was developed in many singings like one-beat song, two-beat song, and three beat song. At first, the songs were not the same. The singers had songs that were different from music. Later, singing and music were mixed because both singers and musicians had various knowledge of music. The singers mixed beautiful melody with lyrics, and created modes of chanting.

Techniques and the beauty of singing in portamento style are very popular now, not only in western classic chorus bands, rocks, folks, country and etc. For Thai music, singing, Thai music performance has been ignored and falsified for a long time. At present, most Thai musicians think that Thai song singing is not important. Playing the instruments is enough as we can see in many festivals.

Thai singing is originated from the holy beliefs. Firstly, simple words were used. Later, they were modified by using verse as in poem, poetical writings, verse, metrical composition and so on with high, low, short or long tone. At the end, they were improved and became Lamnam singing that was used to pay respect to the Gods and for entertainments in activities related to the ways of life. Since human beings love music, it was used as a part of activities, even during the recreation time. Lamnam singing can be

Res.Scholar, Dept.of Vocal, FPA, BHU

Scanned with OKEN Scanner

used to tell stories happening in the past and novels that were not noted with any written language. It was called "Mukpata or Mukbata". For the long tale, tellers used techniques and descriptive styles in order not to make the audience tiresome. However, the singers feel tired, so they find how to make themselves relax. They play claves or musical instruments while singing. Later, it was called Khab Sepa in Thai.

Khab Sepa made poets popular. The exquisite ways for singing Khab Sepa were improved so that they became different singing styles such as thirst speed, second speed and first speed. Originally, the songs for playing instruments and the songs for singing were not the same. The singers had their own songs, and the musicians had theirs. Later, singing and playing instruments went together. Both singers and musicians created more beautiful melody and lyrics, and the musicians remembered and mixed them. Nowadays, the singers sing while the musicians play instruments.

It is assumed that Thai singing was originated in the Sukhothai period(1257-1357 BC). Some evidences were found from the stone inscription and other literature (Sukhothai Thammathirat Open University: 1990,8) Some evidence were found in the book called "Tripoomipraruang"[1]. Another stone inscription of Wat Pra Yuen in Lampang province is the evidence showing that Khab Sepa was famous during the Sukhothai period.

The Ayutthaya period (1350-1767 BC) was the golden age of culture because Thai people had relationship with other countries like Burma, and Khom. There were many plays such as Dogsoi, Saggawa, Khon, Lakorn, Nang Yai that included singing. The evidence shown in the book called Jindamanee[2] shows that there were 137 songs in the region of King Narai the Great. One song was assumed that it was composed by Phraya Phraklang Hon(Hon) during the region of King RamaI.

Besides, there were a lot of two-beat songs, the songs during the Ayutthaya period were divided into 2 groups: Pleng Khab such as songs sung in the wooden bands shown in the Law of Administration of the Royal household No. 146 concerning with daily routines of the King.

The music has been improved the most in the Rattanakosin period (1782-1799 BC). Pipat Sepa bands were founded in the region of King Rama II until King Rama IV. The standard forms were set in Pipat Sepa performance ranking as follows: Rua Pralong Sepa, Homerong Sepa, Phrama Haa Thon, Jakhe Hang Yao, See Bot and Bulan. Besides this, there were a lot of Pleng Taos with three beats that were adapted from two-beat songs of Ayutthaya period. In the reign of King Rama V, the plays were adapted into a new kind of play called Lakorn Duedamban. The singing was taken into the performance. The singers were both men and women who played and sang at the same time. Most songs were called two-beat songs such as Pleng Padcha, Pleng phyasok , and Pleng Phya Seesao. They were not too slow or fast, so the performers could dance and sing beautifully. The one-beat songs were fast, so they were sung to show fun, excitement and anger like Pleng Neesua, Pleng Nakkarat, and Pleng Linglod. The songs were used according

Scanned with OKEN Scanner

to the emotion of the players: sad, angry, or happy.

At present, Thai music and song has been changed because new cultures, scientific progress, and foreign influences have an important role to determine the possibility of Thai society. The role of Thai music and songs are not only limited, but also improved and changed.

References:

1 The first Buddhist didactic literary work was written by King Li Thai of Sukhothai. This literary work had provided the main driving force in Thai cultural development since 1339. It evidenced numerous names of Thai instrument.

2 The Thai lesson was written by Phrahorathipbodi in the Ayutthaya period. It context concerned aspects of language.

Scanned with OKEN Scanner

सम्पादक
भैरवी (संगीत शोध-पत्रिका)
दरभंगा

प्रिय महोदय,

भैरवी के एक वर्ष (1 अंक) ..... तीन वर्ष (3 अंक) ...../-रुपए / पाँच वर्ष (5 अंक) ...../-रुपए का चैक/ड्राफ्ट संलग्न कर रहा हूँ। कृपया मुझे वार्षिक/तीन वर्ष के लिए/पाँच वर्ष के लिए ग्राहक बना लें और मेरी प्रति निम्नलिखित पते पर भिजवाएँ।

(हाँ, अगर आप दिल्ली के बाहर का चेक हमें भेज रहे हैं तो कृपया बैंक कमीशन के 40/- रुपए उसमें अतिरिक्त जोड़ दें यानी चेक हमें 240/- रुपए का भेजें।)

नाम .....
पता .....
.....
.....
.....
टेलीफ़ोन नं. .....

यहाँ से काटिए

चेक/ड्राफ्ट **भैरवी (संगीत शोध-पत्रिका)**, **दरभंगा** के नाम पर ही बनाएँ और निम्नलिखित पते पर हमें भेजने की कृपा करें :

प्रधान सम्पादक
डॉ. पुष्पम नारायण

प्रकाशक : मिथिलांचल संगीत परिषद्
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वर नगर, दरभंगा 846 004
दूरभाष - 06272 248340
मो0 - 09430063265
ईमेल - npushpamji@gmail.com

अंक आप भैरवी (संगीत शोध-पत्रिका) के नाम मनीऑर्डर भेजकर भी मंगा सकते हैं या फिर, वी.पी.पी. से।

अंक आप नेशनल स्कूल ऑफ़ ड्रामा के नाम मनीऑर्डर भेजकर भी मंगा सकते हैं या फिर, वी.पी.पी. से।

विदेश में :
हवाई डाक : एक प्रति 10 अमेरिकी डॉलर / ब्रिटिश पाउंड
समुद्री डाक : एक प्रति 5 डॉलर / 3 पाउंड

Scanned with OKEN Scanner

पंजाब नैशनल बैंक

निगम के सामाजिक दायित्व (CSR)

के अंतर्गत कला को प्रोत्साहन

प्रदान करने हेतु

निरंतर प्रगति-पथ पर अग्रसर ।

For

मंडल प्रमुख

दरभंगा

Scanned with OKEN Scanner